वेदान्त-धर्म

वेदान्त ही ज्ञान और शक्ति की राशि है

यह विषय बहुत बड़ा है, लेकिन इसके लिये समय बहुत थोड़ा है। एक भाषण में हिन्दू धर्म की पूरी व्याख्या करना असम्भव है। इसलिये मैं आप लोगों से अपने धर्म के मूल तत्वों को जितनी सरल भाषा में कह सकता हूँ, बतलाऊँगा। जिस 'हिन्दू' नाम से परिचय देने की प्रथा चल पड़ी है, उसकी इस समय कोई सार्थकता नहीं रह गई है, क्योंकि इस शब्द का अर्थ है, जो लोग सिन्धु नदी के पार रहते हैं। प्राचीन पारसी लोगों के उच्चारण भिन्नता से यह सिन्धु शब्द हिन्दू रूप में परिणत हो गया है। वे लोग सिन्धु नद के उस पार के रहने वाले सभी लोगों को हिन्दू कहा करते थे। इस प्रकार 'हिन्दू' शब्द हम लोगों के पास आया है। मुसलमानी राज्य आरम्भ होने पर हम लोगों ने इस शब्द को अपने ऊपर प्रयोग करना आरंभ किया। मैं यह नहीं कहता कि इस शब्द का व्यवहार करने से कोई हानि है, लेकिन मैं पहले ही कह चुका हूँ कि इस शब्द की अब सार्थकता नहीं रह गई है। क्योंकि आप सभी लोग जानते हैं कि वर्तमान काल में सिन्धु नद के इस पार के रहने वाले प्राचीन काल की तरह एक धर्म को नहीं मानते। इसलिये

हिन्दू

इस शब्द से केवल हिन्दू मात्र का बोध नहीं होता, वरन् मुसलमान, इसाई, जैन तथा भारतवर्ष के अन्यान्य मतावलम्बियों का भी बोध होता है। इसलिये मैं हिन्दू शब्द का व्यवहार नहीं करूगा। तब प्रश्न यह उठता है कि किस शब्द का व्यवहार किया जाय। हम लोग वैदिक (अर्थात् जो लोग वेद मत के मानने वाले हैं) शब्द का व्यवहार कर सकते हैं अथवा वेदान्तिक शब्द का व्यवहार करने से और भी अच्छा होगा। जगत के प्रधान प्रधान धर्म वाले ग्रंथ विशेष को प्रामाणिक मानते हैं। उन लोगों का ऐसा विश्वास है कि ये ग्रंथ ईश्वर अथवा दूसरे किसी अतिप्राकृत पुरुषों के वाक्य हैं, इसलिये ये ग्रंथ उनके धर्म की भित्ति हैं। प्राश्चात्य देश के विद्वानों का मत है कि इन सम्पूर्ण ग्रंथों में हिन्दू लोगों का वेद ही सब से प्राचीन है। इसलिये वेद के सम्बंध में कुछ कुछ ज्ञान रखना आवश्यक है।

वेद नामक शब्द समूह किसी पुरुष के मुँह से निकला नहीं है। उसका सन् तारीख अब तक भी निश्चित नहीं हुआ और न कभी निश्चित हो सकता है। हम लोगों की तरह वेद अनादि अनंत हैं। एक खास बात आप लोगों को याद रखने की यह है कि संसार के अन्यान्य मतावलम्बी ईश्वर नामक व्यक्ति अथवा ईश्वर के दूत या उसके भेजे हुए की वाणी बतला कर अपने धर्मशास्त्रों की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं, लेकिन हिन्दू लोग कहते हैं कि वेद के लिये दूसरा कोई प्रमाण नहीं, वेद स्वत प्रमाण हैं। क्योंकि, वेद अनादि अनन्त हैं,

वेद

वह ईश्वर की ज्ञानराशि हैं। वेद कभी लिखे नहीं गये, वह कभी रचे नहीं गये, अनन्त काल से वह मौजूद हैं। जिस प्रकार सृष्टि अनादि अनत है, उसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान भी अनादि अनन्त है। वेद शब्द का अर्थ ही है, ईश्वरीय ज्ञान (विद् धातु का अर्थ है जानना)। वेदान्त नामक ज्ञानराशि ऋषि नामधारी पुरुषों द्वारा आविष्कृत है। ऋषि शब्द का अर्थ है मंत्रद्रष्टा। ऋषियों ने पहले ही से विद्यमान ज्ञान को केवल प्रत्यक्ष भर किया है, यह ज्ञान और भाव उनके निजी चिन्तन का परिणाम नहीं है। जब आप लोग यह सुनें कि वेद के अमुक अश के अमुक ऋषि हैं, तब यह ख्याल न करें कि उन्होंने उसे लिखा है या अपने मन से उसे उत्पन्न किया है। वह पहले ही से अवस्थित भावों के केवल द्रष्टा मात्र हैं। यह भाव अनन्त काल से मौजूद था, ऋषियो ने केवल आविष्कार भर किया। ऋषि लोग आध्यात्मिक आविष्कर्ता हैं।

ऋषि

वेद नामक ग्रथ दो भागों में बँटे हैं—कर्मकाड और ज्ञान-काड। कर्मकाड मे नाना प्रकार के याग यज्ञों का वर्णन लिखा हुआ है। उनमें का अधिकाश वर्तमान काल के लिये अनुपयोगी जान कर छोड दिया गया है। और कुछ अब भी किसी न किसी रूप में वर्तमान है। कर्मकाड के प्रधान प्रधान विषय, जैसे साधारण मनुष्यों के कर्तव्य—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और सन्यासी इन सभी विभिन्न आश्रम वालो के

वेद के दो भाग कर्मकाड ज्ञानकाड

इस शब्द से केवल हिन्दू मात्र का बोध नहीं होता, वरन् मुसलमान, इसाई, जैन तथा भारतवर्ष के अन्यान्य मतावलम्बियों का भी बोध होता है। इसलिये मैं हिन्दू शब्द का व्यवहार नहीं करूगा। तब प्रश्न यह उठता है कि किस शब्द का व्यवहार किया जाय। हम लोग वैदिक (अर्थात जो लोग वेद मत के मानने वाले हैं) शब्द का व्यवहार कर सकते हैं अथवा वेदान्तिक शब्द का व्यवहार करने से और भी अच्छा होगा। जगत के प्रधान प्रधान धर्म वाले ग्रंथ विशेष को प्रामाणिक मानते हैं। उन लोगों का ऐसा विश्वास है कि ये ग्रंथ ईश्वर अथवा दूसरे किसी अति-प्राकृत पुरुषों के वाक्य हैं, इसलिये ये ग्रंथ उनके धर्म की भित्ति हैं। पाश्चात्य देश के विद्वानों का मत है कि इन सम्पूर्ण ग्रंथों में हिन्दू लोगों का वेद ही सब से प्राचीन है। इसलिये वेद के सम्बंध में कुछ कुछ ज्ञान रखना आवश्यक है।

वेद नामक शब्द समूह किसी पुरुष के मुँह से निकला नहीं है। उसका सन् तारीख अब तक भी निश्चित नहीं हुआ और न कभी निश्चित हो सकता है। हम लोगों की तरह वेद अनादि अनत हैं। एक खास बात आप लोगों को याद रखने की यह है कि संसार के अन्यान्य मतावलम्बी ईश्वर नामक व्यक्ति अथवा ईश्वर के दूत या उसके भेजे हुए पुरुष की वाणी बतला कर अपने धर्मशास्त्रों की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं, लेकिन हिन्दू लोग कहते हैं कि वेद के लिये दूसरा कोई प्रमाण नहीं, वेद स्वतः प्रमाण है। क्योंकि, वेद अनादि अनन्त हैं,

वेद

वह ईश्वर की ज्ञानराशि हैं। वेद कभी लिखे नहीं गये, वह कभी रचे नहीं गये, अनन्त काल से वह मौजूद हैं। जिस प्रकार सृष्टि अनादि अनत है, उसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान भी अनादि अनन्त है। वेद शब्द का अर्थ ही है, ईश्वरीय ज्ञान (विद् धातु का अर्थ है जानना)। वेदान्त नामक ज्ञानराशि ऋषि नामधारी पुरुषों द्वारा आविष्कृत है। ऋषि शब्द का अर्थ है मंत्रद्रष्टा।

ऋषि

ऋषियों ने पहले ही से विद्यमान ज्ञान को केवल प्रत्यक्ष भर किया है, यह ज्ञान और भाव उनके निजी चिन्तन का परिणाम नहीं है। जब आप लोग यह सुनें कि वेद के अमुक अश के अमुक ऋषि हैं, तब यह ख्याल न करें कि उन्होंने उसे लिखा है या अपने मन से उसे उत्पन्न किया है। वह पहले ही से अवस्थित भावों के केवल द्रष्टा मात्र हैं। यह भाव अनन्त काल से मौजूद था, ऋषियों ने केवल आविष्कार भर किया। ऋषि लोग आध्यात्मिक आविष्कर्ता हैं।

वेद के दो भाग कर्मकाड ज्ञानकाड

वेद नामक ग्रथ दो भागो में बँटे हैं—कर्मकाड और ज्ञान-काड। कर्मकाड में नाना प्रकार के याग यज्ञों का वर्णन लिखा हुआ है। उनमें का अधिकाश वर्तमान काल के लिये अनुपयोगी जान कर छोड दिया गया है। और कुछ अब भी किसी न किसी रूप में वर्तमान है। कर्मकाड के प्रधान प्रधान विषय, जैसे साधारण मनुष्यों के कर्तव्य—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और सन्यासी इन सभी विभिन्न आश्रम वालों के

विभिन्न कर्तव्य अब तक भी थोडी बहुत मात्रा में अनुसरण किये जाते हैं। दूसरा भाग ज्ञानकाड—हम लोगों के धर्म का आध्यात्मिक अश है। इसका नाम वेदान्त अथवा वेद का अन्तिम भाग, वेद का चरमलक्ष्य है। वेद-ज्ञान के इस सार भाग का नाम वेदान्त अथवा उपनिषद है। भारत के सभी सम्प्रदाय वाले चाहे वह द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, अद्वैतवादी अथवा शाक्त, गाणपत्य, शैव, वैष्णव जो कोई भी हिन्दू धर्म के अन्दर रहना चाहे उसी को वेद के इस उपनिषद भाग को मान कर चलना होगा। वे उपनिषदों का अर्थ अपनी अपनी रुचि के अनुसार भले ही करें, परन्तु उन्हें उपनिषदों की प्रामाणिकता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। इसी कारण से मैं हिन्दू शब्द के बदले वेदान्तिक शब्द का व्यवहार करना चाहता हूँ। भारत के सभी प्राचीन दार्शनिक वेदान्त की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं—और आजकल भारत में हिन्दू धर्म की जो शाखा प्रशाखायें फैली हैं, वे एक दूस" से भिन्न भले ही जान पड़ें, उनके उद्देश्य कितने ही जटिल क्यों न जान पड़े, जो अच्छी तरह उनकी आलोचना करेंगे, वे समझ सकेंगे कि उपनिषदों से ही उनके भाव ग्रहण किये गये हैं। इन सब उपनिषदों के भाव हम लोगों की जाति के नस नस में इतना भर गए हैं कि जो हिन्दू धर्म के बिल्कुल शुद्ध शाखा-विशेष के रूप की आलोचना करेंगे, वे समय समय पर देखकर आश्चर्यचकित होंगे कि उपनिषदों में रूपक भाव से वर्णन किये गये तत्वों ने उस रूपक के दृष्टान्त-वस्तु में परिणत होकर उन धर्मों का स्थान

ग्रहण कर लिया है। उपनिषदों के बडे बडे आध्यात्मिक और दार्शनिक रूप आजकल स्थूल रूप में परिणत होकर हम लोगों के घरों में पूजा की वस्तु हो गये हैं। इसलिये हम लोगों के जितने प्रकार के पूजा के यंत्र प्रतिमादि हैं, वे सभी वेदान्त से लिये गये हैं, क्योंकि वेदान्त में यह रूपक के तौर पर व्यवहार में लाये गये हैं। क्रमश वे भाव जाति के मर्म्मस्थल में प्रवेश करके अन्त में प्रतिमा आदि के रूप में दैनिक जीवन के अंग हो गये हैं।

वेदान्त के वाद स्मृतियाँ प्रामाणिक मानी जाती हैं। ये ऋषियों की रची हुई हैं, किन्तु ये वेदान्त के अधीन हैं। क्योंकि अन्यान्य धर्मावलम्बियों के लिये जिस प्रकार उनके शास्त्र हैं, वैसे ही हम लोगों के लिये स्मृतियाँ हैं। हम लोग इसे स्वीकार करते हैं कि विशेष विशेष ऋषियों ने इन स्मृतियों को बनाया है। इस दृष्टि से अन्यान्य धर्म के शास्त्रों की जैसी प्रामाणिकता है, वैसी ही स्मृतियों की भी प्रामाणिकता है। तोभी स्मृतियाँ ही हम लोगों के लिये बिल्कुल प्रामाणिक नहीं हैं। स्मृति का कोई अंश यदि वेदान्त का विरोधी होता है, तो वह त्याज्य समझा जाता है, उसकी कोई प्रामाणिकता नहीं रहती। ये स्मृतियाँ युग युग में भिन्न भिन्न होती हैं। हम लोग शास्त्रों में पढते हैं—सत्ययुग के लिये ये स्मृतियाँ प्रामाणिक थीं, त्रेता, द्वापर और कलि के लिये दो स्मृतियाँ प्रामाणिक हैं। देश काल पात्र के परिवर्तन के अनुसार आचार आदि भी बदलते

स्मृतिया युग युग में भिन्न भिन्न होती हैं

रहते हैं और स्मृतियाँ मुख्य करके इस आचार की नियामक हैं इसके कारण समय समय पर उनमें भी परिवर्तन करना पड़ा है। मैं आप लोगों को यह बात ज़ोर देकर याद रखने के लिये कह रहा हूँ। वेदान्त में धर्म के मूल तत्वों की जो व्याख्या की गई है, वह अपरिवर्तनीय है। इसका कारण यह है कि मनुष्य और प्रकृति में जो अपरिवर्तनीय तत्व समूह हैं, उन पर प्रतिष्ठित हैं। इनमें कभी परिवर्तन नहीं हो सकता। हजारों वर्ष पहले इन तत्वों के सम्बंध मे जो धारणा थी, अब भी वे ही हैं, लाखों वर्षों के बाद भी वही धारणा रहेगी। लेकिन जो धार्मिक विधान हम लोगों की सामाजिक अवस्था और सम्बंध के ऊपर निर्भर करते हैं, समाज के परिवर्तन के साथ ही वे भी बदल जाते हैं। किसी ख़ास समय के लिये जो विधि उपयुक्त है, वह दूसरे समय के लिये ठीक नहीं हो सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी समय में किसी भोजन का विधान है, दूसरे समय के लिये वह निषिद्ध है। वह खाद्य पदार्थ उस समय-विशेष के लिये लाभ-प्रद था, लेकिन ऋतु परिवर्तन तथा अन्यान्य कारणों से दूसरे समय के लिये वह अनुपयोगी सिद्ध हुआ, इसलिये स्मृतिकारों ने उन्हें व्यवहार में लाने से मना किया है। इस कारण से स्वभावत. यह जान पड़ता है कि वर्तमान काल में हमारे समाज में कौन परिवर्तन आवश्यक है, उसे करना पड़ेगा। ऋषि लोग आकर किस प्रकार, उन परिवर्तनों को करना होगा, यह बतला देंगे। हमारे धर्म के मूल सत्य ज़रा भी न बदलेंगे, वह ज्यों के त्यों रहेंगे।

इसके बाद पुराणों का नम्बर आता है। पुराणों के पाँच लक्षण हैं। उनमे इतिहास, सृष्टि तत्व, दार्शनिक तत्व सभी

पुराण

विषय रूपकों के द्वारा वर्णन किये गये हैं। सर्वसाधारण मे वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिये पुराण लिखे गये। वेद जिस भाषा में लिखे गये हैं, वह अत्यन्त प्राचीन है। विद्वानों में भी थोड़े ही लोग ऐस हैं जो इन ग्रथों का समय निरूपण करने में समर्थ हो सकें। पुराण जिस समय के लोगो की भाषा मे लिखे गये, उसे आधुनिक सस्कृत कहते हैं। ये विद्वानों क लिये नहीं है, साधारण जनता के लिये है क्योंकि सर्वसाधारण दार्शनिक तत्वो को नहीं समझ सकता। उन्हें इन तत्वों को समझाने के लिये स्थूल भाव से साधु राजा और महापुरुषों के जीवन चरित तथा उन जातियों में जो घटनायें घटित हुई थीं, उनके द्वारा शिक्षा दो गई है। ऋषियों ने जो भी विषय पाया है, उसे ही ग्रहण किया है। परन्तु उनमें से हर एक, धर्म के नित्य सत्य के समझाने के लिये ही व्यवहृत हुआ है।

तन्त्र

इसके बाद तन्त्र हैं। इनक अधिकाश विषय पुराणों क से हैं। और उनमे से बहुत से कर्मकाड के अन्तर्गत प्राचीन यज्ञा को पुन प्रचलित करने के लिये लिखे गये हैं।

ये ही ग्रन्थ हिन्दुओं के शास्त्र कहलाते हैं। जिस जाति में इतनी अधिक सख्या में धर्मशास्त्र विद्यमान हैं, और जो जाति

असंख्य वर्षों से दर्शन और धर्म के चिन्तन में अपनी शक्ति लगाती आ रही है उस जाति में इतने अधिक सम्प्रदायों का अभ्युदय विल्कुल स्वाभाविक है। और भी ज्यादा सम्प्रदायों की उत्पत्ति क्यों न हुई यही आश्चर्य की बात है। किन्हीं किन्हीं विषयों में इन सम्प्रदायों मे विल्कुल विभिन्नता है। इन सभी सम्प्रदायों के उन विभिन्नताओं को समझाने के लिये हमारे पास समय नहीं है। इसलिय जिस मत में जिन तत्वों में हिन्दू मात्र का विश्वास रखना आवश्यक है, उन साधारण तत्वों के सम्बन्ध में हम आलोचना करेंगे।

सृष्टितत्व

पहले सृष्टि तत्व को लीजिये। हिन्दुओं के सभी सम्प्रदाय वालों का ऐसा विश्वास है कि यह सृष्टि, यह प्रकृति, यह माया अनादि अनन्त है। यह संसार किसी विशेष दिन को नहीं रचा गया। एक ईश्वर ने आकर इस जगत की सृष्टि की, इसके बाद वह सो रहे हैं, यह कभी नहीं हो सकता। सृष्टिकारिणी शक्ति अब भी विद्यमान है। ईश्वर अनन्त काल से लेकर सृष्टि करते आ रहे हैं, वह कभी विश्राम नहीं लेते। गीता में श्री कृष्ण भगवान ने कहा है —

> यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रित ।
>
> × × × × × उत्सन्ना मिमा प्रजा ॥ ३ । २३, २४

अगर मैं क्षण भर भी कर्म न करूँ तो सृष्टि का लय हो जाय। संसार में जो सृष्टि-शक्ति दिन रात काम ...

अगर क्षण भर के लिये भी बन्द हो जाय तो यह संसार ध्वंस हो जायगा। ऐसा कोई समय ही नहीं था जिस समय सम्पूर्ण जगत में यह शक्ति क्रियाशील न थी, तो भी युग विशेष में प्रलय होता है। हम लोगों का सृष्टि शब्द अंगरेज़ी का Creation नहीं है। Creation कहने से अगरेजी में कुछ नहीं से कुछ का होना, असत् से सत् का उद्भव, यह अपरिपक्व मतवाद समझा जाता है। मैं इस प्रकार की असगत बात में विश्वास करने के कारण आप लोगों की बुद्धि और विचारशक्ति का अपमान करना नहीं चाहता। सभी प्रकृति ही विद्यमान रहती है, केवल प्रलय के समय वह क्रमश सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाती है, अन्त में एक बारगी अव्यक्त भाव धारण कर लेती है। फिर कुछ काल मानो विश्राम लेने पर कोई उसे बाहर करता है, उस समय फिर पहले ही की तरह समवाय, पहले ही की तरह क्रम विकास, पहले ही की तरह प्रकाश होने लगता है। कुछ समय तक यह खेल जारी रहता है, फिर वह खेल बन्द हो जाता है—क्रमश सूक्ष्मात् सूक्ष्म होने लगता है, अन्त में सम्पूर्ण। फिर लीन हो जाता है। फिर बाहर आता है। अनन्त काल से लेकर इस प्रकार लहरों की तरह एक बार सामने, फिर पीछे की ओर जाता है। देश-काल और अन्यान्य दूसरी वस्तुयें इसी प्रकृति के अन्तर्गत हैं। इसी कारण से ही सृष्टि होती है, ऐसा कहना पागलपन है। सृष्टि के आरंभ और अन्त होने के सम्बध में कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। इसी कारण हम लोगों के शास्त्रों में सृष्टि के आदि

वा अन्त का उल्लेख किया गया है, उस समय किसी युग विशेष का आदि अन्त होना समझना चाहिये, उसका कोई दूसरा अर्थ नहीं।

तब प्रश्न उठता है कौन इस सृष्टि की रचना करता है? इसके उत्तर में सभी कहेंगे, ईश्वर। अंग्रेजी में साधारणत God शब्द से जो समझा जाता है, हमारा अभिप्राय उससे नहीं है। संस्कृत का ब्रह्म शब्द का व्यवहार करना ही हमारी दृष्टि में सब से ठीक होगा। वही इस जगत-प्रपंच का साधारण कारण स्वरूप है। ब्रह्म का स्वरूप क्या है? ब्रह्म नित्य, शुद्ध, नित्य जाग्रत, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ दयामय, सर्वव्यापी, निराकार अखंड है। उन्होंने ही इस जगत की सृष्टि की है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यह ब्रह्म ही जगत् का स्रष्टा और विधाता है। तो दो आपत्ति उठती हैं। इस जगत में काफी विषमता देखने में आती है, कोई धनी है, कोई गरीब है, ऐसी विषमता क्यों है? इसके साथ ही यहाँ पर निष्ठुरता भी वर्तमान है। क्योंकि यहाँ पर एक का जीवन दूसरे की मृत्यु के ऊपर निर्भर करता है। एक जीव दूसरे जीव को खंड खंड करके छोड़ देता है, प्रत्येक मनुष्य अपने भाई का गला दबाना चाहता है। यह प्रतियोगता, यह निष्ठुरता, यह उत्पात, दिनरात की उठती हुई सर्द आह—यही संसार की दशा है—अगर यही ईश्वर की सृष्टि है, तो यह ईश्वर अत्यन्त निर्दयी है। मनुष्य कितने ही निष्ठुर राक्षस की कल्पना क्यों न करे, यह ईश्वर उससे भी

निष्ठुर है। वेदान्त कहता है ईश्वर इस विषमता और प्रतियोगिता का कारण नहीं है। तो किसने इसे किया ? हम लोगों ने ही इसे किया है । बादल सभी खेतों में समान रूप से जल देते हैं, लेकिन अन्न उसी खेत में अच्छा उपजता है जो अच्छी तरह जोता रहता है, जो खेत अच्छी तरह जोता नहीं रहता है, उसे जलवृष्टि से लाभ नहीं होता। यह उस बादल का अपराध नहीं है। वह ईश्वर अत्यन्त दयावान है, हमी लोग यह विषमता फैलाते हैं। किस प्रकार हम लोगों ने इस विषमता को फैलाया है ? इस ससार में कोई सुखी पैदा होता है, कोई दुखी। उन्होंने इस विषमता को नहीं उत्पन्न किया तो किसने किया है। उनके पूर्वजन्म के कर्म द्वारा ही यह भेद—यह विषमता होगई है।

ईश्वर का वैषम्य और नैघृण्यदोष

यहाँ हम लोग इस दूसरे तत्व की आलोचना पर आते हैं—जिस पर केवल हमी लोग नहीं, बौद्ध, जैन लोग भी एकमत हैं। हम सभी लोग स्वीकार करते हैं कि सृष्टि की तरह जीवन भी अनन्त है। शून्य से जीव की उत्पति हुई है, सो बात नहीं,—ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। इस प्रकार के जीव का कोई अर्थ नहीं। जिसका आज आरम्भ है, कल उसका अन्त होगा, अन्त में उसका बिलकुल नाश हो जायगा। यह जीवन पूर्वकाल में भी विद्यमान था। आजकल का सारा विज्ञान इस विषय में हम लोगों की सहायता करता है—हम लोगों के शास्त्रों में छिपे तत्व जड जगत् के व्यापारो

कर्म फल

छिपी हुई है। इस महान तत्व को सदा स्मरण रखना होगा। प्रत्येक मनुष्य में, प्रत्येक प्राणी में—वह कितना ही दुर्बल या मूर्ख क्यों न हो, वह छोटा हो या बड़ा, वह सर्वव्यापी सर्वज्ञ आत्मा मौजूद है। आत्मा की दृष्टि से कोई भेद नहीं है, भेद केवल प्रकाश के तारतम्य में है स्वरूपत उसके साथ हम लोगों का कोई भेद नहीं है। जो हम लोगों का भाई है उसकी जो आत्मा है, वही हम लोगों की भी है। भारत ने इस महान् तत्व का संसार के सामने प्रचार किया है। अन्यान्य देशों में सम्पूर्ण मनुष्यों के भ्रातृ भाव का तत्त्व प्रचारित है, भारत में यह 'सर्वप्राणी का भ्रातृ भाव' का आकार धारण किए है। छोटा से छोटा प्राणी, यहाँ तक कि चींटी तक भी हम लोगों का भाई है, वह हमारा देह स्वरूप है। 'एन तु पंडितैर्ज्ञात्वा सर्वभूत मयं हरिम्' इत्यादि। इस रूप में विद्वान लोग उस प्रभु को सर्वभूत मय जानकर, सब प्राणियों में जानकर, सर्व प्राणिमात्र की उपासना करेंगे। इसी कारण से हिन्दुस्तान में पशु पक्षियों और दरिद्रों के प्रति इतना दया का भाव पाया जाता है, सभी बातों में यह दया भाव दिखलाई पडता है। आत्मा में सारी शक्तियाँ विद्यमान हैं, इस पर भारत के सभी सम्प्रदाय वाले एकमत हैं।

स्वभावत अब ईश्वर तत्व की आलोचना का प्रश्न खड़ा होता है। किन्तु इसके पहले आत्मा के सम्बंध में एक बात कहना चाहता हूँ। जो अंग्रेजी भाषा की चर्चा करते हैं, वे अक्सर Soul और mind इन दो शब्दों के समझने में पड़ जाते हैं

संस्कृत का आत्मा और अंग्रेजी का mind शब्द बिल्कुल भिन्न भिन्न अर्थ प्रकट करते हैं। हम लोग जिसे

आत्मा क्या है ? मन कहते हैं, पाश्चात्य देश वाले उसे Soul कहते हैं। पाश्चात्य देशों में आत्मा के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान किसी समय नहीं था। प्राय बीस वर्ष हुए, संस्कृत दर्शन शास्त्रों की सहायता से यह ज्ञान पाश्चात्य देशों मे आया है। हम लोगों का यह स्थूल शरीर है, इसके पीछे मन है। लेकिन मन आत्मा नहीं है। वह सूक्ष्म शरीर-सूक्ष्म तन्मात्र से बना है। यही जन्म जन्मान्तर में विभिन्न शरीर मे आश्रय लेता है, किन्तु इसके पीछे Soul या मनुष्य की आत्मा है। यह आत्मा शब्द Soul या mind शब्द के द्वारा अनुवादित नहीं हो सकता। इसलिये हम लोगों को संस्कृत का आत्मा शब्द अथवा आजकल के पाश्चात्य दार्शनिकों के मतानुसार Self शब्द का व्यवहार करना होगा। चाहे हम जिस शब्द का व्यवहार करें, आत्मा-मन और स्थूल शरीर दोनों से पृथक है, इस धारणा को मन के भीतर अच्छी तरह से रखना होगा। और यह आत्मा ही मन या सूक्ष्म शरीर को साथ लेकर एक देह से दूसरी देह में जाता है। जिस समय वह सर्वज्ञत्व और पूर्णत्व प्राप्त करता है, उस समय उसका जन्म मृत्यु नहीं होता। उस समय वह स्वाधीन हो जाता है। अगर वह चाहे तो मन या सूक्ष्म शरीर को साथ रख सकता है अथवा उसे त्याग करके अनन्त काल के लिये स्वाधीन और मुक्त हो सकता है। स्वाधी-

नता ही आत्मा का लक्ष्य है। यही हम लोगों के धर्म की विशेषता है हम लोगों के धर्म में भी स्वर्ग नर्क है, किन्तु वह चिरस्थायी नहीं। स्वर्ग नरक के स्वरूप का विचार करने से यह सहज ही जान पडता है कि वह चिरस्थायी नहीं हो सकते। यदि स्वर्ग नाम की कोई वस्तु है, तो वह इस मर्त्यलोक की पुनरावृत्ति मात्र होगी, थोडा सा विशेष सुख या थोडा सा अधिक भोग होगा। इससे और भी बुराई ही होगी। इस प्रकार के स्वर्ग अनेक हैं। जो लोग फल की आकांक्षा के साथ इस लोक में कोई सत्कर्म करते हैं, वह मृत्यु के बाद इस प्रकार के स्वर्ग में इन्द्रादि देवत्व होकर जन्म ग्रहण करते हैं। यह देवत्व विशेष पद मात्र है। य

स्वर्ग

देवता भी एक समय मनुष्य थे, सत्कर्मों से उन लोगों ने देवत्व प्राप्त किया है। इन्द्र, वरुण नाम के कोई देव विशेष नहीं हैं। हजारों इन्द्र होंगे। राजा नहुष ने मृत्यु के बाद इन्द्रत्व प्राप्त किया था। इन्द्रत्व पद मात्र है। किसी व्यक्ति ने सत्कर्मों के फल से उन्नत होकर इन्द्रत्व प्राप्त किया, कुछ दिन तक उस पद पर रहा, फिर उसने देवदेह को त्याग कर फिर मनुष्य जन्म ग्रहण किया। मनुष्य जन्म सर्व श्रेष्ठ जन्म है। कोई कोई देवता स्वर्ग सुख की कामना त्याग कर मुक्ति लाभ की चेष्टा करते हैं, किन्तु जिस प्रकार इस जगत के अधिकांश लोग धन मान ऐश्वर्य पाकर ईश्वर को भूल जाते हैं। उसी प्रकार अधिकांश देवता भी ऐश्वर्य के मद में मत्त होकर मुक्ति की चेष्टा नहीं करते। जब वह अपने शुभ कर्मों का फल भोग लेते

तो वह फिर पृथ्वी पर मनुष्य का रूप धारण करते हैं। इसलिये यह पृथ्वी ही कर्म भूमि है, इस पृथ्वी से ही हम लोग मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये इन स्वर्गों से हमें विशेष प्रयोजन नहीं, तो किस वस्तु की प्राप्ति के लिये हम लोगों को चेष्टा करनी चाहिये ? मुक्ति के लिये। हमारे शास्त्र कहते हैं कि

मुक्ति ही हम लोगों का लक्ष्य है

श्रेष्ठ से श्रेष्ठ स्वर्ग में भी तुम प्रकृति के दास मात्र हो। तुम बीस हज़ार वर्ष तक राज भोग करो, इस से क्या लाभ होगा ? जितने दिन तक तुम्हारा शरीर रहेगा, उतने दिन तक तुम सुखों के दास मात्र होगे। जितने दिन तक देश काल तुम्हारे ऊपर कार्य कर रहा है, उतने दिन तक तुम क्रीत दास हो। इसी कारण से हम लोगों को बाह्य प्रकृति और अन्त प्रकृति दोनों को जीतना पड़ेगा। प्रकृति जिस प्रकार तुम्हारे पैरों तले रहे, उसे पददलित करके उसके बाहर जाकर स्वाधीनतापूर्वक अपनी महिमा को प्रतिष्ठित करना होगा। उस समय जन्म और मरण के पार हो जाओगे। उस समय तुम्हारा सुख चला जायगा, इसलिये तुम उस समय दु:ख को भी पार कर जाओगे। उस समय तुम सर्वातीत, अव्यक्त, अविनाशी आनंद के अधिकारी होगे। हम लोग जिसे यहाँ पर सुख और कल्याण कहते हैं वह उस अनन्त आनद का एक कण मात्र है। यह अनंत आनद ही हम लोगों का लक्ष्य है।

आत्मा जिस प्रकार अनत आनन्द स्वरूप है, वैसे ही लिंग वर्जित है। आत्मा मे स्त्री और पुरुष का भेद नहीं है। देह के

सम्बन्ध में ही नर नारी का भेद है। इसलिये आत्मा पर स्त्री पुरुष का भेद आरोपण करना भ्रम मात्र है—शरीर के सम्बन्ध में भी वह सत्य है। आत्मा के सम्बन्ध में अवस्था का भी कोई निश्चय नहीं हो सकता वह प्राचीन पुरुष सदा ही एक रूप रहता है।

आत्मा लिंग और वय से रहित है

किस प्रकार यह आत्मा बद्ध हुआ? हमारे शास्त्र ही इस प्रश्न का एक मात्र उत्तर दे सकते हैं। अज्ञान ही बंधन का कारण है। हम लोग अज्ञान में ही फँसे हुए हैं—ज्ञान के उदय से ही उसका नाश होगा, हम लोगों को अज्ञानान्धकार के पार ले जायगा इस ज्ञान की प्राप्ति का उपाय क्या है? भक्तिपूर्वक ईश्वर की उपासना और संसार के सब प्राणियों को ईश्वर का रूप मानना, उनपर प्रेम करना ही उस ज्ञान की प्राप्ति का उपाय है। ईश्वर में अत्यन्त प्रेम रखने से ज्ञान पैदा होता है, अज्ञान दूर होता है, सारे बंधन टूट जाते हैं और आत्मा मुक्ति प्राप्त करती है।

बंधन और मुक्ति

हम लोगों के शास्त्रों में ईश्वर के दो रूपों का उल्लेख किया गया है, सगुण और निर्गुण। सगुण ईश्वर सर्व व्यापी, संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्ता है—संसार का अनादि जनक जननी है। उसके साथ हम लोगों का नित्य भेद है। मुक्ति का अर्थ है ईश्वर का सामीप्य और सालोक्य प्राप्ति। निर्गुण ब्रह्म के वर्णन में उनके लिये संसार में व्यवहार में लाये

सगुण और निर्गुण ब्रह्म

जाने वाले सब तरह के विशेषण अनावश्यक और अयुक्तिप्रद मानकर छोड देने पडेंगे। उस निर्गुण सर्वव्यापी पुरुष को ज्ञानवान नहीं कहा जा सकता, इसका कारण यह है कि ज्ञान मन का धर्म है। उसे चिन्ताशील भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चिन्ता ससीम जीव के ज्ञान-लाभ का उपाय मात्र है। उसे विचार-परायण भी नहीं कह सकते। क्योंकि विचार और ससीमता दुर्बलता का चिन्ह स्वरूप है। उसे सृष्टिकर्ता भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि बद्ध को छोडकर मुक्त पुरुष सृष्टि में प्रवृत्त नहीं होता। उसके लिये बंधन ही क्या है? बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करता। उसे प्रयोजन ही किस वस्तु का है? अभाव के बिना कोई कार्य नहीं करता। उसे अभाव ही किस वस्तु का है? वेद में उसके लिये 'स' (वह) शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। 'स' शब्द के द्वारा निर्दिष्ट न होकर निर्गुण भाव को समझाने के लिये तत् शब्द के द्वारा उसका निर्देश किया गया है। स शब्द के द्वारा निर्दिष्ट होने पर व्यक्ति विशेष का बोध होता है, इससे जीव जगत के साथ उसकी बिल्कुल पृथकता सूचित करता है। ईश्वर के लिये निर्गुणवाचक तत् शब्द का प्रयोग किया गया है, तत् शब्द निर्गुण ब्रह्म के लिये प्रचलित हुआ है। इसी को अद्वैतवाद कहते हैं।

इस निर्गुण पुरुष के साथ हम लोगों का क्या सम्बन्ध है? हम लोग उससे बिल्कुल अभिन्न हैं। हम लोगों में से प्रत्येक सम्पूर्ण प्राणियों का मूल कारण स्वरूप निर्गुण पुरुष का

विभिन्न विकाश मात्र है। जिस समय हम लोग उस अनन्त निर्गुण पुरुष से अपने को पृथक समझते हैं, उसी समय हम लोगों के दुःख की उत्पत्ति होती है और उस अनिर्वचनीय निर्गुण सत्ता के साथ हम लोगों का अभिन्न ज्ञान ही मुक्ति है। साराश यह कि हम लोग अपने शास्त्रों में ईश्वर के दो भाव का उल्लेख पाते हैं। यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि निर्गुण ब्रह्मवाद

ही सब तरह के नीति विज्ञान की भित्ति है।

अद्वैतवाद ही नीति अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रत्येक जाति विज्ञान की भित्ति है के भीतर यह सत्य प्रचलित है—मनुष्य

जाति को अपने समान समझना चाहिये।

भारतवर्ष में तो मनुष्य और इतर प्राणियों में कोइ भेद ही नहीं। काल से ही प्रत्येक जाति के भीतर यह सत्य प्रचलित है मनुष्य जाति को अपने समान समझना चाहिये। भारतवर्ष में तो मनुष्य और इतर प्राणियों मे कोई भेद ही नहीं किया जाता, सभी प्राणियों को आत्म तुल्य समझने का उपदेश दिया गया है। लेकिन दूसरे प्राणियों को आत्मतुल्य समझने से क्यों कल्याण होगा, किसी ने उसका कारण नहीं बतलाया है। एक मात्र निर्गुण ब्रह्मवाद ही इसको बतला सकता है। आप इस तत्व को तभी समझेंगे जब आप सारे ब्रह्माण्ड को एक अखण्ड स्वरूप समझेंगे—जिस समय आप जानेंगे कि दूसरे को प्रेम करने से अपने को ही प्रेम करना होगा, दूसरे की हानि करने से अपनी ही हानि होगी। तभी समय हम लोगों की समझ में आ जायगा

कि दूसरों का अनिष्ट करना क्यों उचित नहीं। इसलिये इस निर्गुण ब्रह्मवाद ही से नीति विज्ञान के मूल तत्व की युक्ति पाई जाती है। अद्वैतवाद की चर्चा उठने से और भी कई बातें आ पडती हैं। सगुण ईश्वर में विश्वास करने से हृदय में कैसा अनुपम प्रेम उमडता है, इसे मैं जानता हूँ। विभिन्न समय के प्रयोजन के अनुसार लोगों पर भक्ति का क्या प्रभाव पडना है इस से मैं अच्छी तरह अवगत हूँ। लेकिन हम लोगों के देश में अब ज्यादा रोने धोने का समय नहीं है। इस समय कुछ बल पौरुष की आवश्यकता है।

बल-वीर्य के लिए उपाय—अद्वैतवाद है

इस निर्गुण ब्रह्म में विश्वास होने पर—सब तरह के कुसंस्कारों से रहित होकर 'मैं ही निर्गुण ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान की सहायता से खुद अपने पैरों पर खडा होने से हृदय में कैसी अपूर्व शक्ति का विकास होता है, कहा नहीं जा सकता। भय? किसका भय? मैं प्रकृति के नियमों तक को ग्राह्य नहीं करता? मृत्यु मेरे लिये तो उपहास की वस्तु है। मनुष्य उस समय अपनी आत्मा की महानता को जानता है—जो आत्मा अनादि अनन्त है और अविनाशी है, जिसे कोई यन्त्र काट नहीं सकता, आग जला नहीं सकती, जल डुबा नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकती, जो अनन्त जन्म रहित मृत्यु शून्य है, जिस की महिमा के सामने सूर्य चन्द्र आदि—यहाँ तक कि सारा ब्रह्माण्ड समुद्र की बूँद के समान जान पडता है, जिसकी महिमा के सामने काल का

अस्तित्व विलीन हो जाता है। हम लोगों को इस महिमाशाली आत्मा के प्रति विश्वास जमाना होगा—तभी बलवीर्य आवेगा। तुम जो चिन्तन करोगे, वही होगे। अगर तुम अपने को दुर्बल समझोगे, तुम दुर्बल होगे, तेजस्वी समझने पर तेजस्वी होग। अगर तुम अपने को अपवित्र समझोगे, तुम अपवित्र होगे। अपने को शुद्ध समझने पर शुद्ध होगे। अद्वैतवाद हम लोगों को अपन को दुर्बल समझने का उपदेश नहीं देता, किन्तु अपन को तेजस्वी सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञ समझने का उपदेश दता है। हमारे भीतर यह भाव अब भी चाहे प्रकाशित न हो, लेकिन यह तो हमारे भीतर ही है। हमारे भीतर सभी ज्ञान, सभी शक्ति, पूर्ण पवित्रता और पवित्रता का भाव है। तब हम उन्हें जीवन में क्यों नहीं प्रकाशित कर पाते ? इसका कारण है, हम लोग उन पर विश्वास नहीं करते। अगर हम लोग उनपर विश्वास करें तो उनका विकास होगा, जरूर होगा। अद्वैतवाद इसी की शिक्षा देता है। बिल्कुल लड़कपन से ही आपके बच्चे तेजस्वी होने चाहिये उन्हें किसी तरह की दुर्बलता, किसी प्रकार के बाहरी अनुष्ठान की शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं। वे तेजस्वी बनें, अपने पैरों खुद खड़े हों, व साहसी, सर्वजयी, सब कुछ सहने वाले बनें। इन सम्पूर्ण गुणों से युक्त होने के लिये उन्हें पहले आत्मा की महिमा के सम्बन्ध में शिक्षा देनी होगी। यह शिक्षा वेदान्त ही में, केवल वेदान्त ही में पाओगे। उसमें अन्यान्य धर्मों की तरह भक्ति उपासना आदि के सम्बन्ध में अनेक उपदेश दिये गये हैं—वह काफी मात्रा में मौजूद हैं,

लेकिन मैं जिस आत्मतत्व की बात कह रहा हूँ वही जीवन और शक्ति देने वाला है, वह अपूर्व है। वेदान्त ही में केवल वह महान सत्व छिपा हुआ है। जो सम्पूर्ण जगत् के भावों मे उलट फेर पैदा कर देगा और विज्ञान के साथ धर्म का सामजस्य स्थापित करेगा।

मैंने आप लोगों से अपने धर्म के प्रधान प्रधान तत्वों को बताया है। इन्हें किस प्रकार कार्य रूप में परिणत करना होगा, इस समय उस सम्बन्ध में कई बातें कहनी हैं। मैंने पहले ही कहा है कि भारत में जितने कारण मौजूद हैं, उनसे यहाँ पर अनेक सम्प्रदाया का होना सम्भव है। इसी से यहाँ पर अनेक सम्प्रदाय दिखलाई पडते हैं। एक और आश्चर्य की बात यह देखने में आती है कि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय का विरोध नहीं करता। शैव यह नहीं कहते की वैष्णव मात्र हो अध पतित होंगे, नर्कगामी होंगे। अथवा वैष्णव शैवों को यह बात नहीं कहते। शैव कहते हैं कि हम अपने मार्ग पर चलते हैं, तुम भी अपने रास्त पर चलो। अन्त में हम लोग एक ही स्थान पर पहुचेंगे। भारत के सभी सम्प्रदायवालों ने इसे स्वीकार किया है। इसी को इष्ट-निष्ठा कहते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से ही यह बात चली आती है कि ईश्वरोपासना की अनेक प्रणालियां हैं। यह भी चला आता है कि विभिन्न

इष्ट निष्ठा

कृति के लिये विभिन्न साधन प्रणाली आवश्यक है। तुम जिस प्रणाली से ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हो, सभंव है वह प्रणाली हमारे लिये सुगम न हो, सभंव है वह प्रणाली हमारे लिये हानिप्रद

भी हो। सभी को एक मार्ग से चलना होगा, इसका कोई अर्थ नहीं, इससे उल्टे हानि ही होगी, इसलिये सब लोगों को एक मार्ग से होकर ले जाने की चेष्टा को एकदम त्याग कर देना चाहिये। अगर कभी पृथ्वी के सब लोग एक धर्म के मानने वाले होकर एक रास्ते पर चलने लगेंगे, वही बहुत बुरा होगा। ऐसा होने पर लोगों की स्वतंत्र विचारशक्ति और प्रकृति धर्मभाव एकदम नष्ट हो जायगा। भेद ही हम लोगों की जीवनयात्रा का मूल मंत्र है। सम्पूर्ण रूप से भेद नष्ट हो जाने पर सृष्टि का लोप हो जायगा। जितने दिन तक विचार प्रणाली की यह भिन्नता रहेगी, तब तक हम लोग मौजूद रहेंगे। आपके लिये आपका मार्ग अच्छा हो सकता है, लेकिन हमारे लिये नहीं। प्रत्येक के इष्ट भिन्न हैं, इस बात से यह समझ में आता है कि प्रत्येक का मार्ग भिन्न है। यह बात ध्यान में रखो कि संसार के किसी भी धर्म के साथ हम लोगों का विवाद नहीं। हममें से प्रत्येक के लिये भिन्न भिन्न इष्ट देवता हैं। लेकिन जब हम देखते हैं कि लोग आकर हम लोगों से कहते हैं कि यही एक मात्र मार्ग है, और भारत सरीखे असाम्प्रदायिक देश में जोर देकर हम लोगों को उस मत में करना चाहते हैं। तो हमें उनकी बातें सुनकर हंसी ही आती है। जो ईश्वर को पाने के उद्देश्य से दूसरे मत के मानने वाले अपने भाइयों का गला घोटना चाहते हैं, उनके मुख से प्रेम की बातें बहुत असंगत और बुरी जान पड़ती हैं। उनके प्रेम का कोई विशेष मूल्य नहीं है। दूसरे लोग दूसरे मार्ग का अनुसरण करते हैं, जो यह सहन नहीं

नहीं कर सकता है, वह प्रेम का उपदेश देता है ? यदि यह प्रेम है, तो द्वेष किसे कहेंगे ? ईसा, बुद्ध या मुहम्मद—ससार के जिस किसी भी अवतार की उपासना क्यों न करो, किसी धर्मावलम्बी के साथ हमारा विवाद नहीं। हिन्दू कहते हैं, आओ भाई, तुम्हें जिस सहायता की आवश्यकता हो, मैं करने के लिये तैयार हूँ। लेकिन मैं अपने रास्ते से जाऊँगा, उसमें कुछ बाधा न पहुँचाना। मैं अपने इष्टदेव की उपासना करूँगा। तुम्हारा रास्ता बिल्कुल ठीक है, इसमें ज़रा भी झूठ नहीं है, लेकिन मेरे लिये वह दुखदाई होगा। कौन खाद्य पदार्थ हमारे शरीर के लिये उपयोगी है, इसे हम अपने अनुभव से स्वयं जान जाते हैं, हजारों डाक्टर इस सम्बन्ध में हमें कुछ सिखा नहीं सकते। इसलिये किस रास्ते से चलना चाहिये इसे हमारी अभिज्ञता ही हमें अच्छी तरह बतला देगी, यही इष्ट निष्ठा है। इसी कारण से हम कहते हैं कि यदि किसी मन्दिर में जाकर अथवा किसी मत्र या प्रतिमा की सहायता से तुम अपनी आत्मा में विद्यमान ईश्वर को प्राप्त कर सकते हो। यदि किसी विशेष अनुष्ठान द्वारा तुम्हारा ईश्वर तुम्हें मिल सकता हो तो तुम उस अनुष्ठान को कर सकते हो। जो कोई भी क्रिया या अनुष्ठान तुम्हें ईश्वर के निकट ले जाय, तुम उसी को करो। जिस किसी मन्दिर में जाने से तुम्हें ईश्वर मिले, उस मन्दिर में जाकर उपासना करो। लेकिन विभिन्न मतों को लेकर विवाद न करो। जिस क्षण तुम विवाद करोगे, उसी क्षण तुम ईश्वरीय मार्ग से भ्रष्ट हो जाओगे, तुम आगे

न बढ़कर पीछे को हटने लगोगे, क्रमश पशु पदवी को पहुंच जाओगे।

हम लोगों का धर्म किसी से घृणा करना नहीं सिखाता, सभी को अपनी गोद में लेना सिखाता है। हम लोगों का जाति भेद तथा दूसरे रस्मोरिवाज धर्म से सम्बध रखते हैं, ऐसा ऊपरी तौर पर जान पड़ता है, परन्तु वास्तव में ऐसी समाज सस्कार बात नहीं। सारी हिन्दू जाति को रक्षा करने के लिये ये सभी नियम आवश्यक थे। जिस समय इस आत्म-रक्षा की आवश्यकता न रहेगी, उस समय ये आप से आप उठ जायगे। इस समय ज्यों ज्यों हमारी अवस्था बढ़ती जाती है त्यों त्यों ये प्राचीन प्रथायें हमें अच्छी जान पड़ती हैं। एक समय था जबकि हम इनमें से अधिकाश को अनावश्यक और फजूल समझते थे लेकिन ज्यों ज्यों हमारी अवस्था बड़ी होती जाती है, त्यों त्यों इन के विरुद्ध कुछ बोलने में सकोच जान पड़ता है। बात यह है कि सैकड़ों शताब्दियों के ज्ञान और अनुभव के बाद ये प्रथायें बनी हैं। कल का बच्चा जो सम्भव है कल ही मृत्यु के मुख में चला जाय, अगर वह आकर हमारे बहुत दिनों के सोचे विचारे विषय को छोड़ देने के लिये कहे और हम भी यदि उस बच्चे की बात सुनकर उसके मतानुसार अपनी कार्य-प्रणाली को परिवर्तन कर डालें, तो हमसे बढ़कर और कौन अहमक होगा। भारत के अतिरिक्त और दूसरे देशों से हम लोग समाज-सुधार के सम्बंध में जो उपदेश पाते हैं, वे अधिकांश में

सी प्रकार के हैं। उनसे यह कहना होगा—पहले तुम एक स्थायी समाज संगठित करो, तब तुम्हारी बात सुनी जायगी। तुम लोग दो दिन भी एक बात पर ठहरते नहीं हो, उस पर वाद विवाद उठते ही छोड़ देते हो। क्षुद्र पतिंगे की तरह तुम लोगों का क्षण स्थायी जीवन है! बुद्बुद् की तरह तुम्हारी उत्पत्ति होती है, और बुद्बुद् की तरह ही तुम्हारा लय होता है। पहले हम लोगों की तरह स्थायी समाज गठित करो-पहले ऐसे ऐसे सामाजिक नियमों और प्रथाओं का प्रवर्तन करो जिन की शक्ति सैकड़ो शताब्दियों तक स्थिर रहे तब तुम से बातचीत करने का अवसर आयेगा। लेकिन जब तक ऐसा न होगा, तब तक तुम चंचल बच्चे की तरह हो।

हमारे धर्म के सम्बंध में हमें जो कुछ कहना था, वह समाप्त हो गया। अब वर्तमान युग के लिये जो विशेष प्रयोजन है, ऐसा एक विषय तुम से कहेंगे। महाभारत के रचयिता वेद व्यास का भला हो। वह कह गये हैं,'कलियुग मे दान कलियुग में धर्मदान ही एक मात्र धर्म है।' और युगों में जो ही श्रेष्ठ साधन है कठोर तपस्या और यागादि प्रचलित थे, वे इस समय में न चल सकेंगे। इस युग में विशेष महत्व दान का है। दान शब्द से क्या अभिप्राय समझते हो? धर्मदान ही श्रेष्ठ दान है, इसके बाद विद्यादान, इसके बाद प्राण दान, अन्न वस्त्रदान सब से निकृष्ट दान है। जो धर्म ज्ञान प्रदान करते हैं, वह आत्मा की अनन्त जन्म मृत्यु के प्रवाह से

रक्षा करते हैं। जो विद्यादान करते हैं वे भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति में सहायता करत हैं। अन्यान्य दान, यहाँ तक कि प्राणदान भी इसकी तुलना में हेय है। इसलिये तुम लोगो को इतना जानना आवश्यक है कि आध्यात्मिक ज्ञान के दान से और सब कर्म निकृष्ट हैं। आध्यात्मिक ज्ञान को फैलाने ही से मनुष्य जाति की सब से बडी सेवा हो सकती है। हमारे शास्त्र आध्यात्मिक भावों के अनन्त स्रोत हैं। और इस त्याग-भूमि भारत को छोड़कर पृथ्वी में और कहाँ धर्म की अपरोक्षानुभूति का ऐसा दृष्टान्त पाओगे? संसार के सम्बन्ध में हमें कुछ ज्ञान है और देशों में बडी लम्बी चौडी बातें सुनने में तो आती हैं, लेकिन केवल इसी देश में ऐसे लोग पाये जाते हैं जो धर्म को जीवन मे परिणत करने वाले होते हैं। केवल मुँह से धर्म की बातें करना ही धर्म नहीं है। तोता भी मुँह से राम राम कहता है। ऐसा जीवन देखना चाहिये जिसमें त्याग, आध्यात्मिकता, तितिक्षा और अनन्त प्रेम विद्यमान हो। इन गुणों के होने पर ही तुम धार्मिक पुरुष हो सकते हो। जब हमारे शास्त्रों में ये सभी सुन्दर सुन्दर भाव वर्तमान हैं और हमारे देश में ऐसे महान् जीवन के उदाहरण स्वरूप विद्यमान हैं, तब अगर योगियों के हृदय और मस्तिष्क से उत्पन्न विचार सर्वसाधारण में प्रचारित हो कर धनी गरीब आदि ऊँच नीच सब की सम्पत्ति नहीं होता, तो यह बहुत दुःख की बात है। इन सब तत्त्वों को भारत ही में नहीं फैलाना होगा वरन सारे संसार में इन्हें

फैलाना होगा। हम लोगों का यही एक कर्तव्य है। और जितना ही तुम दूसरों की सहायता करने को तैयार होगे, त्योंही तुम देखोगे कि तुम अपना ही भला कर रहे हो। अगर सच-मुच तुम अपने धर्म को चाहते हो, अगर वास्तव में अपने देश को प्यार करते हो, तो तुम्हारा कर्तव्य होना चाहिए कि शास्त्रों में जो दुर्बोध रत्नराशि है, उसे लेकर जो उसके पाने के अधिकारी हैं, उन्हें बाँट दो। सब से बढ़कर हमें एक विषय पर दृष्टि डालनी होगी। हाय! हम लोग शताब्दियों ईर्ष्याद्वेष के विष से जर्जरित हो रहे हैं—हम लोग परस्पर एक दूसरे की हिंसा ही कर रहे हैं—अमुक हम से बड़ा क्यों हो गया—दिन रात इसी चिंता में हम लोग घुले जा रहे हैं! यही क्यों, धर्म कर्म में भी हम लोग इस से मुक्त नहीं हैं—हम लोग यहां तक ईर्ष्या के दास हो रहे हैं!—इसे हम लोगों को त्याग कर देना होगा। अगर भारत में किसी का बोलबाला है तो वह ईर्ष्या है। सभी आज्ञा देना चाहते हैं, आज्ञापालन के लिये कोई तैयार नहीं है। पहले आज्ञापालन की शिक्षा प्राप्त करो, आज्ञा देने की शक्ति आप से आप चली आयगी। सदा सेवक बनने की शिक्षा प्राप्त करो, तभी स्वामी बनोगे। प्राचीन काल के ब्रह्मचर्य आश्रम के अभाव से ही यह सब गड़बड़ी फैल गई है। ईर्ष्या द्वेष को परित्याग करो, तभी तुम इस समय जो बड़े बड़े कार्य पड़े हुये हैं, उन्हें कर सकोगे। हमारे पुरखों ने बड़े अद्भुत कर्म किये हैं, हम लोग भक्ति और श्रद्धापूर्वक उनके कार्य कलाप की आलोचना करते हैं—किन्तु

"कोई कहते हैं कि मृत्यु के बाद आत्मा रहता है, कोई कहते हैं कि नहीं रहता। हे मृत्यु, बताओ इनमें सत्य क्या है ?" यहाँ पर हम देखते हैं कि मार्ग बिल्कुल ही भिन्न हो गया है। बाह्य-प्रकृति से जो मिल सकता था, भारतीय मस्तिष्क ने उसे ले लिया, पर उससे उसे सन्तोष न हुआ।

बहिर्जगत की खोज से अरुचि, अन्त-र्जगत की खोज

इस ने और भी ज्यादा अनुसंधान किया उसने अपने भीतर अपना आत्मा में इस समस्या की खोज करनी चाही' और अंत में उसे उत्तर मिला।

वेद के इसी भाग का नाम उपनिषद्, वेदान्त, अरण्यक और रहस्य है। यहाँ पर हम देखते हैं कि धर्म ने भौतिकता से बिलकुल ही नाता तोड दिया है। यहाँ पर आत्मज्ञान का संसार की भाषा में नहीं, वरन आत्मा का आत्मा की ही भाषा में, अनन्त का अनन्त की ही भाषा में वर्णन किया गया है। अब इस कविता में तनिक भी स्थूलता नहीं, भौतिकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उपनिषदों के प्रतिभाशाली मह-र्षियों ने कल्पनातीत निर्भयता के साथ, बिना किसी हिचक के मनुष्य-जाति में सुन्दर से सुन्दर सत्यों की दृढ घोषणा की है। हे मेरे देशवासियो, उन्हीं सत्यों को मैं तुम्हारे सम्मुख रखना चाहता हूँ, पर वेदों का ज्ञान-काण्ड एक विशाल सागर है। उसके थोड़े से भी भाग को समझने के लिये कई जन्मों की आवश्यकता है। रामानुज ने

उपनिषदों की विशेषता

निपदों के बारे में सत्य ही कहा है कि वेदान्त वेदों का स्कन्ध र उन्नतशील भाग है। उपनिषद् ही हमारे देश की बाइबिल । हिन्दुओं के हृदय में वेदान्त के कर्म-काण्ड भाग के लिये सीम सम्मान है, पर पीढ़ियों से सभी व्यावहारिक कार्यों के ये श्रुति अर्थात् उपनिषदों और केवल उपनिषदों से ही काम त्या गया है। हमारे सभी बड़े दार्शनिकों ने, चाहे वह व्यास , चाहे पातञ्जलि, चाहे गौतम, चाहे सभी दर्शनों के पितामह पिल ही क्यों न हों, जिन्हें कभी किसी बात के लिये प्रमाण ने की आवश्यकता पड़ी है, तो उन्होंने उपनिषदों का ही आश्रय लेया है। उपनिषदों में ही उन्हें सब प्रमाण मिले हैं, क्योंकि उपनिषदों में ही हमारे भारतीय ऋषियों ने सनातन सत्यों का प्रतिपादन किया है।

सार्वकालिक और युग धर्म

उनमे कुछ सत्य ऐसे हैं, जो देश-काल के अनुसार किन्हीं विशेष दशाओं में ही सत्य हैं तथा अन्य सत्य ऐसे हैं, जो अपनी सत्यता के लिए मनुष्य-प्रकृति पर ही निर्भर हैं और तब तक अमर सत्य रहेंगे, जब तक कि मनुष्य है। ये वे सत्य हैं, जो सर्व-देशीय और सर्व-कालीन हैं। भारतवर्ष में खान-पान, रहन-सहन, पूजा-उपासना आदि के अनन्त सामाजिक परिवर्तनों के होने र भी हमारी श्रुतियों के अलौकिक सत्य, वेदान्त के ये अद्भुत तत्व आज भी सदा की भाँति अपनी महिमा के साथ अजेय और अजर-अमर भाव से स्थिर हैं।

नहीं हैं। इसी प्रकार रामानुज-सम्प्रदाय, जैसा कि उस लिखी गई व्याख्याओं से विदित है, रामानुज के जन्म सहस्रों वर्ष के पहले से ही यहाँ विद्यमान था। इसी प्रकार मत-मतान्तरों के साथ सभी प्रकार के द्वैत-वाद भी यहाँ थे, कि भी यह सब एक दूसरे के विरोधी न थे।

ये सभी मत एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

जिस प्रकार हमारे छः दर्शन एक ही सुन्दर सिद्धान्त के सुन्दर विकास हैं। जो संगीत पहले धीमे मधुर-स्वरों में आरम्भ हुआ था अन्त में वह अद्वैत-वाद के वज्र विवाद में परिणत हुआ उसी प्रकार इन तीनों व्यवस्थाओं में हम मनुष्य को उच्च-से-उच्च आदर्शों की ओर बढ़ते पाते हैं, अन्त में सभी वाद अद्वैत-वाद की अनुपम एकता में लीन हो जाते हैं। इसलिए यह एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

दूसरी ओर मैं यह भी बता देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि इस प्रकार की भूल कुछ एक दो ने नहीं की है। अद्वैत-वादी जो पाठ अद्वैत-वाद का वर्णन करता है, उसे तो अपना रक्खा ही है, जो द्वैत-वाद अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों का वर्णन करता है, उसे भी तोड़-मरोड़कर वह अपना स्वेच्छित अर्थ निकालता है। इसी प्रकार द्वैतवादी भी अद्वैत-वाद के पाठ को तोड़ मरोड़कर उसका स्वेच्छित अर्थ निकालता है। हमारे गुरु-जन महान् पुरुष थे, फिर उनमें दोष थे और गुरु जनों के दोष भी कहे जाने चाहिएँ। जैसा कहा है कि "दोषा वाच्या

पुरोरपि" मैं समझता हूं कि केवल यहाँ पर वे भ्रम में पड गये थे। हमें पाठों को तोड-मोडकर अनोखे स्वेच्छित अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं है, न किसी प्रकार की बेईमानी द्वारा धर्म व्याख्या करने की ज़रूरत है और न व्याकरण की बारीकियों पर मत्थापच्ची करने की ही ज़रूरत है। जिन श्लोकों से वे भाव कभी नहीं निकल सकते, उनके भीतर उन भावों को घुसाने का कभी प्रयत्न न करें। इन का सीधा सादा समझना बहुत सहज है और जभी तुम अधिकार भेद के रहस्य को समझोगे तभी वे तुम्हें बिलकुल ठीक जान पडेंगे।

भाष्यकारों का एक देशीय सिद्धान्त

यह सत्य है कि उपनिषदों का एक ही मुख्य विषय है— "वह कौन सा सत्य है, जिसे जान लेने पर सभी मालूम होने लगता है।" कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। मड्डू० क० १।३। आजकल की भाषा में उपनिषदों का ध्येय, जैसा कि सभी ज्ञान का ध्येय होता है, बहुरूपता में एकता को पाना है और इसीका नाम ज्ञान है। सभी ज्ञान-विज्ञान इसी बहुरूपता में एकता खोजते हैं। आज-कल का क्षुद्र पदार्थ-विज्ञान जिसे हम 'साईंस' कहकर पुकारते हैं, यदि कुछ पदार्थों और प्रकृति-भागों में एकता ढूँढना चाहता है, तो कल्पना कीजिए इस अनन्त नाम और अनन्त रूप वाले विशाल ब्रह्माण्ड में, जहाँ प्रत्येक पदार्थ दूसरे पदार्थ से शक्ति और आकार में भिन्न है, जहाँ

लक्ष्य एक होने पर भी अधिकार भेद से

असख्य आकार-प्रकार, असख्य विचार, असंख्य लोक हैं, एकता का ढूँढ़ निकालना कितना महान् कार्य है और इसी एकता को पाना ही उपनिषदों का ध्येय है। यह हम समझते हैं। किसी को ध्रुव-तारा दिखाना होता है, तो पास का खूब चमकता हुआ तारा उसे दिखाया जाता है और फिर क्रमश' ध्रुव-तारा। इसी प्रकार सूक्ष्म ब्रह्म तत्व को समझाने के पहले सत्यासत्य अनेक स्थूल भावों को समझाने के बाद क्रमश उच्च भावों का उपदेश दिया गया है। यही क्रम हमारा भी होगा और मुझे अपने विचार को सत्य सिद्ध करने के लिए आप लोगों के सामने केवल उपनिषदों को रखना होगा। प्राय प्रत्येक अध्याय का आरम्भ द्वैत-वादी उपासना से होता है। इसके बाद ईश्वर सृष्टि का सृजन करनेवाला, उसका पोषक तथा जिसमें वह अन्त में लय हो जाता है, ऐसा बताया जाता है। बाह्य और अन्तर्प्रकृति का स्वामी विश्व का वह उपास्य देवता बताया जाता है, फिर भी मानों उसका अस्तित्व प्रकृति से कहीं बाहर हो। इससे एक पग आगे बढ़ने पर हम उसी गुरु को यह बताते पाते हैं कि ईश्वर प्रकृति से परे नहीं, वरन् उसी में अन्तर्व्याप्त है। अन्त में यह दोनों ही विचार छोड़ दिये जाते हैं और जो कुछ भी सत्य है, वही ईश्वर बताया जाता है। कोई अन्तर नहीं रहता। "तत्त्वमसि श्वेतकेतो।" अन्त में यह बताया जाता है कि मनुष्य की आत्मा और वह सर्व-व्यापी एक ही है। "श्वेतकेतु, वह तू ही है।" यहाँ पर कोई समझौता नहीं किया गया है। दूसरे के मिथ्या विचारों से कोई सहानुभूति

खाई गई। सत्य, दृढ सत्य की निर्द्वन्द भाषा में घोषणा की ई है और उस दृढ सत्य को आज भी उसी निर्द्वन्द भाषा में ोषणा करने में हमें भयभीत न होना चाहिए। ईश्वर की कृपा में समझता हूँ कि उस सत्य के निर्भयता-पूर्वक प्रचार करने ा साहस मुझ में है।

अच्छा, अब पहिले प्रसंग की अनुवृत्ति करके पहले ज्ञातव्य त्वों की आलोचना की जाय—एक वेदान्त वादी जिस पर क मत है उस जगत् सृष्टि के प्रकरण और मनस्तत्व के सम्बन्ध समझना होगा। दूसरी संसार और सृष्टि आदि के विषय उनके पृथक्-पृथक् विचार। मैं पहले सृष्टि प्रकरण को लेता । आधुनिक विज्ञान के नव-नव आविष्कार और नई-नई खोजें आकाश से गिरनेवाली बिजलियों के समान आपको चकित कर देती हैं। जिन बातों को आपने स्वप्न में भी न सोचा था, ही आँखों के सामने आती हैं, पर जिसे 'फ़ोर्स' वा शक्ति कहा जाता है, मनुष्य ने उसे बहुत दिनों पहिले ही ढूँढ़ निकाला था। यह तो अभी कल ही जाना गया है कि विभिन्न शक्तियों में भी एकता है। मनुष्य ने हाल ही में पता लगाया है कि जिन्हें वह 'हीट' (गर्मी), मैग्नेटिज्म (आकर्षण), एलेक्ट्रि-सिटी (विद्युत्) आदि नामों से पुकारता है, वे सब एकही 'यूनिट फोर्स' (एक शक्ति) के नाना रूप हैं, आप उसे चाहे जो नाम दें। यह विचार संहिता में ही है। संहिता की ही भाँति प्राचीन यह शक्ति वा 'फोर्स' का विचार है। सभी शक्तियाँ, उन्हें

आकर्षण, प्रत्याकर्षण, विद्युत्, गर्मी आदि चाहे जिन नामों से पुकारो, वे सब कुछ नहीं हैं, एक पग भी आगे नहीं। या तो वे अन्त करण से उत्पन्न विचारों के रूप में प्रकट होती हैं अथवा मनुष्य की अन्तरिन्द्रियों के रूप में जिनकी प्रजनन-शक्ति एक 'प्राण, है। फिर प्राण क्या है? प्राण स्पन्दन है। प्रलय के अनन्तर जब यह समस्त ब्रह्माण्ड अपने आदि रूप में हो जायगा तब इस अनन्तशक्ति का क्या होगा? क्या उसका अन्त हो जायगा? ऐसा, तो हो नहीं सकता। यदि उसका अन्त हो जाय तो दूसरी शक्ति-धारा का कारण क्या होगा, क्योंकि शक्ति तरंग के समान ऊपर-नीचे चढ़ती-गिरती रहती है? ब्रह्माण्ड के इस विकाश को हमारे शास्त्रों में 'सृष्टि' कहा है। ध्यान रखिये सृष्टि और अँग्रेज़ी का Creation शब्द एक नहीं है। अँग्रेज़ी में संस्कृत शब्दों का ठीक ठीक अनुवाद नहीं होता, प्रकाश होना, शात होना। प्रत्येक पदार्थ विकसित होते हुए अपनी चरम दशा पर पहुँचकर फिर अपने आदि रूप को प्राप्त होता है, जहाँ पर कुछ देर के लिये स्थिर हो वह पुन उत्थान के लिये तैयार होता है। इसी क्रम का नाम सृष्टि है। फिर इन शक्तियों का, प्राणों का क्या होता है? वे आदि माया में लय हो जाते हैं और यह प्राण प्रायः स्थिर हो जाता है—बिल्कुल ही स्थिर तो नहीं पर प्रायः स्थिर हो जाता है और वैदिक सूत्र 'आनीदवातम्' ऋग्वेद १०। १२६-२ सूक्त में इसीका वर्णन किया गया है। दिन स्पन्दन के क्रममें स्पन्दन हुआ, वेदों में बहुत से पारिभाषिक

शब्द ऐसे हैं, जिनका अर्थ लगाना बहुत कठिन है, खासकर उनके विशेष शब्दों के प्रयोग में। उदाहरण के लिए वात शब्द को लीजिए। कभी इसका अर्थ होता है, हवा और कभी होता है गति। बहुधा लोग एक के स्थान में दूसरे का अर्थ लगा लेते हैं। इस बात का हमें ध्यान रखना होगा। "वह उस रूप में स्थित था और जिसे तुम भौतिक प्रकृति कहते हो, उसका क्या होता है? सभी प्रकृति शक्तियों में व्याप्त है, जो कि हवा में लय हो जाती है। उसीमें से वे पुन निकलती हैं और सबसे पहिले 'आकाश' निकलता है। आप उसे 'ईथर' आदि चाहे जो नाम दें, सिद्धान्त यह है कि प्रकृति का आदि रूप यही 'आकाश' है। जब प्राण की क्रिया आकाश पर होती है, तब उसमें स्पन्दन होता है और जब दूसरी सृष्टि होने को होती है, तब यही स्पन्दन तीव्रतर हो जाता है और फिर आकाश शत-शत तरंगों में विभक्त हो जाता है, जिन्हें हम सूर्य, चन्द्र आदि नामों से पुकारते हैं।

"यदिदम् किञ्च जगत् सर्वम् प्राण एजति नि सृतम्।"

"प्राणों के निस्पन्दन से ही सृष्टि का जन्म हुआ है।" 'एजति' शब्द पर आपको ध्यान देना चाहिए, क्योंकि वह 'एज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—स्पन्दन करना। नि सृतम्—निकली है, यदिदम् किञ्च—जो कुछ भी यह ब्रह्माण्ड है।

आकर्षण, प्रत्याकर्षण, विद्युत्, गर्मी आदि चाहे जिन नाम
पुकारो, वे सब कुछ नहीं हैं, एक पग भी आगे नहीं। य..
वे अन्त करण से उत्पन्न विचारों के रूप में प्रकट होती हैं अद
मनुष्य की अन्तरिन्द्रियों के रूप में जिनकी प्रजनन-शक्ति ए
'प्राण, है। फिर प्राण क्या है? प्राण स्पन्दन है। प्रलय
अनन्तर जब यह समस्त ब्रह्माण्ड अपने आदि रूप में हो जाय
तब इस अनन्तशक्ति का क्या होगा? क्या उसका अन्त हो
जायगा? ऐसा, तो हो नहीं सकता। यदि उसका अन्त हो जाये
तो दूसरी शक्ति-धारा का कारण क्या होगा, क्योंकि शक्ति ल
के समान ऊपर-नीचे उठती-गिरती बहती है? ब्रह्माण्ड के ए
विकाश को हमारे शास्त्रों में 'सृष्टि' कहा है। ध्यान रखिये सृष्टि
और अँग्रेजी का Creation शब्द एक नहीं है। अँग्रेजी
संस्कृत शब्दों का ठीक ठीक अनुवाद नहीं होता, प्रकाश होन
ज्ञात होना। प्रत्येक पदार्थ विकसित होते हुए अपनी परम दशा प
पहुँचकर फिर अपने आदि रूप को प्राप्त होता है, जहाँ पर कु
देर के लिये स्थिर हो वह पुन उत्थान के लिये तैयार होता है
इसी क्रम का नाम सृष्टि है। फिर इन शक्तियों का, प्राणों का क्या
होता है? ये आदि प्राण में लय हो जाते हैं और वह प्राण प्राय
स्थिर हो जाता है—बिल्कुल ही स्थिर तो नहीं पर प्राय
स्थिर हो जाता है और वैदिक सूत्र 'आनीदवातम्' ऋग्वेद
१०। १२६-७ सूक्त में इसीका वर्णन किया गया है। बिना
स्पन्दन के उसमें स्पन्दन हुआ, वेदों में बहुत से पारिभाषिक

शब्द ऐसे हैं, जिनका अर्थ लगाना बहुत कठिन है, खासकर उनके विशेष शब्दों के प्रयोग में। उदाहरण के लिए वात शब्द को लीजिए। कभी इसका अर्थ होता है, हवा और कभी होता है गति। बहुधा लोग एक के स्थान में दूसरे का अर्थ लगा लेते हैं। इस बात का हमें ध्यान रखना होगा। "वह उस रूप में स्थित था और जिसे तुम भौतिक प्रकृति कहते हो, उसका क्या होता है? सभी प्रकृति शक्तियों में व्याप्त है, जो कि हवा में लय हो जाती है। उसीमें से वे पुन निकलती हैं और सबसे पहिले 'आकाश' निकलता है। आप उसे 'ईथर' आदि चाहे जो नाम दें, सिद्धान्त यह है कि प्रकृति का आदि रूप यही 'आकाश' है। जब प्राण की क्रिया आकाश पर होती है, तब उसमें स्पन्दन होता है और जब दूसरी सृष्टि होने को होती है, तब यही स्पन्दन तीव्रतर हो जाता है और फिर आकाश शत-शत तरंगों में विभक्त हो जाता है, जिन्हें हम सूर्य, चन्द्र आदि नामों से पुकारते हैं।

"यदिदम् किञ्च जगत् सर्वम् प्राण एजति नि सृतम्।"

"प्राणों के निस्पन्दन से ही सृष्टि का जन्म हुआ है।" 'एजति' शब्द पर आपको ध्यान देना चाहिए, क्योंकि वह 'एज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—स्पन्दन करना। नि सृतम्—निकली है, यदिदम् किञ्च—जो कुछ भी यह ब्रह्माण्ड है।

यह सृष्टि-क्रम का थोडा सा आभास दिया गया है। इसमें और भी बहुत सी बारीकियाँ हैं। जैसे इस क्रिया का संपूर्ण

महत् से आकाश और प्राण की उत्पत्ति

वर्णन—किस प्रकार पहिले आकाश उत्पन्न होता है, फिर उसमें से अन्य पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न होता है और उसके कम्पन से वायु उत्पन्न होती है, पर इनमें से एक बात स्पष्ट है कि स्थूल की सूक्ष्म से उत्पत्ति होती है। स्थूल प्रकृति बाह्य है और इसकी सबसे बाद में उत्पत्ति हुई है, इसके पहिले सूक्ष्म प्रकृति थी। एक के हो दो रूप हो जाते हैं, जिनमें कोई समान ऐक्य दिखाई नहीं देता, पर उनमें प्राण की एकता है और आकाश की भी। क्या और भी किसी की एकता है ? क्या वे एक में मिल सकते हैं ? हमारा आधुनिक विज्ञान यहाँ पर चुप रहता है। उसने इसकी कोई मीमांसा नहीं की है और यदि वह मीमांसा करेगा तो उसे उपनिषदोंवाला मार्ग ग्रहण करने पड़ेगा। जिस प्रकार कि इसे हमारे प्राचीन ऋषियों ने 'प्राण' और 'आकाश' का तत्व आविष्कार किया था। दूसरी एकता उस निर्गुण सर्व व्यापी की है, जिसका नाम 'महत्' है तथा जिसे पुराणों में चतुर्मुख ब्रह्मा कहा गया है। यहाँ पर उन दोनों का मिलन होता है। जो तुम्हारा 'मस्तिष्क' है, वह इसी महत् का एक क्षुद्रतम भाग है और सभी मस्तिष्कों के जोड़ को समष्टि कहते हैं।

पर अभी खोज पूरी नहीं हुई। यह और आगे बढ़ी। यहाँ पर, हम लोग छोटे परमाणुओं के समान हैं, जिनकी समष्टि हो यह ब्रह्माण्ड है, पर जो कुछ व्यष्टि में हो रहा है, हम बिना किसी भय के अनुमान कर सकते हैं कि बाहर भी वैसा ही होता होगा। यदि अपने

न जड है

ास्तिष्क की क्रियाओं के निराकरण करने की शक्ति हम में होती, ो शायद हम जान पाते कि उनमें भी वैसा ही हो रहा है, पर ाश्न यह है कि यह मस्तिष्क है क्या? वर्तमान समय में पाश्चात्य ्शों में जब पदार्थ-विज्ञान आशातीत उन्नति करता हुआ पुराने र्मों के क़िले पर क़िले जीतता चला जाता है, वहाँ के लोगों ो स्थिर रहने का स्थान नहीं मिलता, क्योंकि पदार्थ-विज्ञान ने ्रति पग पर मस्तिष्क और दिमाग़ को एक बतलाया है, जिससे उन्हें बडी निराशा हुई है, पर हम भारतवासी तो यह रहस्य सदा से जानते थे। हिन्दू बालक को सबसे पहिले यही सीखना होता था कि मस्तिष्क भौतिक प्रकृति का ही एक अधिक सूक्ष्म रूप है। बाह्य शरीर तो स्थूल है, उसके भीतर सूक्ष्म शरीर है। यह भी भौतिक है; पर अधिक सूक्ष्म है, पर 'आत्मा' फिर भी नहीं है। इस शब्द का मैं आप लोगों के लिए अंग्रेज़ी में रूपान्तर न करूँगा, क्योंकि इसका विचार यूरोप में है ही नहीं। इसका रूपान्तर हो ही नहीं सकता। जर्मन दार्शनिकों ने उसका रूपान्तर 'सेल्फ़' शब्द से किया है, पर जब तक वह सर्व-मान्य न हो जावे, उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। अत उसे 'सेल्फ़'

आदि चाहे जिन नामों से पुकारिये, है वह यही हमारी 'आत्मा' स्थूल शरीर के पीछे यह आत्मा ही वास्तविक मनुष्य है। आत्मा ही स्थूल मस्तिष्क से, अन्तःकरण से, (जो कि उसका विशेष नाम है) काम कराती है। और मस्तिष्क अन्तरिन्द्रियों के द्वारा हमारी बहिरिन्द्रियों से काम करता है। यह मन क्या है ? पाश्चात्य दार्शनिकों ने तो अभी कल ही जान पाया है कि आँखें ही देखने की वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं, वरन् इनके पीछे वे अन्तरिन्द्रियाँ हैं, जिनके नष्ट होने पर हमारे यदि इन्द्र के समान सहस्र आँखें भी हों फिर भी हम देख न सकेंगे। यहीं तो, तुम्हारा सारा दार्शनिक विचार ही यह सिद्धान्त मानकर आरम्भ होता है कि आँखों की दृष्टि सच्ची दृष्टि नहीं है। सच्ची दृष्टि तो मस्तिष्क की अन्तरिन्द्रिय की है। उन्हें आप जो चाहें कहें, पर बात असली यह है कि हमारे नाक, कान, आँखें आदि हमारी वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं। सभी इन्द्रियों और मानस बुद्धि, चित्त और अहङ्कारक को मिलाकर अँग्रेजी में mind कहते हैं। अत यदि वर्तमान वैज्ञानिक तुमसे आकर कहता है कि मनुष्य का दिमाग ही मस्तिष्क है और इतनी इन्द्रियों से बना है, तो तुम उससे कह दो कि हमारे यहाँ के विद्वान् यह हमेशा से ही जानते थे, हमारे धर्म का तो यह वर्णं परिचय मात्र है।

आत्मा

इन्द्रिया क्या हैं ?

अच्छा, तो अब समझना यह है कि मानस, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार आदि का क्या अर्थ है। पहिले चित्त का अर्थ समझना चाहिये—वास्तव में यही अन्तःकरण का उपादान स्वरूप है। महत् का यही एक भाग है। मस्तिष्क और उसकी सभी दशाओं का बोध चित्त से होता है। मान लीजिये एक झील है, जो कि संध्या समय बिल्कुल ही शान्त है, उसमें एक छोटी सी भी लहर नहीं उठती। समझिये यही चित्त है। अब यदि उसमें कोई छोटा सा पत्थर फेंकता है, तो क्या होता है? पहिले पानी में पत्थर लगने की क्रिया होती है, फिर पानी में ही पत्थर के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है, जो कि एक लहर का रूप ले लेती है। पहिले तो पानी में थोडा सा कम्पन होता है, फिर शीघ्र ही प्रतिक्रिया होती है, जो कि लहर बन जाती है। हमारा चित्त इसी झील के समान है और बाह्य पदार्थ उसमें फेंके हुए पत्थरों के समान हैं। जैसे ही उसका इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों से संयोग होता है, बाह्य पदार्थों को अन्दर ले जाने के लिये वहाँ इन्द्रियाँ ज़रूर होनी चाहिए। तब वहाँ स्पन्दन होता है, जिसका नाम मानस, संशयात्मक अनिश्चित् है। इसके पश्चात् प्रतिक्रिया होती है जो निश्चयात्मिका बुद्धि होती है और इसी बुद्धि के साथ ही अहम् और बहिर्पदार्थ का ज्ञान साथ ही उत्पन्न होता है। मान लीजिये मेरे हाथ पर एक मच्छर बैठकर डँसता है। इन्द्रियों द्वारा चित्त में उसके कारण थोडी सनसनी पहुँचती है और उसमें थोडा स्पन्दन होता है। हमारे मनो-विज्ञान के मत

आदि चाहे जिन नामों से पुकारिये, है वह यही हमार 'आत्मा' स्थूल शरीर के पीछे यह आत्मा ह

आत्मा

वास्तविक मनुष्य है। आत्मा ही स्थूल मस्तिष्‍ से, अन्त करण से, (जो कि उसका विशेष ना है) काम कराती है। और मस्तिष्क अन्तरिन्द्रियों के द्वारा हमार बहिरिन्द्रियों से काम करता है। यह मन क्या है ? पाश्चात दार्शनिकों ने तो अभी कल ही जान पाया है कि आँखें ही देख की वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं, वरन् इनके पीछे वे अन्तरिन्द्रिय हैं, जिनके नष्ट होने पर हमारे यदि इन्द्र

इन्द्रिया क्या हैं ?

समान सहस्र आँखें भी हों फिर भी हम देख न सकेंगे। यहीं तो, तुम्हारा सारा दार्शनिक विचार ही यह सिद्धान्त मानकर आरम्भ होता है कि आँखों की दृष्टि सची दृष्टि नहीं है। सची दृष्टि तो मस्तिष्क की अन्तरिन्द्रियों की है। उन्हें आप जो चाहें कहें, पर बात असली यह है कि हमारे नाक, कान, आँखें आदि हमारी वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं। सभी इन्द्रियों और मानस, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारक को मिलाकर अँग्रेजी में mind कहते हैं। अत यदि वर्तमान वैज्ञानिक तुमसे आकर कहता है कि मनुष्य का दिमाग ही मस्तिष्क है और इतनी इन्द्रियों से बना है, तो तुम उससे कह दो कि हमारे यहाँ के विद्वान् यह हमेशा से ही जानते थे, हमारे धर्म का तो यह वर्ण परिचय मात्र है।

अच्छा, तो अब समझना यह है कि मानस, बुद्धि, चित्त, अहकार आदि का क्या अर्थ है। पहिले चित्त का अर्थ समझना चाहिये—वास्तव में यही अन्तःकरण का उपादान स्वरूप है। महत् का यही एक भाग है। मस्तिष्क और उसकी सभी दशाओं का बोध चित्त से होता है। मान लीजिये एक झील है, जो कि सन्ध्या समय बिल्कुल ही शान्त है, उसमें एक छोटी सी भी लहर नहीं उठती। समझिये यही चित्त है। अब यदि उसमें कोई छोटा सा पत्थर फेंकता है, तो क्या होता है? पहिले पानी में पत्थर लगने की क्रिया होती है, फिर पानी में ही पत्थर के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है, जो कि एक लहर का रूप ले लेती है। पहिले तो पानी में थोड़ा सा कम्पन होता है, फिर शीघ्र ही प्रतिक्रिया होती है, जो कि लहर बन जाती है। हमारा चित्त इसी झील के समान है और बाह्य पदार्थ उसमें फेंके हुए पत्थरों के समान हैं। जैसे ही उसका इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों से सयोग होता है, बाह्य पदार्थों को अन्दर ले जाने के लिये वहाँ इन्द्रियाँ ज़रूर होनी चाहिए। तब वहाँ स्पन्दन होता है, जिसका नाम मानस, संशयात्मक अनिश्चित् है। इसके पश्चात् प्रतिक्रिया होती है जो निश्चयात्मिका बुद्धि होती है और इसी बुद्धि के साथ ही अहम् और बहिर्पदार्थ का ज्ञान साथ ही उत्पन्न होता है। मान लीजिये मेरे हाथ पर एक मच्छर बैठकर डँसता है। इन्द्रियों द्वारा चित्त में उसके कारण थोड़ी सनसनी पहुँचती है और उसमें थोडा स्पन्दन होता है। हमारे मनो-विज्ञान क मत

फल, फूल, पत्ते सभी बदलते रहते हैं। फिर नदी कहाँ है? नदी इसी परिवर्तन-क्रम का नाम है, यही बात मन के सम्बन्ध में भी है, बौद्धों ने इसी क्रमिक परिवर्तन को लक्ष्य करके इस महान क्षणिक विज्ञान वाद मत की सृष्टि की। उसे ठीक ठीक समझना अत्यन्त कठिन है पर जिसका निराकरण बौद्धों में अत्यन्त तर्क और न्याय के साथ किया गया है। भारतवर्ष में ही वेदान्त के कुछ भागों के विरोध में इसका जन्म हुआ था। इसका भी उत्तर देना था और हम देखेंगे किस प्रकार इसका उत्तर केवल अद्वैत-वाद ही दे सका था। हम बाद में यह भी देखेंगे किस प्रकार अद्वैत वाद के विषय में लोगों की विचित्र धारणा और भयान्वित विचारों के होते हुए भी अद्वैत-वाद ही संसार का मुक्ति-मार्ग है, क्योंकि न्याय और तर्क के साथ संसार की समस्याओं का उत्तर उसीमें है। द्वैत-वाद आदि उपासना के लिए बहुत अच्छे हैं, मानव-हृदय को सन्तोष देते हैं, और शायद आत्म-ज्ञान की उन्नति में भी थोडी-बहुत सहायता देते हैं, पर यदि मनुष्य विचार निष्ठ और धर्म परायण होना चाहता है, तो उसके लिए संसार में अद्वैत-वाद ही एक गति है।

क्षणिक विज्ञान वाद और अद्वैत-वाद

जो हो, हम पहले से देख चुके हैं कि मन भी देह की तरह नदी के समान है, जो एक सिरे पर निरन्तर भरा करती है और दूसरे सिरे पर खाली होती रहती है। तो वह एकता कहाँ है, जिसे हम आत्मा कहते हैं? हम देखते हैं कि शरीर और मस्तिष्क में सतत

ारिवर्तन होने पर भी हम में कुछ ऐसी बात है जो अपरिवर्तनीय
है कई दिशाओं से आती हुई प्रकाश की किरणें, यदि किसी पर्दे
या दीवाल या अन्य किसी वस्तु पर, जोकि परिवर्तन-शील न हों,
गिरें, तभी वे एकता और सम्पूर्णता प्राप्त कर सकती हैं। इसी
प्रकार वह स्थान कौनसा है, जहाँ पर मानव इन्द्रियो के केन्द्रीभूत
होने से उसके सभी विचार एकता और सम्पूर्णता को प्राप्त होंगे?
यह स्थान मन तो हो नहीं सकता, क्योंकि मन भी परिवर्तन-
शील है। इसलिये कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये,
जो कि न तो शरीर हो, न आत्मा, तथा जिसमें
कभी परिवर्तन न होता हो और जिस पर हमारे सभी
विचार और भाव एकत्रित होकर एकता और
सम्पूर्णता प्राप्त कर सकें। यही वस्तु वास्तव में मनुष्य
की आत्मा है। यह देखते हुए कि सभी भौतिक प्रकृति, चाहे
उसे तुम सूक्ष्म कहो, चाहे मस्तिष्क कहो, परिवर्तनशील है
तथा स्थूल प्रकृति और यह बाह्य संसार उसके समक्ष क्षणिक
है, वह अपरिवर्तनशील आत्मा किसी भौतिक पदार्थ की बनी
हुई नहीं हो सकती। वह आत्मिक अर्थात् भौतिक नहीं है, वरन्
अविनाशी और स्थिर है। इसके बाद एक और प्रश्न उठता है।

आत्मा अचल और अखंड है

इस बाह्य ससार को किसने बनाया? भौतिक प्रकृति को
किसने जन्म दिया? आदि प्रश्नों को, जो कि सृष्टि के सम्बन्ध
में उत्पन्न होते हैं, छोडकर अब एक दूसरा प्रश्न है। सत्य को
यहा मनुष्य की अन्तर्प्रकृति से जानना है और यह प्रश्न भी

उमी भाँति उठता है, जिस प्रकार कि आत्मा के विषय में प्र
उठा था। अगर यह मान लें कि प्रत्येक पुरुष में एक अविना
और स्थिर आत्मा है, यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि ₹
आत्माओं में विचार, भाव व सहानु-भूति की एकता हो
चाहिये। नहीं तो किस तरह मेरी आत्मा किस यत्र क द्वा
किस प्रकार तुम्हारी आत्मा को प्रभावित कर सकती है?
हृदय मे तुम्हारी आत्मा के विषय में कोई भी भाव व विच
कैसे उत्पन्न होता है? वह क्या है, जिसका सम्बन्ध हम दो
की आत्माओं से है? इसलिये एक ऐसी आत्मा मानने
वैज्ञानिक आवश्यकता है, जिसका सम्वन्ध सभी आत्माओं
प्रकृति से हो, एक ही आत्मा जो कि असख्य आत्माओं
ओत प्रोत भाव से व्याप्त हो, उनमें पारस्परि
सहानुभूति व प्रेम उत्पन्न करती हो और
से दूसरे के लिए कार्य कराती हो। यह स
आत्माओं मे व्याप्त विश्व का उपास्य देवता, परमात्मा है।
सारे ससार के स्वामी हैं। साथ ही परिणाम यह भी निकलत
कि आत्मा के स्थूल प्रकृति से वड़े न होने के कारण वह स
प्रकृति के नियमों से बाध्य भी न होगी। हमारे प्राकृति
नियम उस पर लागू न होंगे। इसलिये वह अविनाशी आ
स्थिर है।

परमात्मा

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावक ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽयं सनातन ॥

"आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, ाल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। आत्मा मदाह्य, अभेद्य और अशोष्य तथा स्थिर, अचल, सनातन व सर्वव्यापक है।" तब यह आत्मा क्या करती है ? गीता के और दान्त के भी अनुसार आत्मा विभु है तथा कपिल के अनुसार सर्व-व्यापी भी। निस्सन्देह भारतवर्ष में ऐसे मत हैं, जिनके अनुसार यह आत्मा 'अणु' है, पर उनका तात्पर्य यह है कि कट होने में ही वह 'अणु' है, उसकी वास्तविक प्रकृति तो 'विभु' है।

इसके साथ ही एक और विषय पर विचार करना होगा जो कि देखने में पहले कुछ अद्भुत प्रतीत होता है, पर है भारतवर्ष के लिये बिलकुल ही स्वाभाविक। हमारे सभी धर्मों और सम्प्रदायों में वह विद्यमान है। इसलिये मैं आप लोगों से उस पर विशेष ध्यान देने और उसे याद रखने के लिये प्रार्थना करता हूँ। विचार यह है। पश्चिम के जिस भौतिक विकास-वाद (Evolution) के सिद्धान्त का जर्मन और अंग्रेज विद्वानों ने प्रचार किया है, उसके विषय में आप लोगों न सुना होगा। उनका कथन है कि विभिन्न पशुओं के शरीर वास्तव में एक हैं, एक ही नियमित क्रम के वे भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक क्षुद्रतम

कीट से लेकर एक महान-से-महान मनुष्य तक सभी एक
एक दूसरे के रूप में बदलता जाता है
इस प्रकार ऊँचे चढते-चढते अंत में वह सम्पूर्ण
प्राप्त कर लेता है। हमारे यहाँ भी
विचार था। योगी पातञ्जलि कहतेहैं—"जात्य
परिणाम।" एक जाति का दूसरी जाति

प्राच्य और पाश्चात्य विकास वाद

परिवर्तन (परिणाम) होता है। हमारे और पाश्चात्यों
विचार में फिर अन्तर कहाँ रहा? "प्रकृत्यापूरात्।" प्रकृ
के पूरे होने से। पाश्चात्य विद्वान कहते हैं कि जीव
संग्राम में प्रति द्वंन्द्वता होने होडा होडी से तथा नर-माद
सम्बन्ध-विचार आदि से एक शरीर अपना रूप बदलता है
पर यहाँ पर एक और भी सुन्दर विचार है, समस्या का
और भी सुचारु निराकरण है—"प्रकृत्यापूरात।" इसका
क्या है? हम यह मानते हैं कि एक क्षुद्रतम कीट में स्थित-
धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ बुद्ध बनता है, पर साथ ही हमें
भी विश्वास है कि किसी मशीन से तुम यथेच्छ काम
नहीं ले सकते, जब तक कि उसे तुम दूसरे सिरे पर न रक्खो
शक्ति का परिमाण एक ही रहेगा, रूप उसका चाहे जो हो।
शक्ति का कोई परिमाण तुम एक सिरे पर रखना चाहते हो,
दूसरे सिरे पर भी तुम्हें शक्ति का वही परिमाण रखना हो
रूप उसका चाहे जो हो। इसलिये यदि परिवर्तन-क्रम का
सिरा बुद्ध है, तो दूसरा सिरा वह क्षुद्र-जीव अवश्य होगा।

बुद्ध उसी जीव का सम्पूर्ण विकास पाया हुआ रूप है, तो वह जीव भी बुद्ध का अविकसित रूप रहा होगा। यदि यह ब्रह्माण्ड अनन्त शक्ति का प्रकटीकरण है, तो प्रलय की दशा में इसी शक्ति का वह अविकसित रूप रहा होगा। अन्यथा हो नहीं सकता। इसका परिणाम यह निकलता है कि प्रत्येक आत्मा अनन्त है। उस छोटे-से छोटे कृमि से लेकर, जोकि तुम्हारे पैरो के नीचे रेंगता है, बड़े-से-बड़े महात्मा तक—सभी में यह अनन्त शक्ति, यह अनन्त पवित्रता और सब कुछ अनन्त है। भिन्नता केवल प्रकटित रूप में है। कृमि उस शक्ति-की एक बहुत ही थोड़ी मात्रा को प्रकट करता है, तुम उससे अधिक, एक महात्मा तुम से भी अधिक। अन्तर बस इतना ही है। फिर भी है तो। पातञ्जलि कहते हैं—"तत क्षेत्रिकावत्।" "जिस प्रकार किसान खेत सींचता है।" अपने खेत को सींचने के लिए उसे एक जलाशय से पानी लाना है, जिसमें मान लीजिये एक बाँध बँधा है, जिसके कारण पानी खेत में सम्पूर्ण वेग से नहीं आ सकता। जब उसे पानी की आवश्यकता होगी, तब उसे केवल उस बाँध को हटा देना होगा और पानी खेत में आकर भर जायगा। शक्ति बाहर से नहीं लाई गई, जलाशय में वह पहिले से ही थी। इसी प्रकार हम में से प्रत्येक के पीछे ऐसी ही अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता, चिदानन्द, अमर जीवन का विशाल सिन्धु भरा हुआ है, केवल इन शरीररूपी बाँधों के कारण हम अपनी सम्पूर्णता का अनुभव नहीं कर सकते। जैसे ही हमारे शरीरों की स्थूलता छटती

काल तक हाथ बाँधे ईश्वर के सामने खडा रहना ही है, तो इससे तो आत्महत्या करके मर जाना ही अधिक श्रेयकर होगा। बौद्ध यह भी कह सकता है कि इसीसे बचने के लिये उसने निर्वाण बनाया है।

मैं आप लोगों के ठीक बौद्धों की तरह ये बातें कह रहा हूँ, जिससे आपको दोनो पक्षों के विचारों का पूर्ण ज्ञान होजावे। आज-कल कहा जाता है कि अद्वैतवाद के द्वारा लोग दुर्नीति परायण हो जाते हैं। इसीलिये दूसरे पक्ष को क्या कहना है, वही आप लोगों को बतला रहा हूँ। मुझे दोनों पक्षों को निर्भीकता पूर्वक कहना होगा। हम देख चुके हैं कि इस सृष्टि को बनानेवाला व्यक्तिगत ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता। आज कोई बच्चा भी क्या ऐसे ईश्वर में विश्वास करेगा? एक कुम्हार घडा बनाता है, इसलिये परमेश्वर भी यह ससार बनाता है—यदि ऐसा है, तब तो कुम्हार भी परमेश्वर है और यदि कोई कहे कि ईश्वर बिना सिर पैर और हाथों के रचना करता है, तो उसे तुम बेशक पागलखाने ले जा सकते हो। आधुनिक विज्ञान का दूसरा चैलेञ्ज यह है—"अपने व्यक्तिगत ईश्वर से, जिसके सामने तुमने जन्म भर चिल्लाये हो, क्या कभी कोई सहायता पाई है?" वैज्ञानिक यह सिद्ध कर देंगे कि रोने-गिड़गिडाने में तुमने व्यर्थ [illegible] शक्ति खर्च की। जो कुछ सहायता मिली भी, उसे [illegible] रोये-गिड गिडाये अपने प्रयत्नों [illegible] उपार्ज[illegible] से। इस व्यक्तिगत ईश्वर के विरु[illegible]

गुरुओं का भी जन्म होता है। जहाँ भी यह विचार रहा है, वहाँ धर्म-गुरु और अत्याचार भी अवश्य रहे हैं। बौद्ध कहते हैं, जब तक तुम अपने मिथ्या सिद्धान्त का ही समूल नाश न कर दोगे, तब तक इस अत्याचार का अन्त नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य सोचेंगे कि उन्हें अपने से एक अधिक शक्तिशाली व्यक्ति से याचना करनी पड़ेगी, तब तक धर्मगुरु भी रहेंगे, गरीब आदमियों और ईश्वर के बीच में वे दलाली करने के लिए सदा तैयार रहेंगे और इसलिये अपने लिये विशेष अधिकार भी माँगेंगे। तुम ब्राह्मण जाति का समूल नाश करके सकते हो पर यह विशेष रूप याद रक्खो, वह स्वयं ही उसके स्थान में धर्मगुरु बन जायगा और पहलेवाले में तो थोड़ी दया भी थी, यह बिल्कुल ही निर्दय अत्याचारी होगा। यदि किसी भिखारी को थोड़ा सा धन मिल जाता है, तो वह सारे ससार को कुछ नहीं गिनता। इसलिये जब तक व्यक्तिगत-ईश्वर की उपासना रहेगी तब तक यह धर्म-गुरुओ का सम्प्रदाय भी रहेगा और तब तक समाज में उच्च भाव पैदा नहीं हो सकते। धर्म-गुरुऔर अत्याचर हमेशा कन्धे से कन्धा मिलाकर चलेंगे, फिर इनकी कल्पना किसने की? पुराने ज़माने में कुछ सबल पुरुषों ने शेष निर्बल पुरुषों को अपने वश में कर लिया और उनसे कहा—"तुम हमारा कहना न मानोगे, तो हम तुम्हें निर्मूल कर देंगे।" संक्षेप में इसी प्रकार व्यक्ति विशेष ईश्वर की कल्पना हुई थी, इसका और कोई करण नहीं। "सभयम् वज्रमुद्यतम्।"

एक वज्र धारण करने वाला पुरुष जो था आज्ञा न मानता उसीका नाश कर देता था। इसके बाद बौद्ध कहता है कि यहाँ तक तो तुम युक्तियुक्त कहते हो कि हमारी वर्तमान दशा हमारे पूर्व-कर्म का फल है। तुम सभी विश्वास करते हो कि आत्मा अनादि और अनन्त है, आत्माएँ असंख्य हैं, हमें पूर्व कर्म का इस जन्म में फल मिलता है। यह सब तो ठीक है, क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता, भूत-कर्म का फल वर्तमान में मिलता है और वर्तमान-कर्म का भविष्य मे। हिन्दू कहता है कि कर्म जड है न कि चैतन्य इसलिए इस कर्म का फलादान के लिए किसी चैतन्य की आवश्यकता है, पर क्या पौधे की बढ़त के लिए भी चैतन्य की ज़रूरत होती है? यदि मैं बीज बोकर उसे पानी से सींचू, तब तो उसके बढने में किसी चैतन्य की आवश्यकता नहीं पडती। वृक्ष अपने ही आप बढता है। तुम कह सकते हो, उसमें कुछ चैतन्य पहले से ही था, पर आत्मा भी तो चैतन्य है और चैतन्य का क्या करना है? यदि आत्मा चैतन्य है, तो बौद्धों के विरुद्ध आत्मा में विश्वास करने वाले जैनों के कथनानुसार, ईश्वर में विश्वास करने की क्या आवश्यकता है! हे द्वैत-वादी अब आप की युक्ति कहा है? आप की नीति की बुनियाद कहाँ है? और अब तुम कहते हो कि अद्वैत-वाद से पाप बढा है, तब द्वैत-वादियों के कारनामों पर भी तो दृष्टि पात करो, हिन्दुस्तान की कचहरियो की कितनी इन लोगों से आमदनी हुई है। यदि देश म बीस हजार अद्वैत-वादी बदमाश

है, तो द्वैतवादी बदमाश भी बीस हज़ार से कम नहीं हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो, द्वैतवादी ही बादमाश ज्यादा होंगे, क्योंकि अद्वैतवाद को समझने के लिए अधिक अच्छा दिमाग चाहिए, जिसे भय और लोभ सहसा दबा न सकेगा। अब किसका सहारा लोगे? बौद्ध के पञ्जों से कोई छुटकारा नहीं। तुम वेदों का प्रमाण दो, उनमें उसे विश्वास नहीं। वह कहेगा—'हमारे त्रिपिटक कहते हैं, नहीं और उनका भी न आदि है न अन्त। स्वय बुद्ध ने भी उन्हे नहीं बनाया, क्योंकि वह केवल उनका पाठ करते थे। त्रिपिटक सर्वकालीन हैं। बौद्ध यह भी कहते हैं कि तुम्हारे वेद झूठे हैं, हमारे ही सच्चे हैं। तुम्हारे वेद ब्राह्मणों की कल्पना है, इसलिए हटाओ उन्हें दूर।'" अब बताओ किधर से भाग कर बचोगे?

बौद्धों के युक्ति जाल को काट फेंकने का उपाय बतलाया जाता है उनका पहला झगड़ा यही लो कि पदार्थ और गुण भिन्न-भिन्न हैं, अद्वैतवादी कहता है, नहीं हैं। पदार्थ और गुण भिन्न नहीं हैं। तुम्हें पुराना उदाहरण याद होगा कि किस प्रकार भ्रमवश रस्सी साँप समझी जाती है और जब साँप दिख जाता है, तब रस्सी कहीं नहीं रहती। पदार्थ और गुण का भेद विचारक के मस्तिष्क में ही होता है, वास्तव में नहीं। यदि तुम साधारण मनुष्य हो, तो तुम पदार्थ देखते हो और यदि बड़े योगी हो तो केवल गुण, पर दोनों ही

अद्वैतवाद के द्वारा बौद्धमत और द्वैतमत का सामजस्य

एक वस्त्र धारण करने वाला पुरुष जो था आशा न भ ..
उसीका नाश कर देता था। इसके बाद बौद्ध कहता है कि यहाँ तक
तो तुम युक्तियुक्त कहते हो कि हमारी वर्तमान दशा
हमारे पूर्व-कर्म का फल है। तुम सभी विश्वास करते हो कि
आत्मा अनादि और अनन्त है, आत्माएँ असंख्य हैं, हमें पूर्व-कर्म
का इस जन्म में फल मिलता है। यह सब तो ठीक है, क्योंकि
विना कारण के कार्य नहीं हो सकता, भूत-कर्म का फल वर्तमान
में मिलता है और वर्तमान-कर्म का भविष्य मे। हिन्दू कहता है
कि कर्म जड है न कि चैतन्य इसलिए इस कर्म का फल देने के
लिए किसी चैतन्य की आवश्यकता है, पर क्या पौधे को बढ़ाने
के लिए भी चैतन्य की जरूरत होती है? यदि मैं बीज बोऊँ
उसे पानी से सींचू, तब तो उसके बढने में किसी चैतन्य की
आवश्यकता नहीं पडती। वृक्ष अपने ही आप बढ़ता है। तुम
कह सकते हो, उसमें कुछ चैतन्य पहले से ही था, पर आत्मा
भी तो चैतन्य है और चैतन्य का क्या करना है? यदि आत्मा
चैतन्य है, तो बौद्धों के विरुद्ध आत्मा में विश्वास करने वाले जैनों
के कथनानुसार, ईश्वर में विश्वास करने की क्या आवश्यकता है।
हे द्वैत-वादी अब आप की युक्ति कहा है? आप की नीति की
बुनियाद कहाँ है? और जब तुम कहते हो कि अद्वैत-वाद से
पाप बढा है, तब द्वैत-वादियों के कारनामों पर भी तो दृष्टि पात
करो, हिन्दुस्तान की कचहरियों की कितनी इन लोगों से
आमदनी हुई है। यदि देश में बीस हजार अद्वैत-वादी बदमाश

हैं, तो द्वैतवादी बदमाश भी बीस हज़ार से कम नहीं हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो, द्वैतवादी ही बादमाश ज़्यादा होंगे, क्योंकि अद्वैतवाद को समझने के लिए अधिक अच्छा दिमाग चाहिए, जिसे भय और लोभ सहसा दबा न सकेगा। अब किसका सहारा लोगे? बौद्ध के पञ्जों से कोई छुटकारा नहीं। तुम वेदो का प्रमाण दो, उनमें उसे विश्वास नहीं। वह कहेगा—'हमारे त्रिपिटक कहते हैं, नहीं और उनका भी न आदि है न अन्त। स्वय बुद्ध ने भी उन्हें नहीं बनाया, क्योंकि वह केवल उनका पाठ करते थे। त्रिपिटक सर्वकालीन हैं। बौद्ध यह भी कहते हैं कि तुम्हारे वेद झूठे हैं, हमारे ही सच्चे हैं। तुम्हारे वेद ब्राह्मणों की कल्पना है, इसलिए हटाओ उन्हें दूर!" अब बताओ किधर से भाग कर बचोगे?

बौद्धों के युक्ति जाल को फाट फेंकने का उपाय बतलाया जाता है उनका पहला झगडा यही लो कि पदार्थ और गुण भिन्न-भिन्न हैं, अद्वैतवादी कहता है, नहीं हैं। पदार्थ और गुण भिन्न नहीं हैं। तुम्हें पुराना उदाहरण याद होगा कि किस प्रकार भ्रमवश रस्सी साँप समझी जाती है और जब साँप दिख जाता है, तब रस्सी कहीं नहीं रहती। पदार्थ और गुण का भेद विचारक के मस्तिष्क में ही होता है, वास्तव में नहीं। यदि तुम साधारण मनुष्य हो, तो तुम पदार्थ देखते हो और यदि बड़े योगी हो तो केवल गुण, पर दोनों ही

अद्वैतवाद के द्वारा बौद्धमत और द्वैतमत का सामजस्य

एक साथ तुम नहीं देख सकते। इसलिए बौद्ध जी, आपका पदार्थ और गुण का झगड़ा मानसिक भूल-भुलैयाँ भर था, वास्तविक नहीं, पर यदि पदार्थ निर्गुण है, तो वह केवल एक ही हो सकता है। यदि आत्मा पर से गुणों को हटा दो, तो दो आत्माएँ न रहेंगी, क्योंकि आत्माओं की भिन्नता गुणों के ही कारण होती है। गुणों के ही द्वारा तो तुम एक आत्मा को दूसरी आत्मा से भिन्न करके मानते हो, गुण तो वास्तव में हमारे मस्तिष्क में ही होते हैं, आत्मा में नहीं। जब गुण न रहेंगे, तब दो आत्माएँ भी न होंगी। अतएव आत्मा एक ही है, तुम्हारे परमात्मा की कोई आवश्यकता नहीं। यह आत्मा ही सब कुछ है। यही परमात्मा है, यही जीवात्मा भी। और सांख्य आदि द्वैतवाद जो आत्मा को विभु बताते हैं, सो दो अनन्त कैसे हो सकते हैं? यह आत्मा ही अनन्त और सर्व-व्यापी है, अन्य सब इसी के नाना रूप हैं।

इस उत्तर से तो बौद्ध जी रुक गए, पर अद्वैतवाद बौद्ध को चुप करके ही नहीं रुकता। अन्य कमज़ोर वादों की भाँति अद्वैतवाद दूसरों की आलोचना करके ही चुप नहीं हो जाता। उसके अपने सिद्धान्त भी हैं। अद्वैतवादी, जब कोई उसके बहुत निकट आ जाता है, तो उसे थोड़ा पछाड़ भर देता है और फिर अपने स्थान पर आजाता है। एक मात्र अद्वैतवाद ही ऐसा है, जो कि आलोचना करके चुप नहीं रहता, अपने पुस्तकें ही नहीं दिखाता, वरन् अपने सिद्धान्तों को भी बताता है।

अच्छा तो तुम कहते हो यह ब्रह्माण्ड घूमता है। व्यष्टि प्रत्येक वस्तु घूमती है। तुम घूम रहे हो, यह मेज़ घूम रही है, गति सर्व हो रही है इसी से इसका नाम "संसार" है। (सृ धातु का अर्थ घूमना है) सतत घूमने से उनका नाम "जगत्" है। (गम् धातु किप जगत् अविरामं गति।) इसलिए इस जगत् में कोई एक व्यक्तित्व हो नहीं सकता। व्यक्तित्व उसका होता है, जिसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन-शील व्यक्तित्व कैसा? यह दोनों शब्द तो विरोधी हैं। इस जगत में, हमारे इस छोटे से ससार में, कोई भी व्यक्तित्व नहीं। विचार और भाव, मन और शरीर, पशु-पक्षी सभी हर समय परिवर्तन की दशा में रहते हैं। जो हो तुम समस्त ब्रह्माण्ड को समष्टि रूप में लो, तो क्या यह भी घूम सकता है, क्या इसमें भी परिवर्तन हो सकता है? कदापि नहीं। गति का ज्ञान तभी होता है, जब किसी भी वस्तु की गति या तो कम हो या हो ही नहीं। इसलिये हमारा ब्रह्माण्ड स्थिर और अपरिवर्तनशील है। इसलिए तुम एक व्यक्ति तभी होगे जबकि सारे ब्रह्माण्ड में मिल जाओगे जबकि "मैं ही ब्रह्माण्ड हूँगा"। इसीलिये वेदान्ती कहता है कि जब तक द्वद-भाव रहेगा तब तक भय का अन्त न होगा। जब दूसरे का भेद-ज्ञान नष्ट हो जाता है और एक ही एक रह जाता है तभी मृत्यु का नाश होता है। मृत्यु, ससार कुछ नहीं रहता। इसलिये अद्वैतवादी कहता है—"जब तक तुम अपने आपको ससार से भिन्न समझते हो, तब तक तुम्हारा कोई व्यक्तित्व नहीं। तुम तभी अपना व्यक्तित्व-

लाभ करोगे, जब ब्रह्माण्ड में मिलकर एक हो जाओगे।" सम्पू
मिलकर ही तुम अमरता प्राप्त करोगे। जब तुम ब्रह्माण्ड हो जाओ
तभी तुम निर्भय और अविनाशी भी होगे। जिसे तुम ईश्वर क
हो, वह यह ब्रह्माण्ड ही है, वह सम्पूर्ण है, वही तुम भी है
इस एक' सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को साधारण स्थिति के हमारे
मस्तिष्क वाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि नाना रूपों में देखते है
जिन्होंने हमसे और अच्छे कर्म किए हैं, मरने पर वे इसे स्व
इन्द्र आदि के रूप में देखते हैं, जो इनसे भी ऊँचे होते हैं वा
ब्रह्म-लोक करके देखते हैं, पर जो सम्पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं,
न मृत्युलोक देखते हैं, न स्वर्ग-लोक, न ब्रह्म-लोक। तब तो
ब्रह्माण्ड का ही लोप हो जाता है और केवल ब्रह्म ही ब्र
रह जाता है।

क्या हम इस ब्रह्म को जान सकते हैं? संहिता में अनन्त
चित्रण का वर्णन मैं आपसे कर चुका हूँ। यहाँ पर दूसरे अनन्
का वर्णन है। पहिला अनन्त भौतिक प्रकृति क
था, यह अनन्त आत्मा का है। पहिले सीध
भाषा में उनका वर्णन कर दिया गया था, प
इसप्रकार जब उस तरह काम न चला, तो नेति-नेति

ब्रह्म को जाना जा सकता है या नहीं?

का आश्रय लेना पड़ा। यह ब्रह्माण्ड हम देखते हैं, इसे ब्रह्म मानते
हुए भी क्या हम उसे जान सकते हैं? नहीं, नहीं, आप इस ब
बात को भली-भाँति समझ रक्खें। बार-बार आपके हृदय में य
प्रश्न उठेगा कि यदि यह ब्रह्म है, तो हम उसे कैसे जान सकते हैं!

"विज्ञातारम् केन विजानीयात् ।" हे मैत्रेयी, जानने वाले को किस प्रकार जाना जा सकता है ? आँखें सब कुछ देखती हैं, पर क्या वे अपने आपको भी देख सकती हैं ? नहीं, यदि वे देख ली जायँ, तो उनका महत्व ही कम हो जाय। हे आर्य सन्तानो, तुम इसतत्व को याद रक्खो , क्योंकि इसतत्व के भीतर एक बडा रहस्य छिपा हुआ है। तुम्हें आकर्षण करनेवाले सभी पाश्चात्य विचारों की नींव यही है कि इन्द्रियों के ज्ञान की अपेक्षा ऊँचे ज्ञान नहीं है। हमारे वेदों में कहा गया है कि इन्द्रियों का ज्ञान ज्ञेय वस्तु से भी तुच्छ होता है क्योंकि वह सदा परिमित होता है। जब तुम किसी वस्तु को जानना चाहते हो, तो तुम्हारे मन के कारण वह तुरन्त परिमित होजाती है। पहले कहे हुए दृष्टान्त मे यह कहा गया है कि किस प्रकार सीप से मोती बनता है। इस उदाहरण पर विचार करो और देखो किस प्रकार ज्ञान परिमित है। एक वस्तु को तुम जान पाते हो, पर पूर्णतया नहीं। सभी ज्ञान के विषय मे यह बात घटित होती है। तब क्या अनन्त को तुम जान सकते हो ? हमारी आत्माओं तथा समस्त विश्व में स्थित उस निर्गुण साक्षी को जो कि सभी ज्ञान का तत्व है, क्या तुम जान सकते हो ? उस निःसीम को तुम किन सीमाओं से बाँध सकते हो ?

जो कुछ देखते हो, वे सभी वस्तुएँ, यह सारा ब्रह्माण्ड ही अनन्त की जानने की निष्फल चेष्टा हैं। यह अनन्त आत्मा ही मानों छोटे-से-छोटे कीट से लेकर बड़े-से-बड़े देवता तक समस्त

प्राणी-रूपी दर्पणों में अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहती है और फिर भी उन्हें कम पाती है, यहाँ तक कि मानव शरीर में उसे इस बात का ज्ञान होता है कि यह सब ससीम और सान्त हैं। सान्त में अनन्त का प्रदर्शन नहीं हो सकता। इसके बाद पीछे

वैराग्य का मूल तत्व

लौटना आरम्भ होता है। इसी का नाम वैराग्य है, पर इन्द्रियों को छोड फिर इद्रियों के पास न चलो। सभी सुख और सभी धर्म का मूल-मन्त्र यह वैराग्य ही है, क्योंकि याद रक्खो, इस दर्शन का आरभ ही तपस्या से हुआ है। जैसे ही तुम्हें अधिकाधिक वैराग्य होता जायगा, वैसे ही सभी रूपों का लोप होता जायगा और अन्त में जो तुम हो वही रह जाओगे। इसी का नाम मोक्ष है।

इस विचार को हमें भली-भाँति समझ लेना चाहिये "विज्ञातारम् केन विजानीयात्।" बृहदा० २।४।१८ जाननेवाले को किस प्रकार जाना जाय? ज्ञाता को कभी जाना नहीं जा सकता। क्योंकि यदि वह जान लिया जायगा, तो जानने वाला न रहेगा। दर्पण में तुम जिन आँखों को देखते हो वे तुम्हारी वास्तविक आँखें नहीं, वरन् उनका प्रतिबिम्ब भर हैं। इसलिये यह सर्व व्यापी और अनन्त आत्मा जो कि तुम हो, यदि केवल साक्षी है, तो क्या फ़ायदा हुआ? हमारी भाँति संसार में रहकर वह उसका सुख-भोग नहीं कर सकती। लोगों की समझ में नहीं आता कि साक्षी सुख का अनुभव कैसे

कर सकता है। "हिन्दुओ! तुम इस मिथ्या सिद्धान्त को मानकर बिल्कुल निकम्मे हो गए हो।" यह बात सभी लोग कहते हैं इसका उत्तर यह है कि पहले सुख का सच्चा अनुभव तो साक्षी ही कर सकता है। यदि कहीं कुश्ती हो, तो किसे अधिक आनद आवेगा, देखनेवालों को या लड़नेवालों को? जीवन में जितना ही अधिक तुम किसी वस्तु को साक्षी होकर देखोगे, उतना ही अधिक तुम उसका आनन्द ले सकोगे। इसी का नाम प्रकृत आनन्द है, इसलिए अनन्त आनन्द तुम तभी पा सकोगे, जब साक्षी-रूप में इस सभी ब्रह्माण्ड को देखोगे, तभी तुम मुक्त पुरुष होगे। जो साक्षी स्वरूप है वही निष्काम भाव से स्वर्ग जाने की किसी कामना के बिना कीर्ति-अपकीर्ति की इच्छा से कार्य्य कर सकता है। साक्षी को ही वास्तविक आनन्द मिलता है, अन्य को नहीं।

"अद्वैतवाद के नैतिक भाग की आलोचना करने मे दार्शनिक और नैतिक भाग के बीच एक और विषय आ जाता है वह है माया वाद। अद्वैतवाद के अन्तर्गत एक एक विषय को को समझने और समझाने के लिए महीने और वर्ष चाहिए। अत यदि यहाँ मैं उनका सक्षेप में ही वर्णन करूँ तो, आप लोग मुझे क्षमा करेंगे। माया के सिद्धात को समझने में सदैव कठिनता पडी है। संक्षेप में मैं आपको बताता हूँ कि माया का वास्तव में कोई मत का सिद्धात नहीं है। माया देश, काल और निमित्त के तीन विचारों का समुच्चय है, और भी

घटाकर केवल नामरूप रह जाता है। मान लीजिए कि सागर में एक लहर आई है। लहर सागर से फक्त

माया-वाद

नाम और रूप में ही भिन्न है और यह नाम रूप लहर से भिन्न नहीं किए जा सकते। अब लहर चाहे पानी में मिल जावे, पर पानी उतना ही रहेगा। यद्यपि अब लहर का नाम रूप नहीं रहा। इसी प्रकार यह माया ही हममें, तुममें, पशुओं और पक्षियों में, मनुष्यों और देवताओं में अन्तर डालती है। इस माया के ही कारण आत्मा अनन्त नाम रूप वाले पदार्थों मे विभक्त दिखाई देती है। यदि नाम और रूप का विचार तुम छोड दो, तो तुम जो सदा थे, वही रह जाओगे। इसी को माया कहते हैं। फिर देखो, यह कोई मत का सिद्धान्त नहीं, वरन् जगत की घटनाओं का स्वरूप वर्णन मात्र है।

यथार्थवादी कहता है कि इस संसार का अस्तित्व है। वह अज्ञानी बच्चे की तरह कहता है कि इस मेज़ का एक अपना अस्तित्व है जिसका ससार की किसी वस्तु से

वस्तुओं केजानने सम्बन्ध नहीं तथा यदि यह सारा ससार नष्ट हो की तीन सीढिया जाय, तो फिर भी यह रहेगी। थोड़े ही ज्ञान से पता चल जाता है कि यह भूल है। इस भौतिक संसार में प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व केलिये दूसरी पर निर्भर है। हमारे ज्ञान की तीन सीढ़ियाँ हैं। पहिली तो यह कि प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है एक दूसरी से भिन्न है। वस्तुओं की

पारस्परिक निर्भरता को समझना दूसरी सीढ़ी है। एक ही वस्तु है जिसके यह सब नाना रूप हैं—इस सत्य का ज्ञान अन्तिम सीढी है।

ईश्वर धारणा के तीन सोपान

अज्ञानी पुरुष की ईश्वर-विषयक पहली धारणा यह होती है कि वह कहीं संसार से अलग स्थित है अर्थात् ईश्वर की यह धारणा बहुत ही मानुषिक है। वह वही करता है, जो मनुष्य करता है, केवल अधिक परिमाण में। हम देख ही चुके हैं कि ऐसा ईश्वर कितनी जल्दी न्याय और तर्क के विरुद्ध तथा परिमित शक्तिवाला सिद्ध किया जा सकता है। ईश्वर सम्बन्धी दूसरा विचार एक सर्व-व्यापी शक्ति का है। यही प्रकृत सगुण ईश्वर है। चण्डी में ऐसे ही ईश्वर की कल्पना की गई है, पर ध्यान दीजिये, यह ईश्वर ऐसा नहीं है, जो केवल शुभ-गुणों की ही खान हो। अच्छे गुणों के लिये ईश्वर और दुर्गुणों के लिये शैतान, तुम दो को नहीं मान सकते। एक ही ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा और उसी पर विश्वास करके अच्छा बुरा दोनों कहना पडेगा और इस युक्ति संगत मत को स्वीकार करने पर जो स्वाभाविक सिद्धान्त हो उसे स्वीकार करना पड़ेगा

या देवी सर्वभूतेषु शान्ति रूपेण सस्थिता,
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनम । ५ । ४६

या देवी सर्व भूतेषु भ्रान्ति रूपेण संस्थिता।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनम । ५ । ७६ चण्डी।

जो सब प्राणियों में शान्ति और भ्रान्ति रूप में स्थित है, उन्हें नमस्कार करता हूँ।

जो हो उन्हें केवल शान्ति स्वरूप कहने से काम नहीं चल सकता, उसे सर्व स्वरूप कहने से उसका जो फल हो, उसे लेना पड़ेगा। "हे गार्गी, संसार में जहाँ कहीं भी सुख है, वह तेरा ही एक अंश है।" इसका उपयोग आप जो चाहें, करें। इसी प्रकाश में आप एक ग़रीब आदमी को सौ रुपये दे सकते हैं और दूसरा आपके जाली हस्ताक्षर कर सकता है, पर प्रकाश दोनों के लिये एक ही होगा। यही ईश्वरीय ज्ञान की दूसरी सीढ़ी है। तीसरी सीढ़ी इस बात का ज्ञान होना है कि ईश्वर, न प्रकृति के बाहर है न भीतर, किन्तु ईश्वर, प्रकृति, आत्मा और ब्रह्माण्ड सब पर्यायवाची शब्द हैं। दोनों वस्तुयें वास्तव में एक नहीं है। कई दार्शनिक शब्दों ने आपको धोखे में डाल दिया है। आप समझते हैं कि हमारे एक शरीर है, एक आत्मा तथा दोनों मिलाकर हम हैं। ऐसा कैसे हो सकता है? एकबार अपने ही मन में विचार करके देखिये। यदि आप लोगों में कोई योगी है, तो वह समझता है कि मैं चैतन्य हूँ। उसके लिये शरीर है ही नहीं। यदि आप साधारण पुरुष हैं, तो समझते हैं कि यह शरीर मैं हूँ, उस समय चैतन्य का ज्ञान एक दम जाता रहता है किन्तु मनुष्य को देह है, आत्मा है और भी कई वस्तुयें हैं, ये कई दार्शनिक

धारणायें रहने से उसे मालूम होता है कि ये एक ही रहती हैं। जब जड को देखते हो, तब ईश्वर की बात न करो। तुम केवल कार्य ही देखते हो, कारण नहीं देख सकते और जिस क्षण तुम कारण देख लोगे, उस क्षण कार्य रहेगा ही नहीं। यह ससार कहाँ है, उसे कौन लील गया ?

किमपि सतत वोध केवलानद रूप,
निरुपम मति वेल नित्य मुक्त निरीहम्।
निरवधि गगनाभ निष्कल निर्विकल्पम्,
हृदि कलयति विद्वान ब्रह्म पूर्ण समाधौ॥ ४१०॥

प्रकृति विकृति शून्य भावनातीत भाव,
समरस मानस वन्ध दूर।
निगम वचन सिद्ध नित्यमस्मत् प्रसिद्ध,
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्मपूर्ण समाधौ॥ ४११॥

अजर ममरमस्ता भाव वस्तु स्वरूप,
स्तिमित सलिल राशि प्रख्यमाख्या विहीन।
शमित गुण विकारं शाश्वत शान्त मेकं,
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्ण समाधौ॥ ४१२॥

—विवेक चूड़ामणि

"ज्ञानी व्यक्ति समाधि अवस्था में अनिर्वचनीय, आनन्द स्वरूप, उपमा रहित, अपार, नित्य मुक्त, निष्क्रिय, असीम आकाश तुल्य, अदहीन, और भेदशून्य पूर्ण ब्रह्म को हृदय में अनुभव करते हैं। ४१०

या देवी सर्व भूतेषु भ्रान्ति रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः । ५ । ७६ चण्डी।

जो सब प्राणियों में शान्ति और भ्रान्ति रूप में स्थित हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ।

जो हो उन्हें केवल शान्ति स्वरूप कहने से काम नहीं चल सकता, उसे सर्व स्वरूप कहने से उसका जो फल हो, उसे लेना पड़ेगा। "हे गार्गी, संसार में जहाँ कहीं भी सुख है, वह तेरा ही एक अंश है।" इसका उपयोग आप जो चाहें, करें। इसी प्रकाश में आप एक गरीब आदमी को सौ रुपये दे सकते हैं और दूसरा आपके जाली हस्ताक्षर कर सकता है, पर प्रकाश दोनों के लिये एक ही होगा। यही ईश्वरीय ज्ञान की दूसरी सीढी है। तीसरी सीढ़ी इस बात का ज्ञान होना है कि ईश्वर, न प्रकृति के बाहर है न भीतर, किन्तु ईश्वर, प्रकृति, आत्मा और ब्रह्माण्ड सब पर्यायवाची शब्द हैं। दोनों वस्तुयें वास्तव में एक नहीं है। कई दार्शनिक शब्दों ने आपको धोखे में डाल दिया है। आप समझते हैं कि हमारे एक शरीर है, एक आत्मा तथा दोनों मिलकर हम हैं। ऐसा कैसे हो सकता है? एकबार अपने ही मन में विचार करके देखिये। यदि आप लोगों में कोई योगी है, तो वह समझता है कि मैं चैतन्य हूँ। उसके लिये शरीर है ही नहीं। यदि आप साधारण पुरुष हैं, तो समझते हैं कि यह शरीर मैं हूँ, उस समय चैतन्य का ज्ञान एक दम जाता रहता है किन्तु मनुष्य को देह है, आत्मा है और भी कई वस्तुयें हैं, ये कई दार्शनिक

धारणायें रहने से उसे मालूम होता है कि ये एक ही रहती हैं। जब जड को देखते हो, तब ईश्वर की बात न करो। तुम केवल कार्य ही देखते हो, कारण नहीं देख सकते और जिस क्षण तुम कारण देख लोगे, उस क्षण कार्य रहेगा ही नहीं। यह संसार कहां है, उसे कौन लील गया ?

किमपि सतत बोध केवलानद रूपं,
निरुपम मति वेल नित्य मुक्तं निरीहम्।
निरवधि गगनाभ निष्कल निर्विकल्पम्,
हृदि कलयति विद्वान ब्रह्म पूर्ण समाधौ ॥ ४१० ॥
प्रकृति विकृति शून्य भावनातीत भाव,
समरस मानस बन्ध दूर।
निगम वचन सिद्ध नित्यमस्मत् प्रसिद्ध,
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्मपूर्णं समाधौ ॥ ४११ ॥
अजर ममरमस्ता भाव वस्तु स्वरूप,
स्तिमित सलिल राशि प्रत्यमाख्या विहीन।
शमित गुण विकार शाश्वत शान्त मेकं,
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्ण समाधौ ॥ ४१२ ॥

—विवेक चूड़ामणि

"ज्ञानी व्यक्ति समाधि अवस्था में अनिर्वचनीय, आनन्द स्वरूप, उपमा रहित, अपार, नित्य मुक्त, निष्क्रिय, असीम आकाश तुल्य, अदहीन, और भेदशून्य पूर्ण ब्रह्म को हृदय में अनुभव करते हैं। ४१०

"ज्ञानी व्यक्ति समाधि अवस्था में, प्रकृति के विकारों से रहित, अचिंत्य रूप, समता के भाव से पूर्ण, जिसके समान कोई नहीं है, जिससे किसी परिमाण का सम्बन्ध नहीं है, जो वेद वाक्यों द्वारा सिद्ध है और सदा हम लोगों की दृष्टि में प्रसिद्ध हैं, ऐसे पूर्ण ब्रह्म को हृदय में अनुभव करते हैं।" ४११

"ज्ञानी लोग समाधि अवस्था में जरा मृत्यु रहित, जो वस्तु स्वरूप हैं और जिन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं है, स्थिर जल राशि के समान, नाम रहित, सतोगुण रजोगुण, तमोगुण से रहित, शान्त पूर्ण ब्रह्म को हृदय में अनुभव करते हैं।" ४१२

मनुष्य जब इस दशा को प्राप्त होता है तब उस के लिये संसार का लोप हो जाता है।

हम यह देख चुके हैं कि इस सत्य, इस ब्रह्म को जाना नहीं जा सकता, अज्ञानवादियों की भाँति नहीं, जो कहते हैं ईश्वर जाना ही नहीं जा सकता, वरन् इसलिए कि उनको जानना अधर्म होगा, क्योंकि हम स्वयं ही ब्रह्म हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि यह मेज़ ब्रह्म नहीं है और फिर भी है भी दूसरे रूप में। नाम और रूप को हटा दो और जो कुछ यथार्थ में रहेगा वही ब्रह्म है। वह प्रत्येक वस्तु के भीतर सत्य रूप हैं।

त्वं स्त्री त्व पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वचसि, त्व जातो भवति विश्वतो मुख ।४।३

—श्वेताश्वतर उपनिषद्

"तू ही स्त्री हो, तू ही पुरुष हो, तू ही कुमार हो, तुम्हीं कुमारी हो, लाठी के सहारे खड़े हुए वृद्ध पुरुष तू हो। तू ही सब में है।" यही अद्वैतवाद है। इस सम्बन्ध में दो शब्द और कहूँगा। इसी अद्वैतवाद के द्वारा ही सभी वस्तुओं के मूलतत्व का रहस्य पाया जाता है। इसी के द्वारा ही खडे होकर हम सभी तर्क और विज्ञान आदि का सामना कर सकते हैं। यहाँ पर कोरा विश्वास का आश्रय नहीं लेना पडता, वरन् अद्वैतवाद तर्क और न्याय की दृढ़ नींव पर स्थिर है। साथ ही वेदांती अपने से पूर्व वादों को गाली नहीं देता, वरन् उन्हे प्रेम की दृष्टि से देखता है, क्योंकि वह जानता है कि वे भी सत्य हैं, केवल वे समझे गलत गए थे और लिखे गलत गये थे। वे सब एक ही थे, माया के आवरण के कारण उनका रूप चाहे विकृत ही क्यों न होगया हो, फिर भी वे सत्य ही थे। जिस ईश्वर को अज्ञानी ने प्रकृति के बाहर देखा था, जिसे किञ्चिद् ज्ञानी ने विश्व में व्याप्त देखा था तथा पूर्ण ज्ञानी ने जिसे अपनी आत्मा करके जाना था—वे सब ईश्वर और यह ब्रह्माण्ड एक ही थे। एक ही वस्तु अनेक स्थानों से देखी गई थी। माया के कारण उसके अनेक रूप दिखाई दिये थे। सारा अन्तर और भेद माया के ही कारण था। यही नहीं, सत्य ज्ञान को पाने के लिये यह भिन्न-भिन्न सीढियाँ हैं। विज्ञान और साधारण ज्ञान में क्या अन्तर है ? सडक पर जाओ और किसी गँवार से वहाँ पर घटी हुई किसी विचित्र घटना का रहस्य पूछो। सोलह में पन्द्रह आने तो वह

यही कहेगा कि यह भूतों का काम है। अज्ञानी कारण को सदैव कार्य के बाहर ही ढूँढता है और इसीलिये वह सदैव घटना से, जिनका कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसे भूत-प्रेतों को ढूँढ निकालता है। यदि कहीं पत्थर गिरा है, तो वह कहेगा कि यह शैतान या भूत का काम है, पर वैज्ञानिक कहेगा कि वह प्रकृति के नियम या पृथ्वी की आकर्पणशक्ति के कारण गिरा है।

अद्वैतवाद ही असली वैज्ञानिक धर्म है।

विज्ञान और धर्म का प्रतिदिन का झगडा क्या है? प्रचलित सभी धर्मों में संसार के कारण ससार के बाहर बताये गये हैं। एक देवता सूर्य में है, एक चन्दमा में। प्रत्येक घटना किसी बाहरी शक्ति, किसी भूत प्रेत या देवता के कारण होती है। कारण कार्य में ही नहीं ढूँढा जाता। विज्ञान का कहना है कि प्रत्येक वस्तु का कारण उसी मे रहता है। जैसे-जैसे विज्ञान ने बढती की है, उसने संसार के रहस्यों की कुञ्जी भूत-प्रेतों के हाथ से छीन ली है और इसलिये अद्वैतवाद अत्यन्त वैज्ञानिक धर्म है। यह सृष्टि किसी बाहरी शक्ति, किसी बाहरी ईश्वर की बनाई हुई नहीं है। यह स्वयं जन्म लेनेवाली, स्थित रहनेवाली तथा स्वय नाश को प्राप्त होनेवाली है। यह एक अनन्त जीवन है, ब्रह्म है। "तत्त्वमसि।" "हे श्वेतकेतु, वह तू ही है।" इस प्रकार तुम देखते हो कि अद्वैतवाद ही एक वैज्ञानिक धर्म हो सकता है। और दूसरा नहीं। अर्द्ध-शिक्षित भारतवर्ष में प्रति-दिन में जो विज्ञान, न्याय और तर्क आदि के विषय में लम्बी

थोडी बातें सुनाता हूँ, उनके होते हुए भी मैं आशा करता हूँ कि आप सब अद्वैतवादी होने का साहस कर सकोगे और बुद्ध के शब्दों में, "ससार के हित के लिये, ससार के सुख के लिये" उसका प्रचार करोगे। यदि ऐसा करने का साहस आप में नहीं है, तो मैं आपको कायर कहकर पुकारूँगा।

मूर्त्ति पूजकों से घृणा न करो

यदि आप में कायरता है, भय है, तो दूसरों को भी उतनी ही स्वतंत्रता दो। किसी गरीब उपासक की मूर्ति जाकर न तोडो। उसे शैतान कहकर चिढ़ाओ मत। जिसका आप के विचारों से सामञ्जस्य नहीं, उसे जाकर उपदेश न देने लगो। पहिले यह जान लो कि आप स्वयं कायर हो। यदि आपके समाज से, अपने अन्ध विश्वासों से भय है, तो सोचो कि अन्य अज्ञानियों को उनसे कितना अधिक भय होगा। अद्वैतवादी कहता है कि दूसरों पर भी दया दिखाओ। ईश्वर की इच्छा से कल ही सारा ससार अद्वैतवादी हो जाता, अद्वैतवाद को सिद्धान्त रूप से ही न मानता वरन् उसे कार्य-रूप में भी लाता, किन्तु यदि वैसा नहीं हो सकता, तो सभी धर्मों से हाथ मिलाकर, धीरे-धीरे जैसे वे जा सकें, उन्हें सत्य की ओर ले चलो। याद रक्खो, भारतवर्ष में प्रत्येक धार्मिक प्रगति उन्नति की ही ओर हुई है, बुरे से अच्छे की ओर नहीं, वरन् अच्छे से और भी अच्छे की ओर।

अद्वैतवाद के नीतितत्व के विषय में दो शब्द और कहने हैं। हमारे बच्चे आजकल न जाने किससे सुन बडी जल्दी-जल्दी कहा

करते हैं कि अद्वैतवाद के द्वारा लोग पापी हो जाँयगे, ... यदि हम सब एक हैं, और ईश्वर है तो हमें कोई धर्माधर्म विचार करने की आवश्यकता नहीं। पहिली बात, तो यह है कि यह तर्क पशुओं का है, ... कि बिना कोड़े के मान नहीं सकते। यदि तु... ऐसे ही पशु हो, तो कोड़े से ही माननेवाले मनुष्य से तुम्हरे लिए मर जाना ही अच्छा है। यदि कोड़ा ली... लिया जावे, तो तुम सब राक्षस हो जाओगे। यदि ऐसा ही है तो तुम सब लोगों को मार डालना चाहिये, अन्य उपाय नहीं क्योंकि बिना कोड़े और डंडे के तुम लोग रहोगे नहीं और इसलिये तुम लोगो को कभी मोक्ष-लाभ न होगा। दूसरी बात यह है कि अद्वैतवाद के द्वारा ही नीति तत्व की व्याख्या हो सकती है। प्रत्येक धर्म कहता है कि नीति तत्व का सार यही है कि दूसरों की भलाई करो। और क्यों? स्वार्थ को छोड़ दो। क्यों? किसी देवता ने ऐसा कहा है। कहने दो, मैं उसे नहीं मानता। हमारी धर्म-पुस्तक में लिखा है, लिखा रहने दो। मैं उसे मानने ही क्यों लगे। और संसार का धर्म क्या है, सब लोग अपना-अपना स्वार्थ-साधन करो, गरीब को अपनी मौत आप मरने दो। कम से कम ससार के अधिकाश जनों का यही धर्म है। इसी से कहता हूँ कि मैं नीति परायण हूँगा, इसके लिये युक्ति बतलाओ। अद्वैतवाद को छोड़ कर दूसरा कोई उसके लिये उपाय नहो बतला सकता।

अद्वैतवाद का नीतितत्व

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

—१३-२८ गीता

"वह जो कि अपने को प्रत्येक प्राणी में और प्रत्येक प्राणी को अपने में देखता है और इस प्रकार सब प्राणियों में एक ही ईश्वर को स्थित जानता है, वही ज्ञानी आत्मा की आत्मा से हत्या नहीं कर सकता।"

अद्वैतवाद तुम्हें बताता है कि दूसरे की हिंसा कर तुम अपनी ही हिंसा करते हो, क्योंकि वह तुमसे भिन्न नहीं है। तुम जानो, चाहे न जानो, पर सभी हाथों से तुम काम करते हो, सभी पैरों से तुम चलते हो। राज-मन्दिर में विलास करनेवाले सम्राट् तुम्हीं हो और सड़क पर पड़े हुए भूख से त्राहि-त्राहि करने वाले भिखारी भी तुम्हीं हो। तुम ज्ञानी में हो और अज्ञानी में भी हो, तुम सबल में भी हो और निर्बल में भी हो। ऐसा जानकर हृदय में सहानुभूति को जन्म दो। जिस प्रकार दूसरे की हिंसा करने से अपनी ही हिंसा होती है, उसी कारण से हम को दूसरे की हिंसा न करनी चाहिये। और इसीलिये ही मुझे इसकी चिन्ता नहीं कि मुझे खाने को मिलता है कि नहीं, क्योंकि लाखों मुख तो खाते होंगे और वे सब मेरे ही तो हैं। इसलिये मेरा चाहे जो हो, मुझे चिन्ता नहीं, क्योंकि यह सारा संसार मेरा है। उसके सारे आनन्द का उपभोग मैं कर रहा हूँ। मुझे, और इस ब्रह्माण्ड को कौन मार सकता है? इस प्रकार देखते हैं

कि यही अद्वैतवाद ही नीति तत्व की एक मात्र भित्ति है। दू
धर्म भी यही बात सिखाते हैं, पर उसका कारण नहीं स
समझते। जो हो, यहाँ तक देखने में यही आता कि अद्वैतवादी ही
नीति तत्व की व्याख्या करने में समर्थ है।

अद्वैतवाद से लाभ क्या हुआ? इससे शक्ति तेज, वीर्य प्राप्त
होता है। "श्रोतव्य मन्तव्या निदिध्यासितव्य।" संसार के
ऊपर जो तुमने माया का आवरण डाल रक्खा
है, उसे दूर कर दो। मनुष्य-जाति में निर्बल
शब्दों और विचारों का प्रचार न करो। या
जान रक्खो कि सभी पापों और बुराइयों की
जड़ निर्बलता ही है। निर्बलता के ही कारण मनुष्य बुरे और
जघन्य काम करता है, निर्बलता के ही कारण वह वे कार्य करता
है, जो उसे करने न चाहियें, निर्बलता के ही कारण वह अपनी
वास्तविकता को भूल और का और बन जाता है। मनुष्यों को
जानना चाहिए कि वे क्या हैं, जो कुछ वे हैं, उसका उन्हें रात
दिन मनन करना चाहिए। सोऽहम् इस ओजमयी वाणी को
उन्हें माँ के दूध के साथ पी जाना चाहिये। मैं वही हूँ, मैं वही हूँ।
मनुष्य इसीका सतत् चिन्तन करें और ऐसा सोचनेवाले हृदय वे
कार्य सम्पन्न करेंगे, जिन्हें देखकर विश्व चकित रह जावेगा।

अद्वैतवाद से लाभ

किस प्रकार वह कार्य रूप में परिणत किया जा सकता है?
कोई-कोई कहते हैं कि अद्वैतवाद कार्य-रूप में नहीं लाया जा
सकता अर्थात् भौतिक जगत् में उसकी शक्ति का प्रकाश अब तक

ीं हुआ। किसी हद तक यह ठीक हो सकता है क्योंकि वेदों
कहना है कि—

"ओमित्येकाक्षरम् ब्रह्म ओमित्येकाक्षरम् परम्।"
ओमित्येकाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत॥

कठोपनिषद् २। १६

"ओम् ही महान रहस्य है, ओम् ही विशाल सम्पत्ति है,
। ओम् के रहस्य को जानता है, वह मनवांछित फल पाता है।"
इसीलिए, पहले इस ओम् के रहस्य को तो जानो कि तुम
ओम् हो। 'तत्त्वमसि' के तत्त्व को तो समझो। ऐसा करने
पर ही जो तुम चाहोगे, तुम्हें मिलेगा। यदि तुम
धन-वैभव चाहते हो, तो विश्वास करो कि वह
तुम्हें मिलेगा। मैं चाहे एक छोटा सा बुद बुद
होऊँ और तुम चाहे एक पहाड क समान ऊँची
तरग हो, पर याद रक्खो कि हमारी-तुम्हारी
दोनो की ही शक्ति का आगार एक वही
नन्त-सागर परमात्मा है। उसी मे से मैं एक छोटा सा बुद बुद
ौर तुम एक ऊँची-तरङ्ग दोनों ही जितनी शक्ति चाहें ले सकते
। इसलिए अपने आप में विश्वास करना सीखो। अद्वैत-वाद
ा यही रहस्य है कि पहले अपने आप में विश्वास करना सीखो
फर किसी अन्य वस्तु में। संसार के इतिहास में तुम देखोगे कि
न जातियों ने ही उन्नति की है, जिन्होंने अपने आप में विश्वास
क्या है। प्रत्येक जाति के इतिहास में तुम देखोगे कि वे ही पुरुष

द्वैतवाद का
र्य रूप में परि-
त किया जा
कता है?

घन बनने दो। मनुष्यों की धमनियो में रक्त के साथ ०० वहने दो।"

सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा, पर पश्चिम के लोगों ने वेदान्त को तुमसे अधिक कार्य-रूप में परिणत किया है। न्यूयार्क के समुद्र-तट पर खडा होकर मैं देखता था कि भिन्न पाश्चात्य जातियों प्रकार विविध देशों से पद-दलित और आशाहीन ने हम लोगों की परदेशी वहाँ पर आते हैं। उनके पहनने के अपेक्षा अधिक कपड़े फटे हुए हैं, एक छोटी सी मैली गठरी ही अद्वैतवाद को उनकी सारी सम्पत्ति है, किसी मनुष्य की अपने जीवन में आँखों से आँखें मिला कर वे देख नहीं सकते। परिणत किया है। यदि वे किसी पुलिसवाले को देखते हैं, तो भय से हटकर रास्ते के दूसरी ओर हो जाते हैं और छ: महीने मे ही वे अच्छी पोशाक पहिने, सबकी दृष्टि से दृष्टि मिलाये, अकडते हुए चलते दिखाई देते हैं। और इस अद्भुत काया-पलट का कारण क्या है? मान लो यह पुरुष आर्मीनिया या अन्यत्र कहीं से आया है, जहाँ पर उसकी तनिक भी चिन्ता न कर सब उसे ठोकरें मारते थे, जहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति उससे यही कहता कि तू गुलाम पैदा हुआ है और आ- जीवन गुलाम ही रहेगा, जहाँ वह यदि तनिक भी हिलने की चेष्टा करता, तो उस पर सहस्रों पदाघात होते। वहाँ प्रत्येक वस्तु उससे यही कहती—"गुलाम, तू गुलाम है, वहीं रह। निराशाहीन के अन्धकार में तू पैदा हुआ था, उसी में सारा

जीवन बिताओ।" वहाँ का वायु-मण्डल भी गूँज-गूँज कर प्रतिध्वनि करता—"तेरे लिए कोई आशा नहीं, तू गुलामी में ही सारा जीवन काट।" वहाँ पर सबल ने उसे पीस डाला था और जब वह न्यूयार्क की विस्तृत सडकों में आया, तो उसने अच्छी पोशाक पहिने हुए एक सभ्य पुरुष को अपने से हाथ मिलाते पाया। अच्छे और बुरे कपडों ने कोई अन्तर न डाला। आगे चलकर उसे एक भोजनालय मिला जहाँ पर एक मेज़ पर बैठे हुए कई सभ्य पुरुष भोजन कर रहे थे, उसी मेज़ पर बैठकर भोजन करने के लिए उससे भी कहा गया। वह चारों ओर आया गया और उसे एक नवीन जीवन का अनुभव हुआ। उसने देखा कि ऐसी भी जगह है जहाँ वह पाँच मनुष्यों में एक मनुष्य है। शायद वह वाशिंगटन भी गया और वहाँ संयुक्त-राज्य के सभापति से हाथ मिलाया। वहाँ पर उसने फटे कपड़े पहिने, सुदूरस्थ गाँवों से किसानों को भी आते हुए देखा, जो कि सभापति से हाथ मिलाते थे। अब माया का पर्दा हट गया। गुलामी और निर्बलता के कारण वह भूल गया था कि मैं ब्रह्म हूँ। एक बार फिर जागकर उसने देखा कि संसार के अन्य मनुष्यों की भाँति वह भी एक मनुष्य है।

हमारे ही इस देश में, वेदान्त के इस पुण्य जन्म-स्थान में ही, शताब्दियों से हमारा जन-समुदाय इस अधोगति को पहुँचा हुआ है। उनके साथ बैठना भी पाप है! 'आशा-हीन तुम पैदा हुए थे, आशाहीन ही रहो,—परिणाम यह होता है कि वे दिन-पर-दिन

के प्रत्येक देश मे मेरा बड़े ही आदर व सम्मान क साथ स्वा
किया गया था। यहाँ वह हृदय कहाँ है, जिस पर तुम राष्ट्
प्रासाद खडा करोगे? हम लोग एक छोटी सी कम्पनी बना
कार्य शुरू नहीं करते कि झट एक दूसरे को धोखा देने लग
हैं और शीघ्र सारा मामला ठप हो जाता है। तुम कहते हो कि
उनका अनुकरण करेंगे, उन्हीं की भाँति अपना भी राष्ट्र बनायें
पर उनकी सी यहाँ नींवें कहाँ हैं? यहाँ पर तो बालू ही बालू
और इसलिए जो इमारत खडी भी करते हो, वह तुरन्त ह
घहराकर बैठ जाती है।

इसलिए हे लाहौर क नवयुवको, एक बार फिर उसी अद्वै
के अद्वितीय झण्ड को उठाओ। क्योंकि और किसी उपाय से
तुम्हारे भीतर वह अपूर्व प्रेम उत्पन्न ही न होगा।
हमारी जातीयता जब तक तुम सब में एक ही परमात्मा को समान
की प्रतिष्ठा के रूप से प्रकट होते न देखोगे, तब तक तुम्हारे
लिये प्रेम और हृदय म सच्चा प्रेम उत्पन्न न होगा। उस प्रेम क
सहानुभूति का झण्डे को फहरा दो।" जागो, और उठ खड़े हो
अभाव और जब तक लक्ष्य तक नहीं पहुँचते, तब तक
निश्चिन्त न रहो। उठो, उठो, एक बार फिर
उठो, क्योंकि बिना त्याग क कुछ नहीं हो सकता। यदि तुम
दूसरो की सहायता करना चाहते हो, तो अपनी चिन्ता करना
छोड दो। जैसा कि ईसाई कहते हैं, तुम एक साथ ही ईश्वर
और शैतान दोनों की सेवा नहीं कर सकते। तुम्हारा

जन्मदाता तपस्वी पुरुषों ने बडे-बडे काम करने के लिए ससार त्याग दिया था। आज भी ऐसे पुरुष दुनियाँ में हैं, जिन्होंने मुक्ति पाने के लिए ससार को छोड दिया है तुम सब मोह त्याग दो, अपनी मुक्ति की भी चिन्ता छोड दो और जाओ, दूसरों की सहायता करो। तुम लोग सदा लम्बी-चौडी हाँका करते हो, यह देखो वेदान्त का कार्य-क्रम। अपने इस छोटे से जीवन का उत्सर्ग कर दो। जो यदि हमारी जाति जीवित रहेगी। हमारे तुम्हारे से सहस्रों के भी भूख से प्राण गँवा देने से क्या होगा।

देश के जन साधारण के लिये प्राणों की बाजी लगा दो।

हमारी जाति डूबी जा रही है। उन असख्य भारतवासियों के अभिशाप हम लोगों के सिर पर हैं, जिन्हे तुमने निर्मल जल वाली नदी के होते हुये भी पीने के लिये पोखरे का गन्दा जल दिया है, जिन्हें भोजन के ढेर लगे रहने पर भी तुमने भूखों मारा है, जिन्हे तुमने अद्वैत का उपदेश दिया है, पर जिनसे तुमने हृदय से घृणा की है, जिनके लिए तुमने लोकाचार के अनोखे सिद्धान्तों का आविष्कार किया है, जिनसे तुमने केवल सिद्धान्तरूप से कहा है कि हम सब में एक ही ईश्वर है, पर जिस सिद्धान्त को तुमने कभी कार्य-रूप में लाने की चेष्टा नहीं की—तुमने सदा यही कहा है—"मित्रो, यह सब विचार अपने हृदय मे ही रक्खो, उन्हे कार्य-रूप में कदापि न लाओ।" अरे इस काले धब्बे को मिटा दो।

"जागो, और उठ खड़े हो।" यदि यह छोटा सा जीवन जाता है, तो जाने दो। संसार के प्रत्येक प्राणी को मरना हैं, पापी को भी, पुण्यात्मा को भी, अमीर को भी, गरीब को भी। इसलिये जागो, उठो, बिलकुल निश्छल बनो। भारत में बेढब धोखेबाज़ी आ गई है। हमें वह चरित्र-बल और दृढ़ता चाहिए, जो मनुष्य को मृत्यु के समान जकड कर पकड़ ले।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्,
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथ प्रविचलन्ति पदं न धीरान्।

"नीतिज्ञ चाहे निन्दा करें, चाहे स्तुति करें, लक्ष्मी आवे, चाहे जाय, मौत आज आती हो, तो आज आजावे और सौ बरस बाद आती हो, तो तब आवे, धैर्यशाली पुरुष किसी की भी चिन्ता न कर न्याय-पथ से एक पग भी विचलित नहीं होते।" जागो, उठ खडे हो। समय बीता जा रहा है। और हमारी सारी शक्ति बातें करने में ही खर्च हो रही है। उठो, जागो, मामूली मामूली बातों और छोटे छोटे मत मतान्तर को लेकर विवाद करना छोड दो। तुम्हारे सामने जो बडा भारी कार्य पड़ा हुआ है, लाखों आदमी डूब रहे हैं, उनका उद्धार करो।

जब मुसलमान भारतवर्ष में पहिले-पहल आए थे तब आज से कितने अधिक हिन्दू थे, आज कितने कम हैं। इसके लिये कुछ किया न गया तो हिन्दू दिन पर दिन घटते ही जावेंगे, यहाँ

तक कि उनका नाम-निशान भी न रहेगा। उनका नाम-निशान रहे अथवा न रहे, पर उनके साथ वेदान्त के उन अनुपम विचारों का भी लोप हो जायगा, जिनके कि हिन्दू अपने सारे दोषों और अन्धविश्वासों के होते हुए भी एक मात्र प्रतिनिधि हैं। उनके साथ इस आत्म-ज्ञान के अमूल्य-मणि अद्वैत का भी लोप हो जायगा। इसलिए जागो और उठ खड़े हो। संसार के आत्म-ज्ञान की रक्षा के लिए अपने हाथ फैला दो। और सबसे पहले अपने देश की भलाई के लिये इस तत्त्व को कार्य रूप में परिणत करो। हमें धर्म की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितना अद्वैत को कार्य-रूप में लाने की। पहले रोटी की व्यवस्था करनी होगी तब धर्म की। जब तुम्हारे देशवासी भूखों मर रहे हैं, तब हम उन्हें धर्म उपदेश दे रहे हैं। भूख की अग्नि को धर्म कभी शान्त नहीं कर सकता। हम में दो बड़े भारी दोष हैं—एक हमारी निर्बलता, दूसरी हमारी ईर्ष्या व घृणा, हमारे सूखे हृदय। तुम लाख सिद्धान्त मानो, लाख धर्म चलाओ, पर जब तक तुम्हारे हृदय में सच्चा प्रेम, सच्ची सहानुभूति नहीं है, तब तक इन सबसे कुछ न होगा। अपने निर्धन देश-भाइयों से उसी भाँति प्रेम करना सीखो, जिस प्रकार तुम्हारे वेद तुम्हें सिखाते हैं। इस बात का हृदय में अनुभव करो कि गरीब और अमीर, पापी और पुण्यात्मा, सब एक ही अनन्त ब्रह्म के विभिन्न भाग हैं।

उपसंहार

"जागो, और उठ खड़े हो।" यदि यह छोटा सा जीवन जाता है, तो जाने दो। संसार के प्रत्येक प्राणी को मरना है, पापी को भी, पुण्यात्मा को भी, अमीर को भी, ग़रीब को भी इसलिये जागो, उठो, बिलकुल निश्छल बनो। भारत में बढ़ी धोखेबाज़ी आ गई है। हमें वह चरित्र-बल और दृढ़ता चाहिए जो मनुष्य को मृत्यु के समान जकड़ कर पकड़ ले।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्,
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथ प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

"नीतिज्ञ चाहे निन्दा करें, चाहे स्तुति करें, लक्ष्मी आवे चाहे जाय, मौत आज आती हो, तो आज आजावे और सौ बरस बाद आती हो, तो तब आवे, धैर्यशाली पुरुष किसी की भी चिन्ता न कर न्याय-पथ से एक पग भी विचलित नहीं होते।" जागो, उठ खड़े हो। समय बीता जा रहा है। और हमारी सारी शक्ति बातें करने में ही ख़र्च हो रही है। उठो, जागो, मामूली मामूली बातों और छोटे छोटे मत मतान्तर को लेकर विवाद करना छोड़ दो। तुम्हारे सामने जो बड़ा भारी कार्य पड़ा हुआ है, लाखों आदमी डूब रहे हैं, उनका उद्धार करो।

जब मुसलमान भारतवर्ष में पहिले-पहल आए थे तब आज से कितने अधिक हिन्दू थे, आज कितने कम हैं। इसके लिये कुछ किया न गया तो हिन्दू दिन पर दिन घटते ही जावेंगे, यहाँ

तक कि उनका नाम-निशान भी न रहेगा। उनका नाम-निशान रहे अथवा न रहे, पर उनके साथ वेदान्त के उन अनुपम विचारों का भी लोप हो जायगा, जिनके कि हिन्दू अपने सारे दोषों और अन्धविश्वासों के होते हुए भी एक मात्र प्रतिनिधि हैं। उनके साथ इस आत्म-ज्ञान के अमूल्य-मणि अद्वैत का भी लोप हो जायगा। इसलिए जागो और उठ खड़े हो। संसार के आत्म-ज्ञान की रक्षा के लिए अपने हाथ फैला दो। और सबसे पहले अपने देश की भलाई के लिये इस तत्व को कार्य रूप में परिणत करो। हमें धर्म की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितना अद्वैत को कार्य-रूप में लाने की। पहले रोटी की व्यवस्था करनी होगी तब धर्म की। जब तुम्हारे देशवासी भूखों मर रहे हैं, तब हम उन्हें धर्म उपदेश दे रहे हैं। भूख की अग्नि को धर्म कभी शान्त नहीं कर सकता। हम में दो बड़े भारी दोष हैं—एक हमारी निर्बलता, दूसरी हमारी ईर्ष्या व घृणा, हमारे सूखे हृदय। तुम लाख सिद्धान्त मानो, लाख धर्म चलाओ, पर जब तक तुम्हारे हृदय में सच्चा प्रेम, सच्ची सहानुभूति नहीं है, तब तक इन सबसे कुछ न होगा। अपने निर्धन देश-भाइयों से उसी भाँति प्रेम करना सीखो, जिस प्रकार तुम्हारे वेद तुम्हें सिखाते हैं। इस बात का हृदय में अनुभव करो कि ग़रीब और अमीर, पापी और पुण्यात्मा, सब एक ही अनन्त ब्रह्म के विभिन्न भाग हैं।

उपसंहार

सज्जनो मैंने आप लोगों के सामने अद्वैतवाद के कई मुख्य मुख्य बातों को रखने का प्रयत्न किया है और अब उन्हें कार्य रूप में परिणत करने का समय आ गया है, सिर्फ़ इसी देश में नहीं, बल्कि सर्वत्र ! आधुनिक विज्ञान का लोहे का मुद्गर सब स्थानों के द्वैतवादात्मक सभी धर्मों की काँच की बनी दीवार को चूर्ण करके नष्ट भ्रष्ट कर रहा है। केवल यहीं पर द्वैतवादी शास्त्रीय श्लोकों का खींच खाच कर अर्थ करने की चेष्टा करते हैं, 'रबर की तरह जहाँ तक हो सकता है, खींचते हैं'। केवल यहीं पर आत्म रक्षा के लिये अन्धकार के कोने में छिपाने की कोशिश करते हैं, सो बात नहीं योरप और अमेरिका में भी यह कोशिश और भी ज्यादा हो रही है। वहाँ पर भारत से जाकर यह तत्व फैलना चाहिये। इसके पहले ही वह चला गया है, उसका विस्तार दिन दिन और भी करते जाना चाहिये। पाश्चात्य सभ्य जगत की रक्षा के लिये इसकी विशेष आवश्यकता है। क्योंकि पाश्चात्य देशों में वहाँ के प्राचीन भावों की जगह पर एक नया भाव, काचन पूजा, प्रचलित हो रही है। इस आधुनिक धर्म अर्थात् एक दूसरे से बढ़ जाना और काचन पूजा की अपेक्षा वह पुराना धर्म ही अच्छा था। कोई जाति कितना ही प्रबल क्यों न हो जाय, कभी इस तरह की बुनियाद पर नहीं खड़ी हो सकती। ससार का इतिहास हमे बतलाता है कि जो भी इस तरह की बुनियाद पर अपने समाज को क़ायम करने गया है, उसी का नाश हुआ है। भारत में काचन पूजा का रोग

घुसने न पाये, इसकी ओर हम लोगों को विशेष ध्यान रखना होगा। इसलिये सत्र में इस अद्वैतवाद का प्रचार करो। जिससे धर्म आधुनिक विज्ञान के प्रबल आघात से अछूता बचा रहे। केवल यही नहीं, आपको दूसरों की भी सहायता करनी होगी। आपके विचार योरप अमेरिका का उद्धार करेंगे। लेकिन सब से पहले आपको याद दिलाता हूँ कि यहीं पर असली काम है और उस कार्य का पहला अंग है दिन दिन की बढ़ती हुई गरीबी और अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर कर देशवासियों को उन्नत बनाना। उनकी भलाई के लिये, उनकी सहायता के लिये अपने हाथ फैला दो और भगवान की इस वाणी को याद रखो —

"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥"

गीता ५—१६

जिसका मन इस साम्यभाव में स्थित है, उन्होंने इसी जीवन में संसार के जीत लिया। जिस कारण से ब्रह्म निर्दोष और सम भाव से पूर्ण है, इसी कारण वे ब्रह्म में स्थित हैं।

———

सज्जनो मैंने आप लोगों के सामने अद्वैतवाद के कई मुख्य मुख्य बातों को रखने का प्रयत्न किया है और अब उन्हें कार्य रूप में परिणत करने का समय आ गया है, सिर्फ़ इसी देश में नहीं, बल्कि सर्वत्र ! आधुनिक विज्ञान का लोहे का मुद्गर सब स्थानों के द्वैतवादात्मक सभी धर्मों की काँच की बनी दीवार को चूर्ण करके नष्ट भ्रष्ट कर रहा है। केवल यहीं पर द्वैतवादी शास्त्रीय श्लोकों का खींच खांच कर अर्थ करने की चेष्टा करते हैं, 'रबर की तरह जहाँ तक हो सकता है, खींचते हैं'। केवल यहीं पर आत्म रक्षा के लिये अन्धकार के कोने में छिपाने की कोशिश करते हैं, सो बात नहीं योरप और अमेरिका में भी यह कोशिश और भी ज्यादा हो रही है। वहाँ पर भारत से जाकर यह तत्व फैलना चाहिये। इसके पहले ही वह चला गया है, उसका विस्तार दिन दिन और भी करते जाना चाहिये। पाश्चात्य सभ्य जगत की रक्षा के लिये इसकी विशेष आवश्यकता है। क्योंकि पाश्चात्य देशों में वहाँ के प्राचीन भावों की जगह पर एक नया भाव, काचन पूजा, प्रचलित हो रही है। इस आधुनिक धर्म अर्थात् एक दूसरे से बढ जाना और काचन पूजा की अपेक्षा वह पुराना धर्म ही अच्छा था। कोई जाति कितना ही प्रबल क्यों न हो जाय, कभी इस तरह की बुनियाद पर नहीं खड़ी हो सकती। ससार का इतिहास हमें बतलाता है कि जो भी इस तरह की बुनियाद पर अपने समाज को क़ायम करने गया है, उसी का नाश हुआ है। भारत में काचन पूजा का रोग

ुसने न पाये, इसकी ओर हम लोगो को विशेष ध्यान रखना ेागा। इसलिये सब में इस अद्वैतवाद का प्रचार करो। जिससे र्म आधुनिक विज्ञान के प्रवल आघात से अछूता बचा रह। कवल यही नहीं, आपको दूसरो की भी सहायता करनी होगी। आपके विचार योरप अमेरिका का उद्धार करेंगे। लेकिन सब से पहले आपको याद दिलाता हूँ कि यहीं पर असली काम है और उस कार्य का पहला अंग है दिन दिन की बढती हुई ग़रीबी और अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर कर देशवासियों को उन्नत बनाना। उनकी भलाई के लिये, उनकी सहायता के लिये अपने हाथ फैला दो और भगवान की इस वाणी को याद रखो —

"इहैव तैर्जित सर्गो येषा साम्ये स्थित ;मन ।
निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिता ॥"

गीता ५—१६

जिसका मन इस साम्यभाव में स्थित है, उन्होंने इसी जीवन मे ससार को जीत लिया। जिस कारण से ब्रह्म निर्दोष और सम भाव से पूर्ण है, इसी कारण वे ब्रह्म मे स्थित हैं।

—

भारतीय जीवन पर वेदांत का प्रभाव

हमारी जाति और धर्म को बतलाने के लिये एक शब्द का खूब प्रचार हो गया है। मेरा अभिप्राय 'हिन्दू' शब्द से है। वेदान्त धर्म को समझाने के लिये इस शब्द का

कौन हिन्दू है

अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। प्राचीन पारसी सिन्धु नद को हिन्दु कहा करते थे। संस्कृत भाषा में जहाँ पर 'स' होता है, प्राचीन पारसी भाषा में वह 'ह' हो जाता है। इस प्रकार सिन्धु से हिन्दु हुआ। और आप सभी लोग जानते हैं कि ग्रीक लोक ह का उच्चारण नहीं कर सकते, इसलिये उन्होंने 'ह' को एक बारगी उड़ा दिया, इस तरह हम लोगों का इण्डियन नाम पड़ा। कहने का अभिप्राय यह है कि प्राचीनकाल में इस शब्द का चाहे जो कुछ अर्थ हो, उसके कहने से सिन्धु नदी के पार रहने वाला का बोध हो या जिसका बोध हो, वर्तमान काल में उसकी कोई सार्थकता नहीं। क्योंकि इस समय सिन्धु नदी के पार रहने वाले सब लोग एक मत के मानने वाले नहीं रहे। यहाँ पर इस समय हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई और अनेकों बौद्ध और जैन भी वास करते हैं। हिन्दू शब्द के व्युत्पत्ति के अनुसार इन सब को हिन्दू कहना चाहिये, किन्तु धर्म के हिसाब के इन सब को हिन्दू कहने से नहीं

चल सकता। और हम लोगों का धर्म अनेक मत-मतान्तरों, भिन्न-भिन्न भावों का समष्टि रूप है, ये सब एक साथ रहे हैं। किन्तु इनका एक साधारण नाम नहीं रहा है और न इनकी जमात ही है। इसी कारण से हम लोगों के धर्म का एक साधारण या सर्वसम्मत नाम रखना बड़ा ही कठिन है। जान पड़ता है कि केवल इसी एक बात पर हमारे सभी सम्प्रदाय एक मत हैं कि हम सब लोग वेदों पर विश्वास रखने वाले हैं। यह निश्चित रूप से जान पड़ता है कि जो मनुष्य वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करता, वह अपने को हिन्दू कहने का अधिकारी नहीं।

आप सभी लोग जानते हैं कि वेद के दो भाग हैं, कर्मकाण्ड और ज्ञान काण्ड। कर्मकाण्ड में भिन्न-भिन्न प्रकार के याग-यज्ञ और उनकी पद्धति दी हुई है—उनमें अधिकांश आजकल प्रचलित नहीं हैं। ज्ञानकाण्ड में वेदों के आध्यात्मिक उपदेश लिखे हुए हैं, वे उपनिषद् अथवा वेदान्त कहलाते हैं। और द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी वा अद्वैतवादी सभी आचार्य और दार्शनिक इन्हें ही सब से बढ़कर प्रामाणिक मानते आये हैं। भारतीय सभी दर्शनों और सभी सम्प्रदायों को दिखलाना पड़ता है कि उनका दर्शन या सम्प्रदाय उपनिषदों की भित्ति के ऊपर अवलम्बित है। अगर कोई दिखला नहीं सकता, तो वह दर्शन या सम्प्रदाय त्याज्य समझा जायगा। इसलिये वर्तमान काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष के हिन्दुओं को यदि किसी नाम से परिचय दिया जा सकता है, तो

हिन्दू और वेदान्तिक

वह नाम वेदान्तिक वा वैदिक है। इन्हीं दोनों नामों में से किसी एक नाम से हिन्दू अपना परिचय दे सकते हैं। और मैं भी वेदान्तिक धर्म और वेदान्त इन दोनों शब्दों के इसी अर्थ में व्यवहार करता हूँ।

मैं कुछ और स्पष्ट करके इसे समझाना चाहता हूँ। क्योंकि इस समय अक़सर वेदान्त दर्शन के अद्वैत व्याख्या को ही वेदान्त
शब्द के साथ एक अर्थ में प्रयुक्त करने की प्रथा
वेदान्तिक और चल पड़ी है। हम सभी लोग जानते हैं कि उप
अद्वैतवादी क्या निषद् को भित्ति मानकर जिन जिन भिन्न भिन्न
समानार्थक हैं ? दर्शनों की सृष्टि हुई है, उनमें अद्वैतवाद अन्यतम
है। उपनिषदों पर अद्वैतवादियों की जितनी श्रद्धा
भक्ति है, विशिष्टाद्वैतवादियों की भी वैसी ही श्रद्धा है और अद्वैतवादी लोग अपने दर्शन को उपनिषदों के प्रमाण पर जितना अवलम्बित मानते हैं, उतने ही विशिष्टाद्वैतवादी भी मानते हैं। यह सब होते हुए भी साधारण लोगों के मत में 'वेदान्तिक' और अद्वैतवादी समानार्थक जान पड़ते हैं और सम्भवत इसका कारण भी है। यद्यपि वेद हम लोगों का प्रधान ग्रंथ है तोभी वेद के बाद के स्मृति और पुराण-जो वेदों के मत को विस्तृत रूप से व्याख्या करते और अनेक दृष्टान्तों द्वारा समर्थित करते हैं, हमारे ग्रंथ हैं। परन्तु ये वेदों के समान प्रामाणिक नहीं हैं। और यह भी शास्त्र विधान है कि जहाँ पर श्रुति, स्मृति और पुराण में मत-
उपस्थित हो, वहाँ श्रुति का मत माह्य [illegible] और

स्मृति मत का परित्याग। इस समय हम लोग देखते हैं कि अद्वैत-केसरी शकराचार्य और उनके मत के मानने वाले आचार्यों की व्याख्याओं में अधिकतर उपनिषद ही प्रमाण-स्वरूप उद्धृत हुए हैं। केवल जहाँ पर ऐसे विषयों की व्याख्या आवश्यक हुई है, जो श्रुति में किसी प्रकार पाये नहीं जा सकते, ऐसे ही स्थानों पर केवल स्मृति वाक्य उद्धृत हुए हैं। लेकिन और दूसरे मतवादियों ने श्रुतियों की अपेक्षा स्मृति ही पर अधिक निर्भर किया है और जितना ही ज्यादा हम लोग द्वैतवाद सम्प्रदाय की पर्य्यालोचना करते हैं, उतने ही हम लोग देखते हैं कि उनके द्वारा उद्धृत स्मृति वाक्य श्रुति के मुक़ाबिले में इतने ज्यादा हैं कि उतना वेदान्तिकों से आशा करना उचित नहीं। जान पडता है कि वे स्मृतियों और पुराणों के प्रमाण पर इतना अधिक निर्भर करते थे, इसीसे अद्वैतवादी ही सच्चे वेदान्तिक समझे जाने लगे।

वेद अनादि अनन्त ज्ञान राशि हैं। वे भारत के सभी धर्ममतों, यही क्यों जैन और बौद्धधर्मो की भी मूल भित्ति हैं।

जो हो, हम पहले ही कह आये हैं कि वेदान्त शब्द से भारतीय सम्पूर्ण धर्मों की समष्टि समझनी होगी। और यह जब वेद है, तब सर्वसम्मत से यह हम लोगों का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। आधुनिक विद्वानों के चाहे जो कुछ मत हों, हिन्दू लोग इस पर विश्वास करने के लिये तैयार नहीं हैं कि वेदों का कितना अश एक बार लिखा गया और कितना अश दूसरे समय लिखा गया। वे इस पर दृढ विश्वास करते हैं कि सभी वेद एक

साथ उत्पन्न हुए थे अथवा (यदि मुझे इस तरह की भाषा प्रयोग करने मे कोई आपत्ति न करे) वह कभी बनाये नहीं गये, वे चिर काल से सृष्टिकर्त्ता के मन में वर्तमान थ। वेदान्त शब्द से मैं उसी अनादि अनन्त ज्ञान कोप को ही लक्ष्य करता हूँ। भारत के द्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद सभी उसके अन्तर्गत होंगे। सभवत हम लोग बौद्ध धर्म-यही क्यों जैन धर्म के भी अश विशेष को ग्रहण कर सकते हैं, यदि वे धर्म वाले कृपापूर्वक हम मे मिलने को तैयार हों। हम लोगों का हृदय तो काफी विशाल है, हम लोग तो उन्हें भी ग्रहण करने को अनायास ही तैयार हैं क्योंकि अच्छी तरह खोज बीन करने पर आप देखेंगे कि बौद्ध धर्म का सार भाग इन उपनिषदों से ही लिया गया है। यही क्यों बौद्ध धर्म की नीति-अद्भुत और महान नीति तत्व—किसी न किसो उपनिषद में अविकल रूप ज्यों के त्यो—पायी जाती है। इसी प्रकार जैन धर्म की अच्छी अच्छी बातें उपनिषदो में पाई हैं, केवल उनके शब्दो में हेरफेर है। बाद में भारत में धार्मिक विचारो में जो जो परिवर्तन हुए हैं, उनके बीज भी उपनिषदो में दिखलाई पडते हैं। समय समय पर बिना कारण दिखलाये उपनिषदो पर यह दोषारोपण किया जाता है कि उपनिषदो में भक्ति का 'आदर्श' नहीं है। जिन्होंने उपनिषदो का अच्छी तरह से अध्ययन किया है वे जानते हैं कि यह अभि-योग बिल्कुल ठीक नहीं। प्रत्येक उपनिषद के अनुसंधान करने पर भक्ति की काफ़ी सामग्री मिलती है। तोभी अन्यान्य अनेक

विषयो ने आगे चलकर पुराणों और स्मृतियो में, विशेष रूप में परिणत हो, फल फूल से सुशोभित वृक्षाकार धारण किया है। उपनिषदो में वे बीज रूप में वर्तमान हैं। उपनिषदो में वे मानो चित्र के स्केच के रूप में (कंकाल के रूप में) वर्तमान हैं। किसी न किसी पुराण में उन चित्रों के परिस्फुटित किया गया है, कंकाल में मास और रुधिर सयुक्त किया गया है। किन्तु ऐसा कोई सुन्दर भारतीय आदर्श नहीं जिसका बीज सब भावों से परिपूर्ण उपनिषदों में न पाया जाय। उपनिषदों से अनभिज्ञ बहुत से लोगो ने इस बात के प्रमाणित करने की उपहासास्पद चेष्टा की है कि भक्तिवाद विदेश से आया है। परन्तु आप लोग अच्छी तरह जानते हैं कि उनके प्रयत्न बिल्कुल व्यर्थ हुए हैं। भक्ति के लिये उपासना, प्रेम आदि जो कुछ आवश्यक साधन हैं, वे सभी उपनिषदों को कौन कहे सहिता भाग तक में वर्तमान है। सहिता भाग में स्थान स्थान पर भय से उत्पन्न धर्म का चिन्ह पाया जाता है। सहिता भाग में स्थान स्थान पर देखा जाता है कि उपासक वरुण या अन्य किसी देवता के सामने भय से काँप रहा है। स्थान स्थान पर दिखलाई पडता है वह अपने को पापी समझ कर अत्यन्त दुखी हो रहा है, किन्तु उपनिषदों में इन सब बातों के वर्णन करने का स्थान नहीं है। उपनिषदो में भय का धर्म नहीं, उपनिषदों का धर्म प्रेम का है, ज्ञान का है।

ये उपनिषद ही हमारे शास्त्र हैं। इनकी तरह तरह से व्याख्या की गई है। और मैं आप लोगो से पहले ही कह चुका हूँ कि बाद

के पौराणिक शास्त्रों और वेदों में जहाँ पर मतभेद हो, वहाँ पर पुराणों का मत अग्राह्य करके वेद का मत ग्रहण करना होगा। किन्तु कार्य रूप में हम लोग देखते हैं कि हम लोग सैकडा पीछे नब्बे आदमी पौराणिक हैं, दस आदमी वैदिक हैं या नहीं, इसमें सन्देह है। यह भी देखने में आता है कि हम लोगों में परस्पर विरोधी आचार विद्यमान हैं। हम लोगों में ऐसे आचार व्यवहार प्रचलित हैं जिनका हम लोगों के शास्त्रों में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है। उन शास्त्रों को पढकर हम देख कर आश्चर्यचकित होते हैं कि हमारे देश में ऐसे आचार प्रचलित हैं जिनके प्रमाण वेद, स्मृति, पुराण आदि में कहीं भी नहीं पाये जाते, वे केवल विशेष देशाचार मात्र हैं। तोभी प्रत्येक गाँव का रहने वाला यही समझता है कि अगर उसके गाँव का आचार उठ जायगा तो वह हिन्दू न रह जायगा। उसके मतानुसार वेदान्तिक धर्म और ये छोटे छोटे देशाचार एकदम मिश्रित हैं। शास्त्र पढकर भी वह यह नहीं समझता कि उसमें शास्त्र की सम्मति नहीं है, उसके लिये यह समझना कठिन हो गया है कि इन आचारों के त्याग करने से उनका कुछ नुकसान न होगा, बल्कि ऐसा करने से वह पहले से भी अच्छा मनुष्य हो जायगा। दूसरी एक और कठिनाई है, हमारे शास्त्र अत्यन्त बड़े और असंख्य हैं। पतंजलि प्रणीत महाभाष्य नामक व्याकरण ग्रंथ को पढ़ने से ज्ञान होता है कि सामवेद की एक हजार शाखा थी। वे क्या हो गई, इसका कुछ पता नहीं चलता।

शास्त्र और देशाचार

प्रत्येक वेद के सम्बन्ध में यही बात है। ये सभी ग्रंथ अधिकाश में लोप हो गये हैं, थोड़े से ही अंश हमारे पास बचे हैं। एक एक

वेद की लुप्त शाखायें और देशाचार

ऋषि परिवार ने एक एक शाखा का भार ग्रहण किया था। इन सभी परिवारों में से अधिकाश या तो स्वाभाविक नियमानुसार लोप हो गये अथवा विदेशियों के अत्याचार या दूसरे कारण उनका नाश हुआ है। और उनके साथ साथ उन्होंने वेद शाखा विशेष की रक्षा का जो भार ग्रहण किया था वह भी लोप हो गया। यह विषय हम लोगो को अच्छी तरह से स्मरण रखना आवश्यक है क्योंकि जो कोई निद्य विषय प्रचार करना चाहे अथवा वेद का विरोधी किसी विषय का समर्थन करना चाहे, उसके लिये यह युक्ति बहुत सहायक होती है। जभी भारत में वेद और देशाचार को लेकर तर्क वितर्क होता है और जभी यह दिखाई पडता है कि वह देशाचार श्रुति विरुद्ध है तभी दूसरा पक्ष यह जवाब देता है कि नहीं, यह वेद-विरुद्ध नहीं है, यह वेद की उन शाखाओं में था जो इस समय लोप हो गई हैं। यह प्रथा भी वेद-सम्मत है। शास्त्रों की इन सभी टीका-टिप्पणियों के भीतर कोई साधारण सूत्र निकलना बहुत कठिन नहीं है। लेकिन हम यह सहज ही समझ सकते हैं कि इन सभी विभागों और उपविभागों में एक साधारण भित्ति अवश्य है। ये सभी छोटे छोटे घर किसी साधारण आदर्श के लिये बनाये गये हैं। हम लोग जिसे अपना धर्म कहते हैं, उसकी कोई भित्ति है।

अगर ऐसा न होता तो वह इतने दिन तक स्थिर नहीं रहता।

हमारे भाष्यकारों के भाष्यों की आलोचना करते समय एक और गडबडी उपस्थित होती है। अद्वैतवादी भाष्यकार जिस समय अद्वैतवाद से सम्बन्ध रखने वाले वेद के अंशों की व्याख्या करते हैं, उस समय वे उसका सीधा-सादा अर्थ करते हैं। लेकिन वे ही जब द्वैतवादी अंशों की व्याख्या करते हैं उस समय उनका शब्दार्थ करके उनका अद्भुत अर्थ करते हैं। भाष्यकारों ने अपने मन का अर्थ करने के लिये अजा (जन्मरहित) शब्द का अर्थ बकरी किया है—कितना परिवर्तन है। द्वैतवादी भाष्यकारों ने ऐसा ही, इससे भी भद्दे ढंग पर, श्रुतियों की व्याख्या की है। जहाँ जहाँ पर उन्होंने द्वैत पर श्रुति पाई है, वहाँ वहाँ पर तो ठीक व्याख्या की है, किन्तु जहाँ पर अद्वैतवाद की बातें आई हैं, वहाँ पर उन सब अंशों की मनमानी व्याख्या की है। यह संस्कृत भाषा इतनी जटिल है, वैदिक संस्कृत इतनी प्राचीन है और संस्कृत का शब्दशास्त्र इतना जटिल है कि एक शब्द के अर्थ को लेकर युग युगान्तर तक तर्क चल सकता है। कोई पंडित यदि चाहे तो वह किसी व्यक्ति के प्रलाप को भी युक्ति बल से और शास्त्र और व्याकरण के नियम उद्धृत करके शुद्ध संस्कृत बना सकता है। उपनिषदों के समझने में यही विघ्न बाधाएँ हैं। ईश्वर की कृपा से मैंने एक ऐसे व्यक्ति का सहवास पाया था जो एक

वेदों की व्याख्या करने में भाष्यकारों में मतभेद

ओर तो बड़े भारी द्वैतवादी थे, दूसरी ओर घोर अद्वैतवादी भी थे, जो एक ओर बड़े भारी भक्त थे, दूसरी ओर परम ज्ञानी थे। इन्हीं महात्मा के शिक्षा द्वारा पहले पहल उपनिषद् और दूसरे शास्त्रों को केवल आँख मूँद कर भाष्यकारों का अनुसरण न कर स्वाधीनतापूर्वक अच्छी तरह समझा है। और इस विषय मे मैंने जो कुछ थोडा बहुत अनुसधान किया है, उससे मैं इस सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ कि ये शास्त्र वाक्य परस्पर विरोधी नहीं हैं। इसलिये हमारे शास्त्रों की विकृत व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं। श्रुतियों के वाक्य बहुत सुन्दर हैं, वे परस्पर विरोधी नहीं हैं, उनमें अपूर्व सामञ्जस्य है, एक तत्व मानो दूसरे का सोपान-स्वरूप है। मैंने इन उपनिषदों में एक विषय अच्छी तरह से देखा है, पहले द्वैतभाव की बातें, उपासना आदि आरंभ हुई है, अन्त में अपूर्व अद्वैत भाव के उच्छ्वास से वह समाप्त हुआ है।

मेरे आचार्य श्री रामकृष्णदेव का मत-समन्वय

इसलिये इस समय इसी व्यक्ति के जीवन के प्रकाश से मैं देख रहा हूँ कि द्वैतवादी और अद्वैतवादी इन दोनों को आपस में विवाद करने का कोई कारण नहीं। दोनों का जातीय जीवन में विशेष स्थान है। द्वैतवादी रहेंगे ही, अद्वैतवादियों की तरह द्वैतवादियों का भी जातीय जीवन में विशेष स्थान है। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता, एक दूसरे का

द्वैत और अद्वैतवाद का समन्वय

परियाति स्वरूप है, एक मानो घर है, दूसरा उसका छप्पर है। एक यदि मूल है तो दूसरा फल है।

उपनिषदों के शब्दार्थ को बदलने की चेष्टा करना मुझे बहुत हास्यास्पद जान पड़ता है, क्योंकि मैं देखता हूँ कि उनकी भाषा अपूर्व है। अगर उन्हें श्रेष्ठ दर्शन के रूप में गौरव न दें, मुक्ति दायक, मानव जाति का कल्याण साधन करने का महत्व उन्हें न दें, तो भी उपनिषदों के साहित्य में जो अलुब्ध भाव चित्रित किये गये हैं, वे ससार में और कहीं पर भी नहीं पाये जा सकते। यहीं पर मनुष्य के मन की प्रबल विशेषता, अन्तर्द्रष्टा हिन्दू मत का विशेष परिचय पाया जा सकता है।

उपनिषदों की अपूर्व भाषा

अन्यान्य सभी जातियों के भीतर इस उच्च भाषा के चित्र को अंकित करने की चेष्टा देखी जाती है, किन्तु प्राय सर्वत्र देखा जाता है कि उन्होंने बाह्य प्रकृति के उच्च भाव को ग्रहण करने की चेष्टा की है। उदाहरण-स्वरूप मिल्टन, दान्ते, होमर वा अन्य किसी पाश्चात्य कवि के काव्य की अलोचना करके देखिये, उनके काव्य में स्थान स्थान पर उच्च भाव प्रकट करने वाले पद्यों की छटा दिखलाई पड़ेगी, किन्तु वहाँ पर सर्वत्र ही इन्द्रिय-ग्राह्य बहिःप्रकृति के वर्णन की चेष्टा दिखलाई पड़ती है। हमारे वेदों के संहिता भाग मे भी यह चेष्टा दिखलाई पड़ती है। सृष्टि आदि वर्णनात्मक कितने अपूर्व मन्त्रों में

पाश्चात्य काव्य और वेदसंहिता में उच्च भावों का वर्णन

वाह्य प्रकृति के उच्च भाव, देश काल की अनन्तता, जितनी उच्च भाषा में वर्णन करना सम्भव है, वर्णन किया गया है। किन्तु उन्होंने मानो शीघ्र ही देखा कि इस उपाय से अनन्त स्वरूप को ग्रहण नहीं किया जा सकता। उन्होंने समझा कि अपने मन के जो जो भाव वे अपनी भाषा में प्रकट करने की चेष्टा करते हैं, अनन्त देश, अनन्त विस्तार, अनन्त वाह्य प्रकृति भी उन्हे प्रकट करने में असमर्थ है। तब उन्होंने जगत की समस्या को हल करने के लिये दूसरा मार्ग ग्रहण किया।

उपनिषदों की भाषा ने नया रूप धारण किया,—उपनिषदों की भाषा एक तरह से नास्तिक भाव द्योतक, स्थान स्थान पर अस्फुट है, मानो वे तुम्हें अतिन्द्रिय राज्य में ले जाने की चेष्टा करती हैं, किन्तु आधे रास्त में जाकर ही रुक गई, केवल तुम्हें एक अग्राह्य अतेन्द्रिय वस्तु को दिखला दिया, तो भी उस वस्तु के अस्तित्व के सम्बन्ध में तुम्हें कोई सन्देह नहीं रहा। ससार में ऐसी कविता कहाँ है, जिसके साथ इस श्लोक की तुलना की जा सके ?

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि

—कठोपनिषद २ ५-१५

वहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँचतीं, चन्द्रमा और तारकाएँ भी नहीं हैं, वहाँ पर बिजली भी नहीं चमकतीं, साधारण अग्नि का कहना ही क्या ?

ससार में और कहाँ पर सम्पूर्ण जगत के सम्पूर्ण दार्शनिक भाव का पूर्ण चित्र पायेंगे ? हिन्दू जाति की समग्र चिन्ता धारा का, मनुष्य जाति की मुक्ति कामना की सारी कल्पना का सारांश जैसी विचित्र भाषा में चित्रित हुआ है, जैसे अद्भुत रूप का वर्णन किया गया है, वैसा और कहाँ पर पाओगे ?

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्व जाते।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वन्यत्नश्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोहनीशया शोचति मुह्यमान ।
जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक ॥२॥
यदा पश्य पश्यते रुक्म वर्ण कतारमीश पुरुष ब्रह्म योनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरंजन परमं साम्य मुपैति ॥३॥

—मुण्डकोपनिषद्-३ १

एक वृक्ष पर सुन्दर पाँख वाली दो सुन्दर चिड़ियाँ बैठी हैं, उन दोनों में परस्पर मैत्री भाव है। उनमें से एक उस वृक्ष का फल खाती है, दूसरा फल न खाकर चुपचाप शान्त भाव से बैठी है। नीचे की शाखा पर बैठी चिड़िया कभी मीठा, कभी कड़वा फल खाती है, एव इसी कारण कभी सुखी होती है, कभी दुखी, लेकिन ऊपर की शाखा वाली चिड़िया स्थिर गम्भीर भाव से बैठी है, वह अच्छा बुरा कोई फल नहीं खाती—वह सुख दु ख दोनो से उदासीन है, अपने में ही मस्त है। ये पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं। मनुष्य इस जीवन में स्वादिष्ट और कड़वे फल खाता है, वह अर्थ की खोज में व्यस्त है—वह इन्द्रियों के

पीछे दौड रहा है, संसार के क्षणिक सुख के लिये पागल की तरह दौड रहा है। और एक स्थान पर उपनिषद सरथी और उसके चचल दुष्ट घोड़े के साथ मनुष्य के इस इन्द्रिय सुखान्वेषण की तुलना की है। मनुष्य इसी प्रकार जीवन में व्यथ सुख के अन्वेषण में घूमता फिरता है। जीवन के आरभ काल में मनुष्य कितने सुनहले स्वप्न देखता है, किन्तु शीघ्र ही वह समझ जाता है कि वे केवल स्वप्न थे, वृद्धावस्था को पहुँचने पर वह अपने पहले के कर्मों की आवृत्ति करता है, लेकिन किस तरह वह घोर संसार जाल से मुक्त हो सकता है, इसका कोई उपाय नहीं खोजता। मनुष्य की नियति है। किन्तु सभी मनुष्यो के जीवन में समय समय पर ऐसे क्षण उपस्थित होते हैं, ऐसे शोक आनद का समय उपस्थित होता है, मानो सूर्य के ढाकने वाली बादल एक क्षण के लिये हट जाती है। उस समय हम लोग अपनी ससीम भाव के होते हुए भी क्षण काल के लिये उस सर्वातीत सत्ता का चकित होकर दर्शन करते हैं, दूरी पर—पञ्चेन्द्रियों से बद्ध जीवन के बहुत पीछे, दूरी पर, संसार के सुख दु ख से दूरी पर, इहलोक और परलोक में जिस सुख के भोगने की हम लोग कल्पना करते हैं, उससे बहुत दूरी पर उसका दर्शन करते हैं। उस समय मनुष्य क्षण भर के लिये दिव्यदृष्टि प्राप्त कर स्थिर हो जाता है, उस समय वह वृक्ष के

उपनिषदों का आरभ द्वैतवाद से होता है और अन्त अद्वैत वाद पर होता है। उदाहरण जीवात्मा और परमात्मा रूपी पक्षी द्वय

ऊपर बैठे हुए पक्षी को शान्त और महिमापूर्ण देखता है, वह देखता है कि वह स्वादिष्ट अथवा कटु कोई भी फल नहीं खाता है—वह अपने ही में मस्त रहता है, आत्म तृप्त होता है। जैसा कि गीता में कहा गया है —

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्चमानव,
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।

—गीता २-१७

जो आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसे और कौन सा कार्य शेष रहता है? वह व्यर्थ में कार्य करके क्यों समय नष्ट करेगा?

एक बार चकित भाव से ब्रह्म दर्शन करने पर फिर वह भूल जाता है, फिर ससार रूपी वृक्ष स्वादिष्ट और कडवे फल खाने लगता है और उस समय उसे कुछ भी याद नहीं रहता है। फिर एक बार सहसा वह ब्रह्म का दर्शन पाजाता है और जितनी ही इसे चोट लगती है, उतने ही वह नीचे शाखा वाली पक्षी के ऊपर वाली पक्षी के पास पहुँचती जाती है। अगर वह सौभाग्य क्रम से संसार क तीव्र आघात को पाता है, उस समय वह अपने साथी, अपने मित्र दूसरे पक्षी के समीप पहुँचता जाता है। और जितना ही वह पास पहुँचता जाता है, उतना ही वह देखता है कि उस ऊपर बैठी हुई चिड़िया की ज्योति आकर उसकी पाखों के चारों ओर खेलवाड़ कर रही है। और भी वह जितना पास पहुँचता जाता है, उतना ही उसका रूपान्तर होता जाता है।

क्रमश वह जितना ही पास होता जाता है, उतने ही वह देखता है कि वह मानो क्रमश मिला जा रहा है अन्त में उसका बिल्कुल अस्तित्व ही नहीं रहता। उस समय वह समझ जाता है कि उसका पृथक् अस्तित्व कभी नहीं था, उन्हीं हिलती हुई पत्तियों के भीतर शान्त और गम्भीर भाव से बैठे दूसरे पक्षी का प्रतिबिम्ब मात्र था। उस समय वह जान पाता है, वह स्वयं ही ऊपर वाला पक्षी था, वह सदा शान्त भाव से बैठा था उसी की वह महिमा है। उस समय फिर भय नहीं रह जाता, उस समय वह बिल्कुल तृप्त होकर धीर और शान्त भाव से रहता है। इस रूपक द्वारा उपनिषद द्वैत भाव से आरम्भ करके चूडान्त अद्वैतभाव की ओर ले जाता है।

उपनिषद के इस अपूर्व कवित्व, महत्त्व के चित्र, अत्यन्त ऊँचे भावों को दिखलाने के लिये सैकडों उदाहरण दिखलाये जा सकते हैं, परन्तु इस छोटी वक्तृता में उनके लिये स्थान नहीं हैं। तो भी एक और बात कहूँगा, उपनिषदों की भाषा, भाव सभी के भीतर कोई कुटिल भाव नहीं है, उनकी प्रत्येक बात तलवार की धार, हथौडे के घाव की तरह हृदय पर साफ वार करती है। उनके अर्थ समझने में किसी तरह की भूल नहीं हो सकती। उस संगीत के प्रत्येक सुर में एक जोर है, प्रत्येक को हृदय पर मुद्रित किया जा सकता है। उनमें एक भी जटिल वाक्य, असम्बद्ध बात नहीं है जिनके लिये मत्थापच्ची करना पडे। उनमें अवनति का चिन्ह मात्र नहीं है, ज्यादा रूपक वर्णन की चेष्टा

नहीं है। आगे चलकर विशेषण देकर क्रमागत भाव को और जटिल किया गया, असली बात बिल्कुल छिप गई, उस समय शास्त्र रूपी गोरख धन्धे के बाहर जाने का उपाय न रहा, उपनिषदों में इस तरह की किसी चेष्टा का पता नहीं चलता। अगर यह मनुष्यों के बनाये होते तो एक ऐसे जाति का साहित्य होते जो कभी अपने जातीय तेजवीर्य का एक बूँद भी नष्ट नहीं करते। इसका प्रत्येक पृष्ठ हम लोगों को तेज वीर्य की बात बतलाता है।

इस बात को अच्छी तरह से याद रखना होगा—जिन्दगी भर मैंने इसी की शिक्षा पाई है। उपनिषद हम लोगों से कहते हैं कि हे मनुष्यो, तेजस्वी बनो, दुर्बलता त्याग दो। मनुष्य कातर भाव से पूछता है कि मनुष्य में दुर्बलता है या नहीं ? उपनिषद् कहते हैं कि दुर्बलता है, लेकिन इससे भी अधिक दुर्बलता के द्वारा यह कैसे दूर हो सकती है ? भला मैले से मैला साफ़ हो सकता है ? पाप के द्वारा कहीं पाप दूर हो सकता है ? उपनिषद् कहते हैं कि

उपनिषदोंका उपदेश है कि निर्भय बनो, तेजस्वी बनो

हे मनुष्यो, तेजस्वी बनो, उठ कर खड़े हो, वीर बनो। संसार के साहित्य भर में केवल इसी में 'अभी' भयशून्य यह शब्द बार बार व्यवहृत हुआ है और किसी शास्त्र में मनुष्य या ईश्वर के लिये 'अभी' 'भयशून्य' यह विशेषण व्यवहृत नहीं हुआ है। यह शब्द कहते ही हमारे मानसिक नेत्रों के सामने प्राचीन काल के यूनान वासी सिकन्दर का चित्र खड़ा होता

है। जब वह दिग्विजयी सम्राट सिन्धु नदी के तट पर खड़ा था और जंगल के रहने वाले शिलाखंड पर बैठे बिल्कुल नंग धड़ंग साधु से बात कर रहा था। सम्राट उस साधु के अपूर्व ज्ञान से विस्मित होकर उन्हें खूब रुपये पैसे का लालच देकर ग्रीस देश में चलने के लिये कह रहा था। सन्यासी ने धन आदि के प्रलोभन की बात सुनकर हँसते हुए यूनान जाने से इन्कार किया। तब सम्राट ने अपना राजतेज दिखलाते हुए कहा, "अगर आप न चलेंगे तो मैं आपको मार डालूँगा"। तब साधु ने ठठाकर कहा, "तुमने जैसी झूठी बात अभी कही है, वैसी बात फिर कभी न कहना। मुझको कौन मार सकता है? इस जड़ जगत् के सम्राट! तुम मुझे मार सकते हो? यह कभी नहीं हो सकता! मैं चैतन्य-स्वरूप, अज और अक्षय हूँ। मैं न तो कभी जन्म लेता हूँ और न कभी मरता हूँ। मैं अनन्त हूँ, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हूँ! तुम बालक हो, तुम मुझे मार सकते हो?" यही असली तेज है, यही असली वीर्य है।

हे भाइयो, हे देशवासियो, मैं जितना ही उपनिषदों को पढ़ता हूँ, उतना ही मैं आप लोगों के लिये आँसू बहाता हूँ, क्योंकि उपनिषद् में कही हुई तेजस्विता को ही हम लोगों को अपने जीवन में परिणत करने की आवश्यकता हो गई है। शक्ति, शक्ति यही हम लोगों के लिये आवश्यक है। हम लोगों के लिये बल की विशेष आवश्यकता है। कौन हम लोगों को बल देगा? हम लोगों को दुर्बल बनाने को हज़ारों बातें हैं, हम लोगों ने काफी कहानियाँ सुनी हैं। हम लोगों के प्रत्येक पुराण में इतनी कहानियाँ

हैं कि जिनसे, ससार के जितने भर पुस्तकालय हैं, उनका तीन चौथाई भाग पूर्ण हो सकता है। ये सभी हमी लोगों के हैं। जो कुछ हम लोगों की जाति को दुर्बल कर सकती है, वह पिछले हजार वर्षों के भीतर ही हुई है। जान पडता है कि पिछले हजार वर्षों स हमारे जातीय जीवन का एकमात्र यही लक्ष्य था कि किस तरह हम लोग और दुर्बल बनें। अन्त में हम लोग वास्तव में कीडे क समान हो गये हैं इस समय जिसकी इच्छा होती है, वही हम लोगों को मसल डालता है। हे भाइयो! आप लोगों के साथ मेरा-खून का सम्बन्ध है, जीवन-मरण का सम्बन्ध है। मैं आप लोगों से पहले कहे कारणों के लिये कहता हूँ कि हम लोगों क लिये शक्ति की आवश्यकता है। और उपनिषद शक्ति के बृहत् आकर हैं। उपनिषद् जो शक्ति संचार कर सकते हैं उससे वे सारे ससार को तजस्वी कर सकते हैं। उनके द्वारा सम्पूर्ण जगत् को पुनर्जीवन दिया जा सकता है, उसे शक्तिशाली और वीर्यशाली बनाया जा सकता है। वे सभी जातियों, सभी मतों और सम्प्रदाय के दुखी पददलित लोगों को उच्च स्वर से पुकार कर कह रहे हैं तुम अपने पैरों खड़े होकर मुक्त होओ। मुक्ति या स्वाधीनता, (चाहे शारीरिक स्वाधीनता हो चाहे मानसिक, चाहे आध्यात्मिक हो,) उपनिषदों का मूल मंत्र है। जगत् में यही एकमात्र शास्त्र उद्धार का उपाय बतलाता है, मुक्ति का मार्ग बतलाता है। असली बंधन से मुक्त होओ, दुर्बलता से मुक्त होओ।

और उपनिषद् आपको यह भी बतलाते हैं कि यह मुक्ति आप में पहले ही से विद्यमान है। यही मत उपनिषदों की एक वशेषता है। चाहे आप द्वैतवादी भले ही हों, किन्तु आपको यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि आत्मा स्वभावत पूर्ण स्वरूप हैं। केवल कुछ कार्यों के द्वारा यह संकुचित हो गया है। आधुनिक वेकासवादी (Evolutionists) जिसको क्रम विकास कहते हैं, वैसा ही रामानुज का सकोच और विकास का मत भी है।

आत्मा की स्वरूपावस्था, इस विषय में द्वैत और अद्वैत का एकमत

आत्मा अपनी स्वाभाविक पूर्णता से भ्रष्ट होकर मानो संकुचित हो जाता है, उसकी शक्ति अव्यक्त भाव धारण करती है। सत्कर्म और सत्चिन्तन द्वारा वह फिर विकास को प्राप्त होता है उसी दशा में उसकी स्वाभाविक पूर्णता प्रकट होती है। अद्वैतवादियों के साथ द्वैतवादियों का यहीं मतभेद उपस्थित होता है कि अद्वैतवादी प्रकृति का परिणाम स्वीकार करते हैं। आत्मा का नहीं। मानो एक पर्दा है, उसमें एक छोटा सा छेद है। मैं इस पर्दे की आड़ में रहकर सारी जनता को देखता हूँ। मैं पहले केवल थोड़े से मुँह भर देख पाऊँगा। मान लो वह छोटा सा छेद बढने लगा, छेद जितना ही बढता जायगा, उतने ज्यादा लोगों को देखने में समर्थ होता जाऊँगा। अन्त में वह छेद बढते बढते पर्दा और छेद एक हो जायगा। उस समय तुममें और हम में कोई अन्तर न रह जायगा। इस स्थान पर तुममें और हममें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। जो कुछ

परिवर्तन हुआ, है वह परदे में हुआ है। तुम शुरू से लेकर अन्त
तक एक रूप थे, केवल परदे में ही परिवर्तन
द्वैतवाद और हुआ था। परिणाम के सम्बन्ध में अद्वैत
अद्वैतवाद में भेद, वादियों का मत है प्रकृति का परिणाम और
अद्वैतवादी प्रकृति आभ्यन्तरिक आत्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति।
का परिणाम मानते आत्मा किसी प्रकार संकोच को प्राप्त नहीं
हैं आत्मा का नहीं। होता। वह अपरिणामी और अनन्त है।
वह माया के पर्दे में मानो ढका हुआ था। यह
माया का पर्दा जितना ही क्षीण होता जाता है उतना ही आत्मा
की जन्मगत स्वाभाविक महिमा का आविर्भाव होता जाता है और
क्रमश वह और अधिक प्रकट होने लगता है।

इसी महान् तत्व को भारत से सीखने के लिये संसार प्रतीक्षा कर रहा है। वे चाहे जो कुछ कहें, वे अपने गौरव को प्रकट करने की चाहे जितनी चेष्टा करें, क्रमश ज्यों ज्यों दिन बीतते जायग वे समझते जायगे कि इस तत्व को स्वीकार किये बिना कोई समाज टिक नहीं सकता। आप लोग क्या देख नहीं रहे हैं कि सभी बातों में कितना बडा परिवर्तन हो रहा है? आप लोग क्या देख नहीं रहे हैं कि पहले सभी स्वभावत मद है, इस कारण उन्हें ग्रहण करने की प्रथा थी, लेकिन इस समय वह स्वभावत अच्छी प्रमाणित हो रही है? क्या शिक्षा प्रणाली में, क्या अपराधियों को दण्ड देने में, क्या पागलों की चिकित्सा करने में, यही क्यों, साधारण रोगो की चिकित्सा में भी प्राचीन नियम

था कि सभी स्वभावत मन्द है, इससे उन्हें ले लो। आधुनिक नियम क्या है? आजकल का विधान बतलाता है कि शरीर स्वभावत स्वस्थ है, वह अपनी प्रकृति से ही रोग को शान्त कर सकता है। औषधि शरीर के अन्दर सार पदार्थ के सचय में सहायता कर सकती है। अपराधियों के सम्बन्ध में नवीन विधान क्या कहता है? नवीन विधान स्वीकार करता है कि कोई अपराधी व्यक्ति चाहे जितना ही हीन हो, लेकिन उसमें जो ईश्वरत्व है, वह कभी परिवर्तित नहीं हो सकता, इसलिये अपराधियों के प्रति वैसा व्यवहार करना कर्तव्य है। आजकल पहले के सब भाव बदलते जा रहे हैं। इस समय कई स्थानों पर कारागार को संशोधनागार कहा जाता है। सभी बातों में ऐसा ही हो रहा है। ज्ञातरूप मे अथवा अज्ञात रूप में हो, सभी के भीतर ईश्वरत्व वर्तमान है, यह भारतीय भाव और और देशों में भी और कई रूप में व्यक्त हो रहा है। और तुम्हारे शास्त्र में ही केवल इसकी व्याख्या की गई है, उन्हें इस व्याख्या को स्वीकार करना ही पडेगा। मनुष्य के प्रति मनुष्य के व्यवहार में बडा परिवर्तन हो जायगा और मनुष्यों का केवल दोष दिखलाने के सारे भाव दूर हो जाँयगे। इसी शताब्दी में ही यह भाव लुप्त हो जायगा। इस समय लोग आपको गाली दे सकते हैं। 'संसार में पाप नहीं है' मैं इस अत्यन्त नीच भाव का प्रचार कर रहा हूँ, यह दोषारोपण करके ससार के इस सिरे से लेकर उस सिरे तक के लोगों ने

मुझे बुरा भला कहा है। गालियाँ दी हैं। लेकिन आगे चलकर जो लोग मुझे गालियाँ दे रहे हैं, उन्हीं के वंशधर यह समझकर कि मैं धर्म का प्रचार कर रहा हूँ अधर्म का नहीं, मुझे आशीर्वाद देंगे। मैं अज्ञान रूपी अन्धकार का विस्तार न कर ज्ञान रूपी प्रकाश फैलाने की चेष्टा करता हूँ यह समझ कर मैं गौरव अनुभव करता हूँ।

संसार हमारे उपनिषदों से एक और तत्व सीखने की प्रतीक्षा कर रहा है—वह तत्व है जगत की अखण्डता। अत्यन्त प्राचीन काल में एक वस्तु से दूसरी वस्तु में जो पृथकत्व समझा जाता था, इस समय वह जल्दी जल्दी दूर हो रहा है। बिजली और भाफ का बल संसार के भिन्न भिन्न भाग को एक दूसरे से परिचित करा देता है। उसके फल-स्वरूप हम हिन्दू लोग अपने देश को छोड कर और सब देशों को केवल भूत-प्रेत और राक्षसों से पूर्ण नहीं समझते और ईसाई भी नहीं कहते हैं कि भारत में केवल नर-मांस खाने वाले और असभ्य लोग निवास करते हैं।

उपनिषदों से संसार और एक तत्व सीखेगा-यह तत्व है जगत की अखंडता

अपने देश से बाहर होकर हम देखते हैं कि हमारे ही भाई सहायता के लिये अपने बाहों को फैलाते हैं और मुँह से उत्साहित करते हैं। बल्कि समय समय पर और देशों में हमारे देश से अधिक इस तरह के लोग दिखलाई पड़ते हैं। वे भी जब यहाँ पर आते हैं, वे भी यहाँ पर अपने ही तरह भ्रातृ भाव, उत्साह वाक्य और

सहानुभूति पाते हैं। हमारे उपनिषदों ने ठीक ही कहा है कि अज्ञान ही सब दुखों का कारण है। सामाजिक या आध्यात्मिक, हमारे जीवन के चाहे जिस किसी भी विषय को लीजिये उसी पर वह पूर्णरूप से सच्चा प्रमाणित होता है। अज्ञान से ही हम लोग एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, एक दूसरे को न जानने के ही कारण एक दूसरे से प्रेम नहीं करते हैं। जब हम एक दूसरे से अच्छी तरह परिचित हो जाते हैं, उसी समय हम लोगों में प्रेम हो जाता है। प्रेम क्यों न उत्पन्न होगा जब कि हम लोग सभी एक आत्म रूप हैं। इसलिये हम देखते हैं कि प्रयत्न न करने पर भी हम सब लोगों में एकत्व भाव स्वभावत ही आ रहा है। यही क्यों, राजनीति और समाज-नीति के क्षेत्र में भी जो समस्या बीस वर्ष पहले केवल जातीय थी, इस समय जातीय समस्या भित्ति पर उनकी मीमासा नहीं की जाती। वे समस्याऍं क्रमश विशाल रूप धारण करती जाती हैं। अन्तर्जातीय रूपी विस्तृत भूमि पर ही उन सब की मीमासा हो सकती है। अन्तर्जातीय सघ, अन्तर्जातीय परिषद, अन्तर्जातीय विधान, यही आजकल के मूलमन्त्र हैं। सभी के भीतर एकत्व भाव किस तरह बढ़ रहा है, यही उसका प्रमाण है। विज्ञान में भी जडतत्वों के सम्बन्ध में इसी तरह का सार्वभौमिक भाव इस समय आविष्कृत हो रहे हैं। इस समय आप सम्पूर्ण जड वस्तु को, समस्त जगत् को एक अखड स्वरूप में एक बड़े जड समुद्र के रूप में वर्णन करते हैं, तुम मैं,

सूर्य-चन्द्र यही क्यों और जो कुछ है, सभी इस महान् समुद्र में विभिन्न छोटे छोटे आवर्त के नाम मात्र हैं, और कुछ नहीं हैं। मानसिक नेत्रों से देखने में वे एक अनन्त चिन्ता-समुद्र के रूप में जान पडते हैं। तुम और मैं उस चिन्ता-समुद्र में छोटे छोटे आवर्त के समान हैं और आत्म दृष्टि से देखने पर सारा जगत एक अचल, परिणामहीन सत्ता अर्थात् आत्मा जान पडता है। नीति के लिये भी जगत् आग्रह प्रकट कर रहा है, वह भी हमारे ग्रन्थों में है। नोति तत्व की भित्ति के सम्बन्ध में भी जानने के लिये संसार व्याकुल हो रहा है, इसे भी वे लोग हमारे ही शास्त्रों मे पावेंगे।

भारत में हमें क्या करना चाहिये? यदि विदेशियों को इन सब बातों की आवश्यकता है तो हम लोगों को बीस गुना आवश्यकता है। क्योंकि हमारे उपनिषद चाहे जितने बड़े हों, दूसरी जातियों की तुलना में हमारे पूर्वज ऋषि चाहे जितने बड़े हों, मैं आप लोगों से स्पष्ट भाषा में कहता हूँ कि हम लोग दुर्बल हैं, अत्यन्त दुर्बल हैं। पहले हम लोगों में शारीरिक दौर्बल्य है, यह शारीरिक दुर्बलता ही हमारे एक तृतीयांश दुख का कारण है। हम लोग आलसी हैं। हम लोग कार्य कर नहीं सकते। हम लोग एक साथ मिल नहीं पाते, हम लोग एक दूसरे को प्यार नहीं करते। हम लोग अत्यन्त स्वार्थी हैं। जहाँ हम लोग तीन आदमी इकट्ठ होते हैं, वहाँ एक दूसरे के प्रति घृणा रखने लगते हैं, एक दूसरे को देखकर जलने लगते हैं। इस समय हम

लोगों की ऐसी ही दशा है, हम लोग इस समय बिल्कुल अस्त-व्यस्त दशा में हैं, अत्यन्त स्वार्थी हो गये हैं। कई शताब्दियों से हम लोग इसी विवाद में पडे हैं कि तिलक इस तरह से करना चाहिये कि इस तरह से। अमुक व्यक्ति को देख लेने पर भोजन नष्ट हो जायगा, ऐसी बड़ी समस्या पर बड़े बड़े ग्रंथ लिखते हैं। जिस जाति के मस्तिष्क की सारी शक्ति इस तरह की सुन्दर विषयों में लगी है, वह जाति इससे ज्यादा उन्नति करेगी, इसकी आशा ही कैसे की जा सकती है। और हम लोगों को शर्म भी नहीं आती। हाँ, कभी कभी शर्म आती तो है। किन्तु हम लोग जो सोचते हैं, वह कर नहीं पाते। हम लोग सोचते तो बहुत हैं, किन्तु कार्य रूप में परिणत नहीं करते। इस तरह तोते की तरह चिन्तन करने का हम लोगों को अभ्यास हो गया है। आचरण में हम लोग पीछे पैर रखते हैं। इसका कारण क्या है? शारीरिक दुर्बलता ही इसका कारण है। दुर्बल मस्तिष्क कुछ कर नहीं सकता। हम लोगों को इसे बदल कर मजबूत बनाना पड़ेगा, हमारे युवकों को पहले बलवान होना पड़ेगा, पीछे से धर्म भी चला आयेगा। ऐ हमारे युवको! तुम लोग बलवान बनो, तुम लोगों के प्रति यही मेरा उपदेश है। गीता पढ़ने की अपेक्षा फुटबाल खेलने से तुम स्वर्ग के ज्यादा निकट

गीता और फुटबाल

पहुँचोगे। मुझे अत्यन्त साहस के साथ ये बातें कहनी पड़ती है, किन्तु बिना कहे काम भी नहीं चलता। मैं तुम लोगों को प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि

जूता किस पैर में लगता है। मुझे थोड़ा बहुत ज्ञान है। मैं तुम लोगों से कहता हूँ कि तुम लोगों का शरीर मजबूत होने पर तुम लोग गीता को ज़रा अच्छी तरह से समझोगे। तुम्हारा खून कुछ ताजा रहने पर तुम लोग श्रीकृष्ण की बड़ी प्रतिभा और महान् वीर्य को अच्छी तरह से समझ सकोगे। जिस समय तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरों पर दृढ़ता के साथ स्थित रहेगा, जिस समय तुम लोग अपने को मनुष्य समझोगे, उसी समय तुम लोग उपनिषदों और आत्मा की महिमा को अच्छी तरह समझोगे। इस तरह वेदान्त को अपने उपयोग में लगाना होगा। बहुधा लोग मेरे अद्वैतवाद के प्रचार से डर जाते हैं। अद्वैतवाद, द्वैतवाद या अन्य किसी वाद का प्रचार करना मेरा उद्देश्य नहीं है। हम लोगों को इस समय केवल यही आवश्यक है कि हम लोग आत्मा की अपूर्वता, उसकी अनन्त शक्ति, अनंत वीर्य, अनन्त शुद्धत्व और अनन्त पूर्णता के तत्त्व को जानें।

अगर मुझे कोई लड़का होता, तो मैं उसे पैदा होते ही कहता, 'त्वमसि निरंजन'। तुम लोगों ने पुराण में मदालसा की सुन्दर कथा पढ़ी होगी। उसके सन्तान होते ही उसे अपने हाथ में लेकर हिलाते हुए गाकर कहने लगी 'त्वमसि निरंजन'। इस उपाख्यान में महान् सत्य छिपा हुआ है। तुम अपने को महान् समझो तुम महान् बनोगे। सभी मुझसे पूछते हैं मैंने सारी दुनिया में घूम कर क्या प्राप्त किया? लोग अंगरेज पापी हैं आदि बहुत सी बातें

त्वमसि निरंजन

कहते हैं, लेकिन अगर सभी अंगरेज़ अपने को पापी समझते होते तो अफ्रीका के मध्य भाग के निवासी निग्रो जाति की अवस्था में और उनमें कोई अन्तर न होता। ईश्वर की इच्छा से वे लोग इस बात पर विश्वास नहीं करते, बल्कि इस बात पर विश्वास करते हैं कि वे इस ससार के स्वामी हो कर जन्मे हैं, वे अपने महत्व में विश्वास रखते हैं। वे जिस बात में विश्वास करते हैं, उसे करते भी हैं। इच्छा होने पर वे लोग चन्द्रलोक सूर्य-लोक को भी जा सकते हैं। अगर वे अपने पुरोहितों की इस बात पर विश्वास करते कि वे अभागे पापी हैं, अनन्त काल तक उन्हें, नरक कुंड में जलता रहना पड़ेगा, तो आज जिस रूप में हम उन्हें देखते हैं, उस रूप में वे कभी नहीं होते। इसी प्रकार हम प्रत्येक जाति के भीतर देखते हैं कि उनके पुरोहित जो कहें और वे चाहे जितने ही बुरे सस्कारों में क्यो न फँसे हों, उनका आन्तरिक ब्रह्मभाव कभी नष्ट नहीं होता, वह जागृत होता है। हम लोगों ने विश्वास खो दिया है।

अँग्रेज बड़े क्यों कर हैं? अपने आत्म विश्वास के जोर से

तुम लोग क्या मेरी बातों पर विश्वास करोगे? हम लोग अंग्रेज़ स्त्री पुरुषों से कम विश्वासी हैं, हज़ार गुना कम विश्वासी हैं। मुझे स्पष्ट बात कहनी पड़ती है, किन्तु ऐसा कहे बिना दूसरा चारा नहीं। तुम लोग क्या देख नहीं रहे हो कि अंग्रेज़ स्त्री पुरुष जब हमारे धर्म के एक आध तत्व को समझ पाते हैं, उस समय वे उसे लेकर मानों उन्मत्त हो उठते हैं और यद्यपि राजा

की जाति के हैं, तो भी अपने देशवालों के उपहास और मज़ा
की परवा न करके भारत में हमारे धर्म का प्रचार करते आ
हैं। तुम लोगों में कितने आदमी ऐसा कर सकते हैं? कि
इसी बात पर गौर करके देखलो। और कर क्यों नहीं सक
हो? तुम लोग जानते नहीं हो, इस कारण से नहीं कर सकते
यह बात भी नहीं है—उन लोगों की अपेक्षा तुम लोग अधि
जानते हो, तो भी तुम लोग कार्य नहीं कर
सकते। तुम लोगों का जितना जानने से
कल्याण हो सकता है, उससे ज्यादा जानते हो
यही तो तुम लोगो के लिये मुश्किल है। तुम
लोगो का रक्त कलुषित हो गया है, तुम्हारा
मस्तिष्क गंदा हो गया है, तुम्हारा शरीर
दुर्बल है। शरीर को बदल डालो, शरीर को
बदलना ही होगा। शारीरिक दुर्बलता ही सारे
अनर्थों की जड़ है, और कुछ नहीं। गत कई शताब्दियों से तुम
लोग अनेक संस्कारो, आदर्श की बातें कहते तो हैं, लेकिन कार्य
के समय तुम में स्थिरता नहीं पाते। क्रमशः तुम लोगो के
आचरण से ससार को विरक्ति पैदा हो गई है और संस्कार नामक
वस्तु समस्त संसार के उपहास की वस्तु हो गई है। इसका कारण
क्या है? तुम लोगो में क्या कम ज्ञान है? ज्ञान की कमी
कहाँ है? तुम लोग जरूरत से ज्यादा ज्ञानी हो, सभी
अनिष्टो का मूल कारण यही है कि तुम लोग कमजोर हो,

तुम लोग जानते हो ज्यादा, किन्तु शारीरिक निर्बलता के कारण तुममें कार्य करने की शक्ति नहीं है।

दुर्बल हो, अत्यन्त दुर्बल हो, तुम लोगों का शरीर दुर्बल है, मन दुर्बल है, तुम लोगों में आत्म विश्वास ज़रा भी नहीं है। सैकड़ो शताब्दियों से विदेशी जातियों ने तुम पर अत्याचार करते करते तुमको पीस डाला है। हे भाइयो! तुम्हारे ही लोगों ने तुम्हारे सब बल का हरण कर लिया है। तुम लोग इस समय पददलित हो, भग्न देह हो, बिना रीढ के कीडे की तरह हो। कौन हम लोगों को इस समय बल देगा? मैं तुम लोगों से कहता हूँ कि हम लोग चाहें तो इसी समय हम लोगों में बल हो, इसी समय वीर्य हो।

इस बल को प्राप्त करने का पहला उपाय है, उपनिषदों पर विश्वास करो और यह विश्वास करो कि 'मैं आत्मा हूँ' मुझे न तो कोई तलवार से छेद सकता है, न कोई यन्त्र ही हमें पीस सकता है, न तो आग हमें जला सकती है, न हवा सुखा सकती है। मैं सर्वशक्तिमान हूँ। सर्वज्ञ हूँ! इसलिये ये आशाप्रद, परिणामप्रद वाक्य सदा उच्चारण किया करो। यह न कहो कि हम लोग दुर्बल हैं। हम लोग सब कुछ कर सकते हैं। हम लोग क्या नहीं कर सकते? हम लोगों के द्वारा सभी हो सकता है हम सब लोगों के भीतर वही महिमापूर्ण आत्मा विराजमान है। इस पर विश्वास करना पड़ेगा। नचिकेता के समान विश्वासी बनो। नचिकेता के पिता जिस समय यज्ञ कर रहे थे, उस समय नचिकेता के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न हुई। मेरी हार्दिक इच्छा है कि तुम सब लोगों के भीतर वही श्रद्धा

इसका उपाय है उपनिषदों में बतलाये हुए आत्मतत्व में विश्वास करना

पैदा हो, तुम सब लोग वीरों की तरह खड़े होकर इशारे।
जगत का परिचालन करने वाले, महान्‌चेता महापुरुष बनें
सब तरह से अनन्त ईश्वर के समान बनो। मैं तुम सब लोगों
को इसी रूप में देखना चाहता हूँ। उपनिषदों से तुम लोग
ऐसी ही शक्ति प्राप्त करोगे, उनसे तुम लोग यही विश्वास ग्रहण
करोगे। ये सभी बातें उपनिषदों में हैं।

ऐं, यह तो साधु सन्यासियों के लिये है, यह तो गूढ़ विद्या
है! पुराने समय में वन में रहने वाले केवल संसार-त्यागी महात्मा
ऋषि मुनि-ही उपनिषदों की चर्चा करते थे। शंकराचार्य ने कुछ
दया के साथ कहा, गृहस्थ लोग भी उपनिषदों का अध्ययन कर
सकते हैं, इससे उनका भला ही होगा। कोई अनिष्ट न होगा।
तो भी लोगों के मन से वह संस्कार अब भी दूर नहीं होता है कि
उपनिषदों में केवल वन जंगल की बातें भरी हैं। मैंने तुम लोगों
से अभी उस दिन कहा था कि जो स्वयं वेद के प्रकाश हैं, उन्हीं
भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा ही वेदों की एक
मात्र टीका, एक मात्र प्रामाणिक टीका स्वरूप
गीता सदा के लिए बनाई गई है। इसके ऊपर
और कोई टीका टिप्पणी नहीं चल सकती। इस
गीता में प्रत्येक व्यक्ति के लिये वेदान्त का
उपदेश दिया गया है। तुम चाहे जो कोई भी कार्य करो, तुम्हारे
लिये वेदान्त की आवश्यकता है। वेदान्त के ये सभी महान् तत्त्व
केवल अरण्य में या पर्वत की गुफा तक में ही आबद्ध न रहेंगे।

उपनिषद क्या केवल सन्यासियों के लिये है ?

विद्यालय में, भजनालय में, दरिद्रों की कुटिया में मछुओं की झोपडी में, छात्रों के पढने के कमरे में सभी स्थानो पर ये सभी तत्व आलोचित और कार्य रूप में परिणत होगे। प्रत्येक स्त्री पुरुष, प्रत्येक बालक बालिका, जो कोई कार्य क्यो न करें, जिस किसी अवस्था में क्यो न रहें सर्वत्र वेदान्त के प्रभाव का विस्तार किया जाना आवश्यक है।

और डरने का कारण नहीं है। उपनिषदों के गूढ़ तत्व को साधारण, लोग किस तरह कार्य में परिणत करेंगे? इसका उपाय शास्त्रों में लिखा हुआ है। अनन्त मार्ग है, धर्म अनन्त हैं, धर्म के मार्ग को छोड कर कोई जा नहीं सकता। तुम जो कर रहे हो, तुम्हारे लिये वही ठीक है अत्यल्प कर्म भी ठीक तरह से करने पर, उससे अद्भुत फल की प्राप्ति हो सकती है, इसलिये जिससे जितना हो सके करे। मछुआ अगर अपने को आत्मा समझ कर चिन्तन करेगा तो एक अच्छा मछुवा होगा। विद्यार्थी अगर अपने को आत्मा समझकर चिन्तन करेगा तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा। वकील अगर अपने को आत्मा समझ कर चिन्तन करेगा तो वह एक अच्छा वकील बन सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य सभी लोगों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। और इसका फल यह होगा कि जाति विभाग अनन्त काल के लिये रहेगा। समाज का स्वभाव ही है,—विभिन्न श्रेणी में

सर्वसाधारण में वेदान्त ज्ञान की आवश्यकता और उसकी कार्यकारिता

विभक्त होना। तब वह दूर कैसे हो सकता है ? विशेष विशे
अधिकार और न रहेंगे। जाति विभाग प्राकृतिक नियम है। सा-
जिक जीवन में मैं कोई खास काम करूँगा और
तुम कोई करोगे। तुम चाहे एक देश का शास
करो, और मैं एक जोड़ा टूटा जूता ही मरम्म
करूँ। परन्तु ऐसा होने से तुम मुझसे बड़े नहीं
हो सकते। तुम क्या मेरा जूता मरम्मत क
सकते हो ? मैं क्या देश का शासन कर सक
हूँ ?—यह कार्य विभाग स्वाभाविक है। मैं जू
सीने में पटु हूँ और तुम वेद पढ़ने में कुशल हो।
ऐसा होने से तुम मेरे सिर पर पैर नहीं रख सकते,
तुम खून करने पर प्रशंसा के पात्र बनो और मैं एक साधारण
चोरी के इल्जाम में फाँसी पाऊँ, यह नहीं हो सकता। यह अधि-
कार की विषमता दूर हो जायगी। जाति विभाग अच्छी चीज
है। जीवन-समस्या को हल करने के लिये एकमात्र यही स्वा-
भाविक साधन है। लोग अपने को कई श्रेणियों में बाटेंगे, इस
के सिवाय दूसरा चारा नहीं। जहाँ पर जाओ, जाति विभाग
देखोगे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि यह अधिकार की
विषमता भी रहेगी। इनको समूल नष्ट करना होगा। अगर तुम
मछुए को वेदान्त सिखाओगे तो वह कहेगा कि तुम जैसे हो,
मैं भी वैसा ही हूँ। तुम दार्शनिक हो, मैं मछुवा हूँ। लेकिन
तुम्हारे भीतर जो ईश्वर है, वही मेरे भीतर भी है। और यही

वेदान्त प्रचार के द्वारा जाति विभाग अनन्त काल तक बना रहेगा, केवल विशेष विशेष अधिकार नष्ट होंगे

मैं चाहता हूँ—किसी को कोई विशेष अधिकर न हो, सभी को उन्नति करने का पूरा पूरा मौक़ा मिले।

सभी लोगों को उनके आन्तरिक ब्रह्म के सम्बन्ध में शिक्षा दो। सब लोग अपने आप मुक्ति पायेंगे। उन्नति के लिये पहली चीज़ जो आवश्यक है, वह है स्वाधीनता। अगर तुम लोगों में कोई यह बात कहने का साहस करे कि मैं अमुक स्त्री या अमुक लड़के की मुक्ति दिला दूँगा तो यह अत्यन्त अन्यायपूर्ण बात होगी। मुझसे बार बार पूछा गया है कि आप विधवाओं और सम्पूर्ण स्त्री जाति की उन्नति के सम्बन्ध में क्या विचार रखते हैं? मैं इस प्रश्न का यह अन्तिम उत्तर देता हूँ कि क्या मैं विधवा हूँ जो मुझसे व्यर्थ का यह प्रश्न करते हो? क्या मैं स्त्री हूँ जो मुझसे बार बार इस प्रश्न को पूछते हो? तुम कौन हो जो नारी जाति की समस्या को हल करने के लिये आगे बढ़ते हो? कहीं तुम प्रत्येक विधवा और प्रत्येक रमणी के भाग्य-विधाता साक्षात् ईश्वर तो नहीं हो? वे अपनी समस्या को स्वय ही हल करेंगी। भगवान सब की ख़बर लेंगे। तुम कौन हो जो तुम अपने को सर्वज्ञ समझ रहे हो? ऐ नास्तिको! तुम ख़ुदा के ऊपर ख़ुदाई क्यो जता रहे हो? क्या तुम जानते नहीं हो कि सभी आत्मा परमात्मा का स्वरूप हैं? अपने चरखे में तेल डालो, स्वय तुम्हारे सिर पर बहुत सा बोझ है। ऐ नास्तिको! तुम्हारी समूची जाति तुम्हें उठाकर पेड़ पर बैठा सकती है, तुम्हारा समाज तुम्हें हाथ पर लेकर ऊपर उठा सकता है। गँवार तुम्हारी

तारीफ के पुल बाँध सकते हैं, लेकिन ईश्वर सोया हुआ नहीं है। तुमको वह पकड लेंगे और इस लोक में या परलोक में तुम अवश्य दण्ड पाओगे। इसलिये प्रत्येक स्त्री-पुरुष को, सभी को, ईश्वर दृष्टि से देखो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, केवल सेवा कर सकते हो। ईश्वर की सन्तानों की, यदि तुम्हारा सौभाग्य हो, तो स्वयं ईश्वर की सेवा करो। यदि ईश्वर की कृपा से उसकी किसी सन्तान की सेवा कर सको तो तुम धन्य होगे। तुम अपने को एक बहुत बडा आदमी न समझ बैठो। तुम धन्य हो जो तुम सेवा करने का अधिकार पाये हो, दूसरे नहीं पाते। कोई तुमसे सहायता की प्रार्थना नहीं करता। यह तुम्हारा पूजा स्वरूप है। मैं कितने दरिद्र पुरुषों को देखता हूँ मैं उनके पास जाकर, अपनी मुक्ति के लिये उनकी पूजा करता हूँ, वहाँ पर ईश्वर हैं। कितने लोग जो दुःख भोग रहे हैं वह तुम्हारी हमारी मुक्ति के लिए। जिससे हम लोग रोगी, पागल, कोढी, पापी आदि रूपधारी ईश्वर की पूजा कर सकें। मेरी बातें बड़ी कठिन जान पड़ती होंगी, किन्तु मुझे यह कहना ही पड़ेगा, क्योंकि हमारे जीवन का यह बड़ा सौभाग्य है कि हम ईश्वर की इन भिन्न भिन्न रूपों में सेवा कर सकते हैं। किसी के ऊपर प्रभुत्व जमा करके किसी का कल्याण कर सकते हो, इस धारणा को छोड दो। तो भी जिस प्रकार बीज को

हम लोग संसार की सहायता नहीं कर सकते, सेवा करने का हमें अधिकार है।

वृद्धि के लिये जल, मिट्टी, हवा आदि जुटा देने पर वह अपनी प्रकृति के अनुसार जो कुछ ग्रहण करना आवश्यक होता है, ग्रहण करना लेता है, और अपने स्वभावानुसार बढता है, उसी तरह तुम भी दूसरे का कल्याण कर सकते हो।

ससार में ज्ञान का प्रकाश फैलाओ। आलोक का विस्तार करो। जिससे सभी लोग ज्ञान-रूपी प्रकाश को प्राप्त करें। जब तक सब लोग ईश्वर के पास पहुँच न जाँय, तब तक मानो तुम्हारा कार्य समाप्त नहीं होता। दरिद्रों के पास ज्ञान फैलाओ, धनियो के पास और भी प्रकाश फैलाओ, क्योकि दरिद्रों की अपेक्षा धनियो को ज्यादा प्रकाश की आवश्यकता है। अशिक्षितों के पास प्रकाश ले जाओ, शिक्षितों के पास और भी ज़्यादा प्रकाश फैलाओ, क्योंकि आजकल शिक्षाभिमान बहुत ज़्यादा हो रहा है। इस प्रकार सब के आसपास प्रकाश का विस्तार करो, बाक़ी जो कुछ है, वह तो ईश्वर करेंगे ही, क्योंकि स्वयं भगवान ने कहा है —

ससार में सर्वत्र ज्ञानालोक फैलाओ

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्व कर्मणि॥

—गीता २।४२।

तारीफ़ के पुल बाँध सकते हैं, लेकिन ईश्वर सोया हुआ नहीं है। तुमको वह पकड़ लेंगे और इस लोक में या परलोक में तुम अवश्य दण्ड पाओगे। इसलिये प्रत्येक स्त्री-पुरुष को, सभी को, ईश्वर दृष्टि से देखो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, फक्त सेवा कर सकते हो। ईश्वर की सन्तानों की, यदि तुम्हारा सौभाग्य हो, तो स्वयं ईश्वर की सेवा करो। यदि ईश्वर की कृपा से उसकी किसी सन्तान की सेवा कर सको तो तुम धन्य होगे। तुम अपने को एक बहुत बड़ा आदमी न समझ बैठो। तुम धन्य हो जो तुम सेवा करने का अधिकार पाये हो, दूसरे नहीं पाते। कोई तुमसे सहायता की प्रार्थना नहीं करता। यह तुम्हारा पूजा स्वरूप है। मैं कितने दरिद्र पुरुषों को देखता हूँ मैं उनके पास जाकर, अपनी मुक्ति के लिये उनकी पूजा करता हूँ, वहाँ पर ईश्वर हैं। कितने लोग जो दुःख भोग रहे हैं वह तुम्हारी हमारी मुक्ति के लिए। जिससे हम लोग रोगी, पागल, कोढ़ी, पापी आदि रूपधारी ईश्वर की पूजा कर सकें। मेरी बातें बड़ी कठिन जान पड़ती होंगी, किन्तु मुझे यह कहना ही पड़ेगा, क्योंकि हमारे जीवन का यह बड़ा सौभाग्य है कि हम ईश्वर की इन भिन्न भिन्न रूपों में सेवा कर सकते हैं। किसी के ऊपर प्रभुत्व जमा करके किसी का कल्याण कर सकते हो, इस धारणा को छोड़ दो। तो भी जिस प्रकार बीज की

हम लोग संसार की सहायता नहीं कर सकते, सेवा करने का हमें अधिकार है।

वृद्धि के लिये जल, मिट्टी, हवा आदि जुटा देने पर वह अपनी प्रकृति के अनुसार जो कुछ ग्रहण करना आवश्यक होता है, ग्रहण करना लेता है, और अपने स्वभावानुसार बढता है, उसी तरह तुम भी दूसरे का कल्याण कर सकते हो।

संसार में ज्ञान का प्रकाश फैलाओ। आलोक का विस्तार करो। जिससे सभी लोग ज्ञान-रूपी प्रकाश को प्राप्त करें। जब तक सब लोग ईश्वर के पास पहुँच न जाँय, तब तक मानो तुम्हारा कार्य समाप्त नहीं होता। दरिद्रों के पास ज्ञान फैलाओ, धनियो के पास और भी प्रकाश फैलाओ, क्योकि दरिद्रों की अपेक्षा धनियों को ज्यादा प्रकाश की आवश्यकता है। अशिक्षितों के पास प्रकाश ले जाओ, शिक्षितों के पास और भी ज्यादा प्रकाश फैलाओ, क्योंकि आजकल शिक्षाभिमान बहुत ज्यादा हो रहा है। इस प्रकार सब के आसपास प्रकाश का विस्तार करो, बाकी जो कुछ है, वह तो ईश्वर करेंगे ही, क्योंकि स्वय भगवान ने कहा है —

संसार में सर्वत्र ज्ञानालोक फैलाओ

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कमफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्व कर्मणि ॥

—गीता २ । ४३ ।

कर्म करने ही भर का तुम्हें अधिकार है, फल का नहीं। तुम इस भाव से कर्म न करो कि इस कर्म को करके फल भोगूंगा और कर्मत्याग में तुम्हारी प्रवृत्ति न हो सके।

जिन्होंने हज़ारो वर्ष पहले हमारे पुरखो को इस प्रकार ए उच्च तत्व सिखाये थ, वे हम लोगों को अपने आदेश को कार्य रूप में परिणत करने की शक्ति प्राप्त करने में सहायता करें।

— ❖ —

सर्वावयव वेदान्त

दूर, बहुत दूर पर, जहाँ पर लिपिबद्ध इतिहास की कौन कहे, जनश्रुति की क्षीण किरणें भी प्रवेश करने में असमर्थ हैं, अनन्त काल से स्थिर भाव से, यह आलोक जगमगा रहा है और वाह्य प्रकृति के विचित्र झँकोरे से कभी तो यह क्षीण पड जाता है, कभी खूब चमकने लगता है, किन्तु चिरकाल से यह जलता आ रहा है और स्थिर भाव से केवल भारत ही में नहीं, सम्पूर्ण मननशील जगत में उसकी पवित्र किरणें, मौन और शान्त भाव से, फैल रही हैं, उषा काल की ठंडी ठंडी हवा के संयोग से सुन्दर गुलाब की कलियों को खिला रही है, यही वह उपनिषदों की किरणें हैं यही वह वेदान्त दर्शन है। यह कोई नहीं बतला सकता कि कब पहले पहल भारत में उसका आगमन हुआ। इसका निर्णय करने में अनुमान बल और अनुसन्धानकर्ताओं की सारी चेष्टायें व्यर्थ हो चुकी हैं। विशेषकर इस सम्बन्ध में पाश्चात्य लेखकों के अनुमान इतने परस्पर विरोधी हैं कि उन पर निर्भर करके कोई निर्दिष्ट समय निश्चित करना असम्भव है। हम हिन्दू लोग आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी कोई उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते। मैं निस्संकोच कहता हूँ कि मनुष्य ने आध्यात्मिक

वेदान्त का मौन प्रभाव

राज्य मे जो कुछ पाया है, या पायगा, यही उसका आदि और यही उसका अन्त है। इसी वेदान्त समुद्र से समय समय पर ज्ञान रूपी लहरें उठकर कभी पूर्व की ओर और कभी पश्चिम की ओर प्रवाहित हो रही हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में इस लहर ने पश्चिम मे प्रवाहित हो एथेन्स, अलेक्ज़ेण्ड्रिया और आन्तियक में जाकर ग्रीक वालों की चिन्ता-धारा को प्रभावित किया था।

यह बात निश्चित है कि साख्यदर्शन ने यूनानियों के ऊपर विशेष प्रभाव डाला था। और साख्य तथा भारतीय अन्यान्य सम्पूर्ण धर्म या दार्शनिक मत ही उपनिषद वा वेदान्त के एक मात्र प्रमाण पर निर्भर करता है। भारत में और प्राचीन या आधुनिक काल में अनेक प्रकार के विरोधी सम्प्रदायों के रहने पर भी वे सभी उपनिषदो वा वेदान्त का प्रमाण के लिये मुँह ताकते हैं। तुम चाहे द्वैतवादी हो, विशिष्टाद्वैतवादी हो, शुद्धाद्वैतवादी हो, चाहे अद्वैतवादी हो अथवा जिस प्रकार के अद्वैतवादी या द्वैतवादी हो, अथवा जिस किसी भी नाम से अपने मत को क्यों न पुकारो, तुम्हें अपने शास्त्र उपनिषदों की प्रामाणिकता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। यदि भारत में कोई सम्प्रदाय उपनिषदों की प्रामाणिकता स्वीकार नहं करता, तो उस सम्प्रदाय को 'सनातन' नहीं कहा जा सकता और जैन, बौद्ध, मत ने उपनिषदों की प्रामाणिकता नहीं स्वीकार

वेदान्त ही हिन्दू धर्म के अन्तर्गत सभी सम्प्रदायों की भित्ति है।

की, इसलिये वह भारतवर्ष से निकाल बाहर किये गये। इसलिये ज्ञात रूप में या अज्ञात रूप में वेदान्त ही भारतवर्ष के सभी सम्प्रदायों में व्यापमान है। और जिसे हम लोग हिन्दू धर्म कहते हैं यह अनन्त शाखा प्रशाखाओंवाला महान् अश्वत्थ वृक्ष रूप हिन्दू धर्म वेदान्त के प्रभाव से बिल्कुल अनुप्राणित है। ज्ञात रूप से चाहे अज्ञात रूप से वेदान्त ही हमारा जीवन है, वेदान्त ही हमारा प्राण है और हिन्दू कहने से ही वेदान्ती समझना चाहिये।

इसलिये भारतभूमि में भारतीय श्रोताओं के सन्मुख वेदान्त का प्रचार जैसे इस समय असगत जान पड़ता है, किन्तु यदि किसी चीज का प्रचार करना है, तो वह यहे वेदान्त ही है। विशेपकर इस युग में इसका प्रचार विशेप रूप से आवश्यक हो गया है। इसका कारण यह है कि मैंने आप लोगो से अभी कहा है कि भारतीय सभी सम्प्रदाय उपनिषदों को प्रमाण स्वरूप भले ही मानते हैं, परन्तु इन सम्प्रदायों में इस समय बड़ा विरोध देखने में आता है। बहुत बार बड़े बडे ऋषि तक उपनिषदों में जो अपूर्व समन्वय है, उसे ग्रहण नहीं कर पाते थे। कई बार मुनियों तक में आपस में मतभेद हो जाने से विवाद उठ खड़ा होता था। यह मत भेद एक बार इतना ज्यादा बढ चला था, कि जिसका मत दूसरे से कुछ भिन्न नहीं है, वह मुनि ही नहीं है—नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्। किन्तु इस समय इस तरह का विरोध नहीं चल सकता। इस समय उपनिषदो के मन्त्रों में गूढ़ रूप में जो

समन्वय है, उसकी अच्छी तरह से व्याख्या करना और प्रचार करना आवश्यक हो गया है। द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, अद्वैतवादी सभी सम्प्रदायों में जो समन्वय है उसे सारे संसार के सामने स्पष्ट रूप से दिखलाना होगा। केवल भारत में ही नहीं, सारे जगत के सभी सम्प्रदायों में जो सामञ्जस्य विद्यमान है उसे दिखलाना होगा।

और मैंने ईश्वर कृपा से एक ऐसे व्यक्ति के चरणों तले बैठकर शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त किया है जिसका सारा जीवन ही उपनिषदों का समन्वय रूप—उत्तम व्याख्या स्वरूप है जिसके उपदेश की अपेक्षा जीवन ही हजार गुना उपनिषदों के मंत्रों का जीता जागता भाष्य स्वरूप था। उनको देखने से जान पड़ता था कि उपनिषदों के भाव मानो मानव रूप धारण करके प्रकट हुए हैं। सम्भवतः उसी समन्वय का भाव मेरे भीतर भी कुछ कुछ आया है। मैं जानता नहीं कि संसार के सामने यह प्रकाश कर सकेगा या नहीं, किन्तु वेदान्तिक सभी सम्प्रदाय परस्पर विरोधी नहीं हैं, वे परस्पर सापेक्ष्य हैं, एक दूसरे का चरम परिणति स्वरूप हैं, एक दूसरे के सोपान हैं, एवं अन्त में सब का लक्ष्य अद्वैत 'तत्वमसि' में पर्यवसान होगा, यही दिखलाना मेरे जीवन का व्रत है।

एक ऐसा समय था जिस समय भारत में कर्मकांड की बड़ी प्रबलता थी। वेद के इस कर्मकांड में बड़े उच्च उच्च आदर्श थे, इसमें सन्देह नहीं, हम लोगों का वर्तमान दैनिक कार्यक्रम में जो पूजा-

अर्चना सम्मिलित है, वह वैदिक कर्मकाड के अनुसार ही नियमित है, किन्तु तोभी वैदिक कर्मकाड भारत भूमि से प्राय: अन्तर्हित हो गया है। वैदिक कर्मकाड के अनुशासन के अनुसार हम लोगों का जीवन आजकल बिल्कुल नियमित हो सकता है।

वैदिक अपेक्षा वेदान्तिक नाम ही हिन्दुओं के लिये अधिक उपयोगी है

हम लोग अपने दैनिक जीवन में बहुत कुछ पौराणिक वा तान्त्रिक हो गये हैं। किन्हीं किन्हीं स्थानों में भारतीय ब्राह्मण वैदिक मन्त्रों का व्यवहार भले ही करते हैं, किन्तु उन स्थानों में भी उक्त वैदिक मन्त्रों का क्रम अधिकाश स्थानों में वैदिक क्रम के अनुसार नहीं है, वल्कि तन्त्र या पुराणों के अनुसार है। इसलिये वेदोक्त कर्मकाड के अनुवर्ती इस अर्थ में हम लोगों को वैदिक नाम से पुकारना मेरी समझ में सगत नहीं जान पडता। लेकिन हम लोग वेदान्तिक हैं, यह तो निश्चित है। जो हिन्दू नाम से परिचित है, उन्हें वेदान्तिक नाम से पुकारना अच्छा होगा। और मैं आप लोगों को पहले ही दिखला चुका हूँ कि द्वैतवादी वा अद्वैतवादी सभी सम्प्रदाय ही वेदान्तिक नाम से पुकारे जा सकते हैं।

वर्तमान समय में भारत में जो भी सम्प्रदाय दिखाई पडते हैं, उन्हें मुख्यकर द्वैत और अद्वैत इन दो प्रधान विभाग में विभक्त किया जा सकता है। इनके अन्तर्गत जितने भी सम्प्रदाय छोटे छोटे मतभेदों के ऊपर अधिक जोर देते हैं और जिनके ऊपर निर्भर कर विशुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि नये नये नाम ग्रहण

करना चाहते हैं, इससे कुछ होता जाता नहीं है। मोटे तौर प उन्हें द्वैतवादी चाहे अद्वैतवादी इन दो श्रेणियो के भीतर कि जा सकता है। और भी आधुनिक सम्प्रदायो में कितने नो दूसरे अति प्राचीन सम्प्रदायों के नये सस्करण मात्र जान पड़ हैं। रामानुज के जीवन और उनके दर्शन को पूर्वोक्त एक श्रे का प्रतिनिधि और शकराचार्य को दूसरी श्रेणी का प्रतिनि स्वरूप माना जा सकता है। रामानुज आधुनिक भारत क प्रधा द्वैतवादी दार्शनिक थे। और दूसरे द्वैतवादी सम्प्रदाय साक्षा वा परोक्ष रूप से उनके सम्पूर्ण उपदेशों का साराश, यहीं क्यों अपने सम्प्रदाय की छोटी छोटो नियमावली तक उन्हीं से ग्रहण की है। रामानुज और उनके प्रचार कार्य के साथ भारत के अन्यान्य द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदायो की तुलना करके देखने पर आश्चर्य होगा कि उनके उपदेश, साधन प्रणाली और साम्प्रदायिक नियमावली में कितनी समानता है। अन्यान्य वैष्णवाचार्यों में दक्षिणात्य के आचार्य प्रवर माध्व मुनि और उनके अनुयायी बंगाल प्रान्त के महाप्रभु चैतन्य क नाम लिए जा सकते हैं। चैतन्यदेव ने माध्वाचार्य की तरह बंगाल में प्रचार किया है। दक्षिणात्य में और भी कितने सम्प्रदाय हैं। जैसे विशिष्टाद्वैतवादी शैव। साधारणत शैव लोग अद्वैतवादी हैं सिंहल तथा दक्षिणात्य के किन्हीं किन्हीं स्थानों को छोड़कर भारत में सर्वत्र यही अद्वैतवादी शैव सम्प्रदाय वर्तमान है। विशिष्टाद्वैत-वादी शैव गण "विष्णु" नाम के बदले 'शिव' नाम रख लिया है

और जीवात्मा के परिमाण विषयक मतवाद के अतिरिक्त अन्यान्य सभी विषयो में रामानुज मतावलम्बी हैं। रामानुज के मतानुयायी आत्मा को अणु अर्थात् अत्यन्त क्षुद्र मानते हैं, किन्तु शंकराचार्य के अनुयायी उसे विभु अर्थात् सर्वव्यापी बतलाते हैं। अद्वैतवाद के माननेवाले सम्प्रदाय प्राचीनकाल में बहुत से थे। ऐसा अनुमान करने का यथेष्ठ, कारण है कि प्राचीन काल में ऐसे बहुत से सम्प्रदाय थे जिन्हें शंकराचार्य के सम्प्रदाय ने बिल्कुल ग्रसित करके अपने सम्प्रदाय का अंग बना लिया है। किन्हीं-किन्हीं वेदान्त-भाष्यो में, विशेषकर विज्ञानभिक्षु कृत भाष्य मे शंकर के ऊपर ही समय समय पर आक्रमण करना पाया जाता है। यहाँ पर यह कहना भी आवश्यक है कि यद्यपि विज्ञानभिक्षु अद्वैतवादी थे, तोभी उन्होंने शंकर के मायावाद को उडा देने की चेष्टा की है। ऐसे बहुत से सम्प्रदाय स्पष्ट दिखलाई पडते हैं जो इस मायावाद में विश्वास नहीं करते थे। यही क्यों, वे शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहने से भी बाज़ नहीं आते। उनकी धारणा थी कि बौद्धों से मायावाद को लेकर उन्होंने वेदान्त के भीतर घुसेड दिया है। जो हो, वर्तमान काल मे सभी अद्वैतवादी शंकराचार्य के अनुयायी हैं और उनके शिष्यो ने उत्तरी भारत में और दक्षिणात्य में सर्वत्र अद्वैतवाद का विशेष रूप से प्रचार किया है। शंकराचार्य का प्रभाव हमारे बंगाल प्रान्त और काश्मीर पंजाब पर ज्यादा नहीं पडा है। लेकिन दक्षिणात्य में स्मार्त लोग सभी शंकराचार्य के अनुयायी हैं

और बनारस उत्तरी भारत में अद्वैतवाद का एक केन्द्र है।

यहाँ पर और एक बात कहने से समझ में आयगा कि शंकराचार्य और रामानुज ने किसी नये तत्व के आविष्कार का दावा नहीं किया है। रामानुज ने स्पष्ट कहा है कि उन्हों बोधायन भाष्य का अनुसरण करके उसके अनुसार ही वेदान्त सूत्रों की व्याख्या की है। "भगवद्बोधायन कृता विस्तीर्ण ब्रह्मसूत्र वृत्ति पूर्वाचार्या संचिक्षिपु तन्मतानुसारेण सूत्राक्ष राणि व्याख्यासन्ते" इत्यादि बातें उनके भाष्य के प्रारंभ ही में हम देखते हैं। बोधायन भाष्य को कभी देखने का मुझे मौका नहीं मिला है। मैंने समूचे भारत में इसका अनुसंधान किया। लेकिन मेरे दुर्भाग्य से उक्त भाष्य उपलब्ध नहीं हुआ। स्वर्गी स्वामी दयानंद सरस्वती व्यास कृत वेदान्त सूत्र का बोधायन भाष्य को छोड़कर और किसी भाष्य को नहीं मानते थे औ यद्यपि मौका बेमौका रामानुज के ऊपर कटाक्ष करने से बा भी नहीं आते थे, फिर भी उन्होंने भी कभी बोधायन भाष्य को सर्वसाधारण के सम्मुख नहीं रखा। लेकिन रामानुज ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि उन्होंने बोधायन के भाव, कहीं कहीं पर भाषा तक को अपनाकर अपने वेदान्त भाष्य की रचना की। शंकराचार्य ने भी प्राचीन भाष्यकारों के अर्थों का अवलम्बन करके अपना भाष्य बनाया, ऐसा अनुमान करने का भी काफी कारण मौजूद है। उनके भाष्य में कई स्थलों पर अत्यन्त प्राचीन

ष्यों के नाम का उल्लेख पाया जाता है। और उनके गुरु या गुरु के गुरु जिस मत के मानने वाले थे वह मत अद्वैतवाद दान्त था बल्कि समय समय पर और किन्हीं किन्हीं षयों में उनकी अपेक्षा अद्वैत तत्वों के प्रकट करने में उनसे भी ढ़कर साहसी और आगे बढे हुए थे, तब यह स्पष्ट ही जान डता है कि उन्होंने भी किसी नये मत का प्रचार नहीं किया है। रामानुज ने जिस प्रकार बोधायन भाष्य का अनुसरण कर अपना भाष्य लिखा है, शकर ने भी अपना भाष्य वैसे ही लिखा है तो भी किस भाष्य के अनुसरण पर उन्होंने अपने भाष्य की रचना की थी इसका इस समय निर्णय करने का कोई उपाय नहीं है।

उपनिषद भारतीय दर्शन समूह की भित्ति हैं।

आप लोगों ने अभी जिन दर्शनों के सम्बन्ध में सुना है, उन सब की भित्ति उपनिषद ही हैं। जब वे वेदों की दुहाई देते हैं, उस समय उनका लक्ष्य उपनिषदो की ओर ही है। भारत के और दूसरे दर्शन यद्यपि उपनिषद से ही निकले हैं, किन्तु व्यास प्रणीत वेदान्त दर्शन की तरह और कोई दर्शन भारत मे प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सका है। वेदान्त दर्शन भी अत्यन्त प्राचीन सांख्य दर्शन के चरम परिणति मात्र हैं। और सम्पूर्ण भारत के, यही क्यो सम्पूर्ण जगत के सभी दर्शन और सभी मत कपिल के विशेष ऋणी हैं। सम्भवत मनस्तत्व और दार्शनिक विषयो में भारत के इतिहास में कपिल जैसा बडा मनुष्य नहीं पैदा हुआ। ससार में सर्वत्र ही कपिल का प्रभाव देखने में आता है। जहाँ

पर भी कोई परिचित दार्शनिक मत मौजूद है, वहीं प्रभाव देख पाओगे। वह हज़ारों वर्ष का पुराना भले ही हो, भी उस पर उसी कपिल—उस तेज पुञ्ज अपूर्व प्रतिभा वा कपिल—का प्रभाव देखने में आयगा। उनके मनोविज्ञान और उनके दर्शन की अधिकाश बातों का थोड़ा सा हेरफेर करके भारत के भिन्न भिन्न सम्प्रदाय उत्पन्न हुए हैं। हमारे ख़ास बंगाल में हमारे नैयायिक भारतीय दार्शनिक जगत पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सके हैं। वे छोटे छोटे सामान्य, विशेष, जाति, द्रव्य, गुण आदि बड़े बड़े पारिभाषिक शब्द-समूह (जिनको अच्छी तरह याद करने में सारी ज़िन्दगी ही बीत जाय) को लेकर व्यस्त रहे हैं। वे वेदान्तियों पर दर्शनों की अलोचना का भार देकर स्वयं 'न्याय' लेकर व्यस्त थे किन्तु आधुनिक समय में भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय वालो ने बंगाल के नैयायिकों की विचार प्रणाली सम्बन्धी परिभाषा को ग्रहण किया है। जगदीश, गदाधर और शिरोमणि नामक नदिया ज़िले की तरह मालाबार प्रान्त के कोई कोई नगर प्रसिद्ध हैं। यह तो हुई अन्यान्य दर्शनों की बात। व्यास प्रणीत वेदान्त दर्शन सब दर्शनों से अधिक लब्ध प्रतिष्ठ है और उसका जो उद्देश्य है—अर्थात् प्राचीन सत्य को दार्शनिक रूप में वर्णन करना,—उसे सिद्ध कर वह भारत में स्थायित्व प्राप्त किये हैं। इस वेदान्त दर्शन में युक्ति को बिल्कुल वेदों के अधीन कर दिया है, शंकराचार्य ने भी एक स्थान पर उल्लेख किया है, व्यास ने विचार की चेष्टा बिल्कुल नहीं की है

उनके सूत्र बनाने का एक मात्र उद्देश्य था—वेदान्त के मत्र रूपी पुष्प समूह का एक सूत्र (तागे) में गूँथ कर एक माला तैयार करना। उनके सूत्रों की प्रामाणिकता वहीं तक है, जहाँ तक वे उपनिषदों का अनुसरण करते हैं, इससे अधिक नहीं।

भारत के सभी सम्प्रदाय ही इस समय इस व्यास सूत्र को सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रंथ मानते हैं। और यहाँ पर जो कोई भी नया सम्प्रदाय निकलता है, वही सम्प्रदाय अपने मन के मुताबिक व्यास सूत्र का एक नया भाष्य लिख डालता है। समय समय पर इन भाष्यकारों में बडा विरोध देखने में आता है। कभी कभी तो मूल के अर्थ का अनर्थ तक कर दिया जाता है। जो हो, यह व्यास सूत्र इस समय भारत में प्रधान प्रामाणिक ग्रन्थ का आसन ग्रहण किये हैं और व्यास सूत्र पर एक नया भाष्य लिखे बिना कोई सम्प्रदाय स्थापित करने की आशा नहीं कर सकता।

व्यास सूत्र

व्यास सूत्र के नीचे जगद्विख्यात् गीता प्रामाणिक माना जाता है। शंकराचार्य गीता का प्रचार करके ही अत्यन्त गौरव-शाली हुए हैं। इस महात्मा ने अपने शानदार जीवन में जो बडे बड़े कार्य किये हैं, उनमें गीता का प्रचार और गीता का एक सुन्दर भाष्य लिखना अन्यतम है। भारत के और और सनातन धर्मावलम्बी सम्प्रदाय को चलाने वालो ने उनका अनुसरण करके गीता का एक एक भाष्य लिखा है।

गीता

उपनिषदों की संख्या बहुत ज्यादा है। कोई कोई कहते हैं कि वे सख्या में १०८ हैं और कोई कोई उनकी संख्या और ज्यादा बतलाते हैं। उनमें से कितने तो स्पष्ट रूप से आधुनिक हैं। जैसे अल्लोपनिषद्। इसमें अल्लाह की स्तुति है और मुहम्मद को रजपुत्र कहा गया है। सुनने में आता है कि अकबर के राजत्व काल में हिन्दू और मुसलमानों में एकता स्थापित करने के लिये इसकी रचना की गई थी। सहिता भाग में अल्ला वा इल्ला या इस तरह के किसी शब्द को पाकर उसका आधार लेकर इस उपनिषद् की रचना हुई है। इस प्रकार इस अल्लोपनिषद् में मुहम्मद रजपुत्र हुए हैं। इसका तात्पर्य चाहे जो कुछ भी हो, इस तरह के और भी बहुत से साम्प्रदायिक उपनिषद् हैं। उनके देखने से स्पष्ट ही जान पडता है कि वे बिल्कुल आधुनिक काल में बनाये गये हैं और इस तरह के उपनिषदों की रचना करना भी कोई कठिन कार्य न था। इसका कारण यह है कि वेद के संहिता भाग की भाषा इतनी प्राचीन है कि उसमें व्याकरण का ज़्यादा बन्धन नहीं था। कई साल पहले एक बार मुझे वैदिक व्याकरण के सीखने की इच्छा हुई और मैंने बड़े शौक से पाणिनि और महाभाष्य को पढना आरम्भ किया। लेकिन थोड़ा सा ही पढने पर मैं देखकर आश्चर्यचकित हुआ कि वैदिक व्याकरण का प्रधान भाग केवल व्याकरण के साधारण नियमों का व्यतिक्रम मात्र है।

उपनिषदों की सख्या प्रामाणिक और अप्रामाणिक उपनिषद

याकरण में एक साधारण नियम निश्चित हुए, इसके बाद यह कहा गया कि वेदों में इस नियम का अपवाद होगा। इसलिये आप लोग देखते हैं कि कोई भी आदमी मनमाना लिखकर कितनी आसानी से उसे वेद कहकर प्रचलित कर सकता है। केवल यास्क की निरुक्ति से ही कुछ रक्षा है। किन्तु इसमें केवल बहुत से एकार्थक शब्दों का समूह मात्र है। यहाँ पर ऐसा मौका है, वहाँ जिसकी जितनी इच्छा हो, खुशी से उपनिषदों की रचना कर सकता है। यदि संस्कृत का थोडा सा ज्ञान हो, तो प्राचीन वैदिक शब्दों की तरह बहुत से शब्दों को गढा जा सकता है। जब व्याकरण का डर ही नहीं रहा तो रजसुल्ला हो, चाहे कोई सुल्ला हो, उसमें आसानी से ढुकाया जा सकता है। इस तरह बहुत से नये उपनिषद् रचे गये हैं और सुना है कि इस समय भी ऐसा ही होता है। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि भारत के किन्हीं-किन्हीं प्रदेश में भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में अब भी इस तरह के नये उपनिषद् रचे जाते हैं। किन्तु इस तरह के जो उपनिषद् हैं वे स्पष्ट ही खोटा माल जान पडते हैं। शंकर, रामानुज और अन्यान्य बड़े-बडे भाष्यकारों ने उन्हीं पर भाष्य की रचना की है।

इन उपनिषदों के और दो एक तत्वों के सम्बन्ध में मैं आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, क्योंकि उपनिषद् अनन्त ज्ञान के समुद्र हैं और मेरे जैसे एक अयोग्य व्यक्ति को उसका सम्पूर्ण तत्व कहने में अनेकों वर्ष लग जायँगे,

एक वक्तृता में कुछ न होगा। इस कारण से उपनिषदों क
आलोचना में जो जो विषय मेरे मन में उत्पन्न हुए हैं, उनमें से
एक विषय ही आप लोगों से कहना चाहता हूँ। पहले
बात तो यह है कि उसके जैसा अपू
उपनिषद् अपूर्व काव्य संसार में और कोई नहीं है। वेद
काव्यस्वरूप हैं। संहिता भाग की आलोचना करके देखने प
उसमें भी स्थान स्थान पर अपूर्व काव्य-सौन्द
का परिचय पाया जाता है। उदाहरण के तौर पर ऋग्वेद संहि
के 'नासदीय सूक्त' की आलोचना कीजिये। उसमें प्रलय
गभीर अंधकार वर्णनात्मक यह श्लोक है—'तम आसीत् तम
गूढमग्रे' इत्यादि। "जिस समय अन्धकार के द्वारा अंधक
घिरा हुआ था।" इसके पढने से ही अनुभव होता है कि इ
कवित्व का अपूर्व गाम्भीर्य छिपा हुआ है। आप लोगों ने व
यह लक्ष्य किया है कि भारत के बाहरी प्रदेशों और भारत क
भीतर भी गम्भीर भाव के चित्र अंकित करने की बहुत चेष्टायें
हुई हैं ? भारत के बाहर के देशों में इस चेष्टा ने सदा जड प्रकृति
के अनन्त भावों के वर्णन का आकार धारण किया है—केवल
अनन्त बहिःप्रकृति, अनन्त जड, अनन्त देशों का वर्णन ही
वर्णन है। जहाँ मिल्टन, दान्ते या दूसरे किसी प्राचीन या आधु
निक यूरोपीय महाकवि ने अनन्त के चित्र अंकित करने का
प्रयत्न किया है, वहाँ उसने अपनी कविता रूपी पंख की सहायता
से अपने से दूर आकाश में विचरण कर अनन्त बहिःप्रकृति का

ोड़ा सा आभास देने की चेष्टा की है। यह चेष्टा यहाँ भी हुई है। वेद संहिता में यह बहिर्प्रकृति का अनन्त विस्तार जिस तरह विचित्रता के साथ चित्रित होकर पाठकों के सामने उपस्थित होता है वैसा और कहीं पर भी नहीं दिखलाई पडेगा। संहिता के इस 'तम आसीत तमसा गूढ़े' इस वाक्य को स्मरण रखकर तीन विभिन्न कवियों के अन्धकार वर्णन की आपस में तुलना करके देखिये। हम लोगों के कालिदास ने लिखा है, "सूची-भेद्य अन्धकार" मिल्टन ने लिखा है, "आलोक नहीं, दृश्यमान अन्धकार।" किन्तु ऋग्वेद संहिता कहता है, "अन्धकार अन्धकार के द्वारा आवृत था, अंधकार में अन्धकार छिपा हुआ था।" ग्रीष्म प्रधान देश में रहने वाले हम लोग इसे सहज ही समझ सकते हैं। जिस समय बरसात का मौसम एकाएक आरम्भ होता है, उस समय सारा दिशायें अन्धकार से भर जाती हैं और इधर उधर दौड़ते हुए काले काले बादल और दूसरे बादलों को ढक लेते हैं। जो हो, संहिता का यह कवित्व बिल्कुल अनोखा तो है, लेकिन यहाँ पर भी बहिर्प्रकृति के वर्णन की चेष्टा की गई है। अन्यत्र जिस प्रकार बहिर्प्रकृति के विश्लेषण के द्वारा मनुष्य-जीवन की महान् समस्याओं के समाधान की चेष्टा हुई है, यहाँ पर ठीक वैसा ही हुआ है। प्राचीन यूनानवासी अथवा आधुनिक काल के यूरोपियन लोग जिस प्रकार जीवन समस्या और जगत् के कारण भूत वस्तुओं के सम्बन्ध रखने वाले पारमार्थिक तत्वों के समाधान की इच्छा रखकर बहिर्प्रकृति

की ओर धावमान हुए थे, हमारे पुरखों ने भी यही किया और यूरोपियन लोगों की तरह वे लोग भी विफल मनोरथ थे। किन्तु पाश्चात्य जातियों ने इस सम्बन्ध में और कुछ किया वह जहाँ पर थीं, वहीं पर पडी रहीं। वहिर्जगत में जीवन-मरण की वडी कठिन समस्याओं को सुलझाने में असफल होकर वे और आगे न बढ सकीं। हमारे पूर्वजों ने भी इसे असम्भव जाना था, किन्तु उन्होंने इस समस्या के हल करने में इन्द्रियों को बिल्कुल असमर्थ ठहराया और यह बात सारे ससार के सामने निर्भयता से प्रकट भी कर दी। उपनिषद निर्भय होकर कहते हैं —

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" तैति० २। ६

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति।

"मन के साथ वाक् उसे न पाकर जहा से लौट आता है।"

"जहा न तो चक्षु जा सकते हैं और न वाक् जा सकता है।"

इसके तथा इसी तरह के और वाक्यों के द्वारा उस बड़ी भारी समस्या के समाधान में इन्द्रियों की बिलकुल असमर्थता की बात को उन्होंने व्यक्त किया है। किन्तु वे इतना ही कह कर शान्त नहीं हुए हैं, उन्होंने 'वहिर्प्रकृति को छोडकर अन्त प्रकृति की ओर ध्यान दिया है। वे इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये अपने आत्मा के पास गये, वे अन्तर्मुखी हुए, उन्होंने जान लिया कि वे प्राणहीन जड पदार्थ से कभी सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकत। उन्होंने देखा कि वहिर्प्रकृति से प्रश्न करके कुछ भी उत्तर नहीं पाया जा सकता, वह उन्हें कोई आशापूर्ण बात

हीं सुना सकती। इसलिये उन्होंने उससे सत्य के अनुसंधान की चेष्टा को व्यर्थ जान कर वहिर्प्रकृति को छोड दिया और उस ज्योतिर्मय जीवात्मा की ओर लौटे—वहाँ पर उन्हे उत्तर मिला।

"तमेवैक जानथ आत्मान अन्यावाचो विमुञ्चथ।"

—मुण्डक २।२५

"एक मात्र उस आत्मा को ही पहचानो, और सब बातें छोड दो।"

उन्होंने आत्मा से ही सारी समस्याओं को हल किया, उस आत्म-तत्व की आलोचना करके ही विश्वम्भर परमात्मा को, और जीवात्मा के साथ उनका सम्बन्ध, उनके प्रति हम लोगों के कर्तव्य एवं उनके अवलम्बन से हम लोगों का परस्पर का सम्बन्ध ये सभी बातें उन्होंने जानी। और इस आत्म-तत्व के वर्णन करने जैसा इस ससार में और कवित्व नहीं है। जड भाषा में इस आत्मा के चित्रित करने की आवश्यकता न रही। यही क्यों, उन्होंने आत्मा के वर्णन में निर्दिष्ट गुणवाचक शब्दों का एकबारगी परित्याग कर दिया। तब अनन्त की धारणा करने के लिये इन्द्रियों की सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता ही नहीं रही। बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य

उपनिषद् मे जगत् की समस्या का समाधान वहि-प्रकृति से नहीं, अन्तर्जगत के विश्लेषण में 'नेति' 'नेति' कहता है।

अचेतन मृत जड भावापन्न अवकाश रूपी अनन्त के वर्णन से बात लोप हुई, उसके बदले में आत्म-तत्व ऐसी भाषा में वर्णन किया जाने लगा कि उपनिषदों के उन शब्दों का उच्चारण मात्र ही मानो एक सूक्ष्म अतिन्द्रिय राज्य की ओर अग्रसर कर देता है। दृष्टान्त के लिये इस श्लोक की बात याद कीजिये'—

> "न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकम्।
> ने मा विद्युतो भान्ति कुतो ह्ययमग्नि ॥
> तमेव भान्त मनुभाति सर्व्वं।
> तस्य भासामिदं विभाति ॥"
>
> मुण्डक २।२।१

ससार में और कौन सी कविता इसकी अपेक्षा गम्भीर भाव को प्रकट करने वाली हो सकती है?

"वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा, न तारे। यह विद्युत् भी वहाँ नहीं चमकता, मर्त्यलोक की आग का कहना ही क्या?"

इस तरह की कविता और कहीं न पायेंगे। कठोपनिषद् की उस अपूर्व कथा को याद कीजिये। यह काव्य क्या ही अपूर्व और सर्व्वाङ्ग सुन्दर है! इसमें क्या ही अपूर्व शिल्प-कौशल प्रकट हो रहा है। इसका आरम्भ ही अपूर्व है। उस नचिकेता नामक बालक के हृदय में श्रद्धा का आविर्भाव हुआ है, उसकी यम के पास जाने की इच्छा हुई और उस 'आश्चर्यजनक' तत्व वक्ता स्वयं यम ने ही उसे जन्म-मृत्यु-रहस्य का उपदेश दिया। और वह उनसे क्या जानना चाहता था? मृत्यु-रहस्य।

पनिषद् का पदेश व्यक्ति-वेशेष के जीवन क ऊपर निर्भर हीं करता।

उपनिषद् के सम्बन्ध में जिस दूसरी बात की ओर आप ोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ—वह यही है—वह किसी व्यक्ति विशेष की शिक्षा नहीं है। यद्यपि हम उनमें बहुत से आचार्यों और वक्ताओं के नाम पाते हैं, किन्तु उनमें से किसी के वाक्य पर उपनिषदों की प्रामाणिकता निर्भर नहीं करती। एक मन्त्र भी उनमें से किसी के जीवन पर निर्भर नहीं करता। ये सभी आचार्य और वक्ता मानो छाया-मूर्ति की तरह रङ्ग-मंच क पीछे रहते थे। उन लोगों को कोई मानो स्पष्ट रूप से देख हीं पाता है, उनकी सत्ता मानो कोई स्पष्ट रूप से नहीं समझ ाता है, लेकिन वास्तविक शक्ति तो है उपनिषद् की उन अपूर्व हत्त्व-पूर्ण ज्योतिर्मय तेजपूर्ण मन्त्रों के भीतर—व्यक्ति विशेष क साथ मानो उनका कोई सम्पर्क ही नहीं है। बीसों याज्ञवल्क्य आयें जायें, कोई हर्ज नहीं, मन्त्र तो हैं। तो भी वे किसी व्यक्ति विशेष के विरोधी भी नहीं हैं। संसार में प्राचीन काल में जिस किसी भी महापुरुष वा आचार्य का अभ्युदय हुआ है, या भविष्य में भी होगा, उनके विशाल और उदार वक्षस्थल पर उन सब के लिये स्थान हो सकता है। उपनिषद् अवतार या महापुरुषों की पूजा के विरोधी नहीं हैं, बल्कि उसके पक्ष में हैं। दूसरी ओर वे बिल्कुल व्यक्तियों के सम्बन्ध में निरपेक्ष

किन्तु ये व्यक्ति-विशेषकी पूजा के विरोधी नहीं हैं।

हैं। उपनिषदों का ईश्वर जैसा निर्गुण है अर्थात् व्यक्ति नि
ईश्वर के अतीत तत्वों का विशेष रूप से समर्थक है, वैस
सम्पूर्ण, उपनिषद् व्यक्ति-निरपेक्षता रूपी अपूर्व तत्वों क ऊ
प्रतिष्ठित है। ज्ञानी, चिन्ताशील, दार्शनिक और युक्तिवा
ही व्यक्ति-निरपेक्ष तत्व मात्र को पा सकते हैं।

और यही हम लोगो का शास्त्र है। आप लोगों को या
रखना होगा कि ईसाइयो के लिये जिस तरह बाइबिल है, मुसल
मानों के लिये जैसा कुरान है, बौद्धों के लिये जैसा त्रिपिटक
पारसी लोगो के लिये जैसा जेन्दावस्ता है, वैसे ही हम लोग
के लिये उपनिषद् हैं। यही हम लोगो के शास्त्र हैं और दूस
नहीं। पुराण, तन्त्र और दूसरे ग्रंथ, यही क्यों, व्यास-सूत्र त
प्रामाणिकता के लिये गौण हैं। हम लोगों का मुख्य प्रमाण वे
हैं। मन्वादि स्मृति शास्त्र और पुराण आदि जहाँ तक उपनिष
से मिलते हैं, वहीं तक ग्रहण करने योग्य हैं, जहाँ पर दोना
विरोध पाया जाय, वहीं पर स्मृति आदिकों के प्रमाण क
निर्दयतापूर्वक परित्याग कर देना होगा। हम लागो को यह बा
सदा याद रखनी होगी, लेकिन भारत क दुर्भाग्य से हम लो
वर्तमान काल में इसे भूल से गये हैं। साधारण-साधारण गाँवों
के आचार व्यवहार इस समय उपनिषदों के उपदेशों के स्थान
पर प्रमाण स्वरूप हो रहे हैं। बङ्गाल के किसी दूर गाँव में कोई
विशेष आचार या मत प्रचलित है, वही मानो वेद वाक्य, यही
क्यों, उससे भी ज्यादा प्रामाणिक हो गया है। और 'सनातन

धर्मावलम्वी' इस पद का कितना प्रभाव है। किसी देहात के रहने वाले के सामने कर्मकाण्ड के सभी विशेष विशेष नियमों का बिना छोड़े हुए जो पालन करता है वह सच्चा सनातन धर्मावलम्बी है और जो ऐसा नहीं करता वह हिन्दू नहीं है। अत्यन्त दुःख की बात है कि हमारी मातृ-भूमि में बहुत से ऐसे लोग हैं जो किसी तन्त्र विशेष का अवलम्ब लेकर सर्वसाधारण को उस तन्त्र के अनुसार चलने का उपदेश देते हैं। जो उसके अनुसार नहीं चलता है, वह उनके मत से सच्चा हिन्दू नहीं है। इसलिये हम लोगों के लिये इस समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उपनिषद ही मुख्य प्रमाण हैं, गृह्य और श्रौत सूत्र तक वेदों के प्रमाण के अधीन हैं। ये उपनिषद् हम लोगों के पूर्व ऋषियों के वाक्य हैं और यदि आप लोग हिन्दू कहलाना चाहें तो आप लोगों को इस पर विश्वास करना होगा। आप लोग ईश्वर के सम्बन्ध में चाहे जो विश्वास कीजिये, लेकिन वेदो की प्रामाणिकता स्वीकार न करने से नास्तिक कहलायँगे। ईसाई, बौद्ध तथा अन्यान्य शास्त्रों से हमारे शास्त्र में यहीं अन्तर है। इन्हें शास्त्र न कह कर पुराण कहना ठीक होगा। क्योंकि इनमें जलप्लावन का इतिहास, राजाओं और राजवशों का इतिहास, महापुरुषों के जीवन-चरित आदि विषयों का वर्णन दिया हुआ है। यही पुराणों के लक्षण हैं, इसलिये जहाँ तक वे वेदों से मिलते हैं, वहीं तक ग्राह्य हैं। बाइबिल और दूसरे-दूसरे शास्त्र जहाँ तक वेदों के अनुकूल हैं, वहाँ तक मानने योग्य हैं, लेकिन

जहाँ नहीं मिलते, वहाँ पर मानने की आवश्यकता नहीं। कुरान के सम्बन्ध में भी यही बात है। इन सभी ग्रन्थों में बहुत से नीति के उपदेश हैं, इसलिये वेदों के साथ जहाँ तक उनकी एकता है, वहाँ तक पुराणों की तरह वे प्रामाणिक हैं। बाकी अंश त्याज्य हैं।

वेदों के अनैतिहासिकता ही उनकी सत्यता का प्रमाण है।

वेदों के सम्बन्ध में हम लोगों का यह विश्वास है कि वेद कभी लिखे नहीं गये, वेदों की उत्पत्ति ही नहीं हुई। एक ईसाई पादरी ने मुझसे एक बार कहा था कि उनकी बाइबिल ऐतिहासिक भित्ति पर स्थापित है, इसलिये सत्य है। इस पर मैंने उसे उत्तर दिया था कि हमारे शास्त्रों की ऐतिहासिक भित्ति कुछ नहीं है, इसीसे वे सत्य हैं। तुम्हारे शास्त्र जब कि ऐतिहासिक हैं तब निश्चय ही कुछ दिन पहले वे किसी मनुष्य द्वारा रचे गये थे। तुम्हारे शास्त्र मनुष्यों के रचित हैं, हम लोगों के नहीं। हम लोगों के शास्त्रों की अनैतिहासिकता ही उनकी सत्यता का उत्कृष्ट प्रमाण हैं। वेदों के साथ आजकल के अन्यान्य शास्त्र ग्रन्थों का यही सम्बन्ध है।

यहाँ पर मैं उपनिषदों में जिन विषयों की शिक्षा दी गई है उनके सम्बन्ध में आलोचना करूँगा। उन में तरह तरह के भावों के श्लोक देखने में आते हैं कोई कोई तो द्वैतवादात्मक होते हैं।

द्वैतवादात्मक कहने से मैं क्या लक्ष्य करता हूँ ? कई विषयों में

उपनिषद के मुख्य मतवाद

भारत के सभी सम्प्रदाय एक मत हैं। पहले, सभी सम्प्रदाय संसारवाद अथवा पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। दूसरे, मनस्तत्व विज्ञान भी सम्प्रदायों का एक समान है। पहले यह स्थूल शरीर, उसके बाद सूक्ष्म शरीर वा मन है। जीवात्मा उसी मन का होता है। पाश्चात्य और भारतीय मनोविज्ञान में यही भेद है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान में मन और जीवात्मा में कुछ भेद नहीं माना जाता है, किन्तु यहाँ ऐसा नहीं होता। भारतीय मनोविज्ञान के मत से मन या अन्त करण मानो जीवात्मा के हाथ में यत्र के समान हैं। इस यन्त्र की सहायता से वह शरीर अथवा बाह्य जगत् के ऊपर कार्य करता रहता है। इस विषय में सभी एकमत हैं। और भी सभी सम्प्रदाय एक मत से स्वीकार करते हैं कि जीवात्मा अनादि अनन्त है। जब तक वह बिल्कुल मुक्त नहीं हो जाता, तब तक उसका पुन पुन जन्म होता है।

और एक मुख्य विषय पर सभी एक मत हैं और यहीं पर भारतीय और पाश्चात्य विचारो में मौलिक भेद है कि वे जीवात्मा में पहले ही से सम्पूर्ण शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अंगरेजी के (Inspiration) शब्द द्वारा जो भाव प्रकट होता है, उससे जाना जाता है कि मानो बाहर से कुछ आ रहा है, किन्तु हमारे शास्त्रों के अनुसार सब शक्ति, सब तरह का महत्व और पवित्रता आत्मा में ही विद्यमान है। योगी लोग आपसे बतलायेंगे

कि अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियों को वे सिद्ध
चाहते हैं वे पहले ही से आत्मा में विद्यमान हैं, उन्हें केवल
भर करना होगा। पतञ्जलि के मत से हम लोगों के पैरों के नीचे
चलने वाले छोटे से छोटे कीड़ों तक में अष्ट सिद्धि हैं केवल उनके
देह रूपी आधार के अनुपयुक्तता के कारण वे प्रकाशित नहीं हो
सकते। उत्कृष्ट शरीर के पाने से ही वे शक्तियाँ प्रकट हो सकेंगी,
किन्तु वे पहले ही से विद्यमान थीं। उन्होंने अपने सूत्र में एक
स्थान पर कहा है कि "निमित्तम प्रयोजक प्रकृतीना वरण मेदस्तु
तत चेत्रिकवत्" । ४ । ३ । जिस प्रकार किसान अपने खेत
में जल लाने के लिए केवल अपने खेत की मेंढ काट कर
पास की नहर के साथ उसे मिला देता है, ऐसा करने पर
जिस प्रकार जल अपने वेग से आकर उपस्थित होता है उसी तरह
जीवात्मा में सभी शक्तियाँ, पूर्णता और पवित्रता पहले से ही
विद्यमान रहती हैं, केवल माया के आवरण के होने से वे प्रकाशित
नहीं होतीं। एक बार इस आवरण के दूर होने पर आत्मा अपनी
स्वाभाविक पवित्रता को प्राप्त करता है और उसकी शक्तियाँ
जागृत हो उठती हैं। आपको याद रखना चाहिये कि प्राच्य और
पाश्चात्य विचार प्रणाली में यही विशेष अन्तर है। पाश्चात्य
विद्वान यह मत सिखलाते हैं कि हम सब लोग जन्म से ही पापी
हैं। और जो इस भयानक मत पर विश्वास नहीं करते, उनके
प्रति उनके मन में बहुत द्वेष भाव होता है। वे कभी इस बात पर
विचार करके नहीं देखते कि यदि हम लोग स्वभावत मन्द हो

तो फिर हम लोगों के अच्छे होने की कोई आशा ही नहीं, क्योंकि प्रकृति कभी बदल नहीं सकती। प्रकृति में परिवर्तन, यह वाक्य अपना ही विरोधी हो जाता है—जिसका परिवर्तन होता है, उसे प्रकृति नहीं कहा जा सकता। यह विषय हम लोगो को याद रखना होगा। इस विषय में द्वैतवादी, अद्वैतवादी और भारत के सभी सम्प्रदाय एक मत हैं।

भारत के आधुनिक सभी सम्प्रदाय और एक विषय में एक मत हैं। वह यह है कि इश्वर का अस्तित्व है। परन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में सभी सम्प्रदायों में भिन्न भिन्न धारणा हैं। द्वैतवादी सगुण, केवल सगुण ईश्वर में विश्वास रखते हैं। मैं इस सगुण के सम्बन्ध में कुछ और स्पष्ट करके बतलाना चाहता हूँ। इस सगुण शब्द कहने से देहधारी सिंहासनासीन, जगत् शासनकर्ता पुरुष विशेष से अभिप्राय नहीं है। सगुण का अर्थ गुणयुक्त है। शास्त्रों में इस सगुण ईश्वर का वर्णन कई स्थानों पर देखने में आता है। और सभी सम्प्रदाय इस जगत् के शासक, स्रष्टा, पालनकर्त्ता और संहर्ता स्वरूप सगुण को स्वीकार करते हैं। अद्वैतवादी इस सगुण ईश्वर के ऊपर ज्यादा विश्वास नहीं करते। वे इस सगुण ईश्वर से भी उच्चतर अवस्था विशेष में विश्वास रखते हैं, उसे सगुण निर्गुण नाम दिया जा सकता है। जिसका कोई गुण नहीं, उसे किसी विशेषण के द्वारा वर्णन करना असम्भव है। और अद्वैतवादी उसके लिये सत् चित् आनन्द छोड कर और कोई विशेषण देने को तैयार नहीं। शङ्कर ने ईश्वर को सच्चिदानन्द

विशेषण दिया है किन्तु उपनिषदों में ऋषियों ने और ज्या
चढ कर कहा है कि 'नेति नेति' अर्थात् यह नहीं, यह नहीं। जो
सभी सम्प्रदाय ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने में एकमत है

यहाँ द्वैतवादियों के मत की थोड़ी आलोचना करूँगा। मैं
पहले ही कहा है कि मैं रामानुज को द्वैतवाद सम्प्रदाय
वर्तमान काल का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि स्वीक
रामानुज का मत करूँगा। यह बड़े ही दुःख की बात है
बगाल के लोग भारत और दूसरे प्रान्तों
धर्माचार्यों के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञान रखते हैं, और सम्पू
मुसलमानी शासन काल में एक चैतन्य को छोड़ कर सभी बड़े
धर्माचार्य ने दक्षिणात्य में जन्म लिया है। दक्षिणात्यवासियों
मस्तिष्क ही इस समय, वास्तव में, सम्पूर्ण भारत पर शास
कर रहा है। इसका कारण यह कि चैतन्य भी दक्षिणात्य के
सम्प्रदाय में सम्मिलित थे। (माध्वाचार्य के सम्प्रदाय में थे)
जो हो, रामानुज के मत से तीन नित्य पदार्थ हैं, ईश्वर, जीवात्म
और जड प्रपंच। जीवात्मा नित्य है और सदा परमात्मा
उसका पार्थक्य रहेगा उसकी स्वाधीनता कभी नष्ट न होगी।
रामानुज कहते हैं कि तुम्हारी आत्मा हमारी आत्मा से सदा
पृथक् रहेगी। और यह जड प्रपच—यह प्रकृति भी चिरकाल
पृथक ही रहेगी। उनके मत से जीवात्मा और ईश्वर जैसे सत्
है, वैसे ही जड प्रपच भी है। ईश्वर सब के अन्तर्यामी हैं और
इस अर्थ में रामानुज ने स्थान स्थान पर परमात्मा को जीवात्मा

े अभिन्न—जीवात्मा का सार पदार्थ—कहा है। उनके मत से
ालय काल में जिस समय सम्पूर्ण जगत् सकुचित हो जाता है,
उस समय सारी जीवात्मायें भी सकुचित होकर कुछ दिन
तक उसी दशा में रहती हैं। दूसरे कल्प के आरभ में फिर
बाहर आकर पहले कर्मो का फल भोगा करती हैं। रामानुज
के मत से जिस कार्य के द्वारा आत्मा की स्वाभाविक
पवित्रता और पूर्णता संकुचित होती है, वह असत् कर्म
है और जिसके द्वारा उसका विकास होता है, वही सत् कर्म है।
जो आत्मा के विकास में सहायता करता हे, वह अच्छा है और
जो उसके सकुचित होने में सहायता करता है, वही बुरा है। इस
प्रकार आत्मा कभी सकुचित, कभी विकसित होता है, अन्त में
ईश्वर की कृपा से मुक्ति पाता है। रामानुज ने यह भी कहा है
कि जो शुद्ध भाव के हैं और ईश्वर कृपा के प्राप्त करने की चेष्टा
करते हैं, वही उसे प्राप्त करते हैं।

श्रुति में एक प्रसिद्ध वाक्य है, "आहार शुद्धौ सत्वशुद्धि
सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति ।" जब आहार शुद्ध होता है, तो सत्व भी
शुद्ध होता है और सत्व के शुद्ध होने पर स्मृति अर्थात् ईश्वर
स्मरण, (अथवा अद्वैतवादियो के मतानुसार अपनी पूर्णता की
स्मृति) अचल और स्थायी होती है।" इस वाक्य को लेकर
भाष्यकारों में बहुत मत भेद दिखलाई पडता है। पहली बात तो
यह है कि इस सत्व शब्द का अर्थ क्या है। हम लोग जानते हैं
कि सांख्य मतानुसार और भारतीय सभी सम्प्रदायों ने इस बात

को स्वीकार किया है कि यह देह सत्व, रज और तम इन तीन पदार्थों से बनी है। साधारण लोगों की यह धारणा है कि ये तीनों गुण है, किन्तु ऐसी बात नहीं, ये जगत के उपादान का कारण स्वरूप हैं। और आहार के शुद्ध होने पर यह सत्व पदार्थ निर्मल होगा। विशुद्ध सत्व प्राप्त करना ही वेदान्त का एक मात्र उद्देश्य है। मैं आप लोगों से पहले ही कह चुका हूँ कि जीवात्मा स्वभावत पूर्ण और शुद्ध स्वरूप है और वेदान्त मत से वह रज और तम इन दोनों पदार्थों द्वारा आवृत है। सत्व पदार्थ अत्यन्त प्रकाश वाला होता है और जिस प्रकार प्रकाश सहज ही काँच को भेद कर जाता है, वैसे ही आत्म चैतन्य भी सहज ही सत्व पदार्थ को भेद कर जाता है। इसलिये अगर रज और तम के होने पर केवल सत्व पदार्थ ही रह जाय तो जीवात्मा की शक्ति और विशुद्धता प्रकट होगी और वह उस दशा में अधिक परिमाण में व्यक्त होगा। इसलिये उस सत्व को प्राप्त करना आवश्यक है। और श्रुति इस सत्व की प्राप्ति के लिये यह उपाय बतलाती है, कि "आहार शुद्ध होने पर सत्व शुद्ध होगा।" रामानुज ने इस आहार शब्द को खाद्य अर्थ में लिया है और इसे अपने दर्शन का एक प्रधान स्तम्भ रूप माना है। केवल यही नहीं, सम्पूर्ण भारतवर्ष के सभी सम्प्रदायों में इस मत का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इसलिये आहार शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है, इसी को विशेष करके समझना होगा। इसका कारण यह है

रामानुज और सत्वशुद्धि

के रामानुज के मत से यह आहार शुद्धि हमारे जीवन का एक अत्यन्त आवश्यक विषय है। रामानुज कहते हैं कि खाद्य पदार्थ तीन कारणों से अशुद्ध होता है। पहले जाति दोष से। खाद्य की जाति अर्थात् प्रकृति गत दोष। जैसे प्याज, लहसुन आदि स्वभाव अशुद्ध हैं। दूसरे आश्रय दोष-जिस व्यक्ति के हाथ से खाया जाता है उस व्यक्ति को आश्रय कहते हैं। अगर वह आदमी बुरा है तो वह खाद्य पदार्थ भी दूषित हो जायगा। मैंने भारतवर्ष में बहुत से ऐसे महात्मा देखें हैं, जो अपने जीवन मे ठीक ठीक इस उपदेश के अनुसार कार्य कर गये हैं। अवश्य ही उनमें वैसी क्षमता थी। कौन व्यक्ति इस पदार्थ को लाया है, किसने इसे स्पर्श किया है, उनके गुण दोष को समझ जाते थे और मैंने अपने जीवन में एक बार नहीं सैकडों बार इसे प्रत्यक्ष किया है। तीसरा निमित्त दोष है—खाद्य पदार्थ में बाल, कीडा, मक्खी, गंदगी आदि के पड जाने से उस खाद्य पदार्थ का निमित्त दोष कहते हैं। हम लोगों को इस अन्तिम दोष को हटाने का प्रयत्न करना होगा। भारत में आहार में यह दोष विशेष रूप से घुस गया है। इस त्रिविध दोष रहित खाद्य पदार्थ को खाने से सत्व की शुद्धि होगी।

तब तो यह धर्म बहुत आसान और सीधा सादा हुआ। अगर शुद्ध खाद्य पदार्थ को खाने से ही धर्म होता है, तो सभी ऐसा कर सकते हैं। संसार में कौन सा कमजोर और असमर्थ मनुष्य होगा जो अपने को इन दोषों से मुक्त नहीं कर सकता। इस-

लिये यह देखना चाहिये कि शंकराचार्य ने इस आहार शब्द
क्या अर्थ किया है। शंकराचार्य कहते हैं

शकर और आहार शुद्धि

आहार शब्द का अर्थ है इन्द्रिय द्वार से मन
जो विचार एकत्रित होते हैं। उनके निर्मल हो
से सत्व निर्मल होंगे, इसके पहले नहीं।
जो चाहो, खा सकते हो। यदि पवित्र भोजन के द्वारा
की शुद्धि होती वानर को ज़िन्दगी भर दूध भात खिला कर
नहीं देखते कि वह बडा योगी होता है या नहीं।
ऐसा होता है तो गाय, हरिण आदि सभी पहले बड़े भारी यो
हुए होते।

> नित्य नहाये हरि मिले, तो जल जन्तू होइ।
> फल मुल खाके हरि मिले तो बादुर बन्दर होइ।
> तृन चरे से हरि मिले तो बहुत मृगी अजा।

आदि

जो हो, इस समस्या की मीमांसा क्या है? दोनों आवश्य
है। यह ठीक है कि शकर ने आहार शब्द का जो अर्थ कि
है, वही मुख्य अर्थ है, तो भी यह सत्य है कि शुद्ध भोजन
से शुद्ध विचार में सहायता मिलती है। दोनों में घनिष्ठ सम्ब
है। दोनों चाहिये। तो भी गड़बडी यह हो रही है कि वर्तमान
में हम लोग शंकराचार्य के उपदेश को भूल कर केवल 'खा
अर्थ लेते हैं। इसी कारण जब मैं कहता हूँ कि धर्म चूल्हे

घुस पडा है तो लोग, मेरे विरुद्ध हो जाते हैं किन्तु आप लोग मेरे साथ मद्रास चले तो आप लोग भी मुझसे सहमत हो जाँयगे। आप बंगाली लोग उनसे बहुत आगे बढ़े हुए हैं। मद्रास की ओर यदि कोई इतर जाति का उच्चवर्ण के भोजन की ओर निगाह डाले तो वे उस खाद्य पदार्थ को फेंक देंगे। किन्तु वहाँ के लोगों ने खान पान में इतना विचार रखने पर भी कोई विशेष उन्नति करली हो, सो तो हम लोगों के देखने मे नहीं आता। अगर केवल अमुक पदार्थ का खाना छोडने ही से, और उसे दृष्टि दोष से बचाने ही से लोग सिद्ध पुरुष होते तो मद्रासी लोग बहुत सिद्ध पुरुष होते, किन्तु ऐसी बात नहीं। यहाँ पर हम लोगों के सामने जो कई एक मद्रासी मित्र बैठे हुए हैं, उनकी बात को छोड कर मैं यह बात कह रहा हूँ। उनकी बात ही दूसरी है।

इसलिये यद्यपि आहार के सम्बन्ध में इन दोनों मतों को मिलाने से एक पूर्ण सिद्धान्त स्थिर होता है, तो भी "उल्टा बुझली राम" न करना। आजकल इस खान पान को लेकर भी वर्णाश्रम में खूब चखचख चल रही है। और इस विषय को लेकर सब से ज्यादा बंगाली लोग चिल्ला रहे हैं। मैं आप लोगों में से प्रत्येक से पूछता हूँ कि आप लोग इस वर्णाश्रम के सम्बन्ध में क्या जानते हैं। इस समय इस देश में वह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था कहाँ पर है ? मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये। मुझे तो कहीं पर भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था दिखलाई नहीं पडती। जैसे कहते हैं। "सिर तो

नहीं है सिर में पीडा, "यहाँ पर आपके वर्णाश्रम धर्म क
की चेष्टा भी वैसी ही है। यहाँ पर चार वर्ण नहीं हैं। यहाँ प
केवल ब्राह्मण और शूद्र जाति देखता हूँ। यदि क्षत्रिय
वैश्य जाति है, तो वे कहाँ पर हैं और हिन्दू धर्म के नियमानुस
ब्राह्मण लोग क्यों नहीं उन्हें यज्ञोपवीत धारण कर वेद पढ़ने
आदेश करते और यदि इस देश में क्षत्रिय वैश्य नहीं
अगर केवल ब्राह्मण और शूद्र ही हैं, तो शास्त्रानुसार जि
देश में केवल शूद्र ही रहें, वैसे देश में ब्राह्मण को रह
उचित नहीं। इसलिये आप लोगों को बोरिया-बिस्तर बाँ
कर इस देश से चले जाना चाहिये। जो लोग म्लेच्छों
का खाद्य पदार्थ खाते हैं और म्लेच्छों के राज्य म निवास
करते हैं, उनके सम्बन्ध में शास्त्र क्या कहते हैं, इसे आप
लोग जानते हैं? आप लोग पिछले हजार वर्षों से यही
करते आ रहे हैं। इसका प्रायश्चित क्या है, इसे क्या आप
लोग जानते हैं? इसका प्रायश्चित है जलती चिता में प्रवेश
करना। आप लोग आसन तो ग्रहण करना चाहते हैं आचार्यों
का, तो काम ढोंगियों का सा क्यों करते हैं? अगर आप
लोगों को अपने शास्त्रों पर विश्वास है तो आप लोग भी उन
ब्राह्मणवर्य की तरह होजाइये जो सम्राट सिकन्दर के साथ
यूनान देश में गया था और म्लेच्छ का आहार करने के
बाद जलती चिता में प्रवेश कर गया था। ऐसा करके
देखिये। उस समय सारी जाति आकर आपके पैरों पर पड़ेगी।

आप लोग स्वय अपने शास्त्रों पर विश्वास नहीं रखते, परन्तु दूसरे को विश्वास कराने चलते हैं। और अगर आप यह समझते हैं कि इस युग में वैसा कठोर प्रायश्चित करने का आप में सामर्थ्य नहीं है तो आप लोग अपनी कमज़ोरी स्वीकार कीजिये और दूसरे की कमज़ोरी को क्षमा कीजिये । और दूसरी जातियों की यथाशक्ति सहायता कीजिये, उन्हें वेद पढ़ने दीजिये। बग देश के ब्राह्मणों, मैं आप लोगों को विशेष सम्बोधन करके कहता हूँ, आप लोग असली आर्य बनिये।

जो जघन्य वामाचार आपके देश का सत्यानाश कर रहा है, उसे छोड दीजिये। आप लोगो ने भारतवर्ष के और और स्थानों को देखा नहीं है। जिस समय मैं अपने देश में आता हूँ, उसका पहले के ज्ञान की चाहे जितनी बडाई क्यों न हो, जब मैं देखता हूँ कि हमार समाज में वामाचार किस कदर समा गया है तो मुझे वह अत्यन्त घृणित नरक के समान स्थान जान पडता है। यह वाममार्गियों का सम्प्रदाय हमारे बगाल प्रान्त के समाज को ढक लिया है। और जो रात में अत्यन्त वीभत्स लम्पटता के कार्य में लीन रहते हैं, वे ही दिन मे आचार के सम्बन्ध में ऊँचे स्वर में प्रचार करते हैं और अत्यन्त बड़े-बडे ग्रथ उनके कार्य के समर्थक हैं । अपने शास्त्रों के आदेशानुसार वे इस प्रकार के वीभत्स कार्य करते हैं। बगाल प्रान्त के रहनेवाले आप सब लोग इन बातों को जानते हैं। वामाचार का उपदेश

वामाचार

करने वाले सभी तन्त्र बगालियों के शास्त्र हैं। इन तन्त्रों
ढेर के ढेर प्रकाशित होते हैं और वेदों की शिक्षा क घ
उनकी आलोचना से आप लोगों के लडके लड़कियों के चि
कलुषित होते हैं। हे कलकत्ता शहर क रहने वाले भद्र पुरुषो
क्या आप लोगों को लज्जा नहीं आती कि यह अनुवाद सहि
वामाचार तंत्र जैसे भयानक वस्तु आप लोगों के लड़के लड़कि
के हाथों में पड़कर उनके चित्त को खराब करते हैं औ
लडकपन ही से इन्हें हिन्दुओं का शास्त्र कह कर उनकी शि
दी जाती है। अगर हो सके तो उनके हाथों से इन मन
को छीनकर असल शास्त्र-वेद-उपनिषद, गीता पढ़ने को दा

भारत के द्वैतवाद के मतानुसार जीवात्मा चिरकाल त
जीवात्मा ही रहेगा। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, उन्हें
पहले ही अवस्थित उपादान कारण से आ
द्वैत तथा अद्वैत की सृष्टि की है। लेकिन अद्वैतवादियों
मत से सृष्टि तत्व मतानुसार ईश्वर जगत् का निमित्त और उपादा
कारण दोनों हैं, वह केवल संसार का सृष्टि
कर्ता नहीं है, किन्तु उसने उपादान भूत अपने से उसकी
सृष्टि की है। यही अद्वैतवादियों का मत है। बहुत
सम्ये चौडे नामधारी द्वैतवादी सम्प्रदाय हैं, उनका विश्वा
है कि ईश्वर ने अपने से इस संसार की सृष्टि की है और व
जगत से सदा पृथक रहता है। और सभी उस जगत् पति
सदा अधीन रहते हैं। फिर बहुत से सम्प्रदाय हैं जिनका

यह मत है कि ईश्वर ने अपने को उपादान करके इस संसार की उत्पत्ति की है और जीव काल पाकर शान्त भाव परित्याग अनन्तता प्राप्त करेगा। लेकिन इस समय इन सभी सम्प्रदायों का लोप हो गया है। आजकल भारतवर्ष में अद्वैतवादी नामक जो सम्प्रदाय है, वह शंकर का अनुयायी है। शंकर के मतानुसार ईश्वर माया के अधीन होकर ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण होता है, वास्तव मे नहीं। ईश्वर ही यह संसार हो जाता है। यह बात नहीं, किन्तु वास्तव में जगत् नहीं है, ईश्वर ही है।

अद्वैत वेदान्त का यह मायावाद समझना विशेष कठिन है। इस वक्तृता में हमारे दर्शन के इस कठिन समस्या की आलोचना करने का समय नहीं है। आप लोगों में से जो पाश्चात्य दर्शन शास्त्रों से परिचित हैं, उन्होंने काट के दर्शन में कितने तरह के मत देखे होंगे। तो भी आप लोगों में से जिन्होंने काट के सम्बन्ध में अध्यापक मैक्समूलर के लेख में पढ़े हैं उन्हें सावधान करता हूँ कि उनके लेख में एक जबर्दस्त भूल है। उक्त अध्यापक के मतानुसार देशकाल-निमित्त हमारे तत्वज्ञान का प्रतिबन्धक है, उसे पहले पहल काण्ट ने ही आविष्कार किया है, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं। शंकराचार्य ही इसके पहले आविष्कर्ता हैं। उन्होंने देशकाल निमित्त को माया के साथ अभिन्न भाव से वर्णन किया है। सौभाग्य से शंकर भाष्य के भीतर मैंने इस भाव के दो एक स्थल देखकर अध्यापक मैक्समूलर

को भेज दिया। इसलिए मैं देखता हूँ कि काण्ट से पहले भी यह तत्व भारतवासियों को अज्ञात न था। अद्वैत वेदान्तियों का मायावाद का सिद्धान्त एक अपूर्व वस्तु है। उनके मत से सब कुछ ब्रह्म ही है। भेद माया के कारण दिखलाई पडता है।

यही एकत्व, 'यही एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म ही हम लोगों का परम लक्ष्य है। और यहीं पर भारतीय और पाश्चात्य विचार में मतभेद उपस्थित होता है। हजारों वर्षों से सम्पूर्ण संसार के सन्मुख इस मायावाद की घोषणा करके उन्हें ललकारा है कि यदि किसी में सामर्थ्य है तो उसे खण्डन करे। इस ललकार को सुनकर संसार की भिन्न-भिन्न जातियाँ भारतीय मत के प्रतिवाद करने को आगे बढ़ीं, किन्तु उसका फल यह हुआ है कि वे मर गईं और हम लोग आज भी जीते हैं। भारत ने सारे संसार के समक्ष घोषणा की है कि सभी भ्रान्ति से पूर्ण माया मात्र है। चाहे मिट्टी के बर्तन में भात खाओ, चाहे सोने के पात्र में भोजन करो, महाराजाधिराज बनो या दरिद्र भिक्षुक हो, मृत्यु ही एक मात्र परिणाम है। सभी की वही एक गति होती है। सभी माया का खेल है। यही भारत की अत्यन्त प्राचीन कथा है। बार बार कई जातियों ने उठकर उसे खंडन करने, उसके विरुद्ध प्रमाण देने की चेष्टा की है। उन्होंने उन्नति करके स्वय अपने हाथों में सारी क्षमता ले ली है,

सभी माया त्याग या वैराग्य

भोग को ही अपना मूल मत्र वना लिया है। उन्होंने यथाशक्ति उस क्षमता को बढाय। है, जहाँ तक हो सका है भोग किया है, परन्तु दूसरे ही क्षण उसकी मृत्यु हुई है। हम लोग चिरकाल से बेखटके चले आ रहे हैं, इसका कारण माया है। महामाया की सन्तान चिरकाल तक बची रहती है, किन्तु अविद्या की सन्तान की आयु अल्प होती है।

वेदान्त और हेगेल दर्शन के मूल भेद वेदान्त वैराग्यवादी, हेगेल भोगवादी

यहाँ पर और एक विषय में प्राच्य और पाश्चात्य विचारों में विशेष मतभेद है। प्राचीन भारत में भी हेगेल और शोपेनहार नामक जर्मन दार्शनिक विद्वानों के मत की तरह मतवाद का विकास देखने में आता है। किन्तु हमारे सौभाग्य से हेगले का सा मतवाद यहाँ पर बीजावस्था में ही नष्ट हो गया था, उससे अंकुर निकलकर वृक्ष के रूप में परिणत होकर उसके नाशकारी शाखाओं, प्रशाखाओं के फैलने की इस देश में नौबत ही नहीं आई। हेगेल का वास्तविक मत यह है कि उस एक निरपेक्ष सत्ता से कुहरे से परिपूर्ण, विश्रृंखलता युक्त और साकार व्यष्टि श्रेष्ठ है। अर्थात् अजगत् से जगत् श्रेष्ठ है, मुक्ति से संसार श्रेष्ठ है। यही हेगेल का असली सिद्धान्त है। इसलिये उसके मतानुसार तुम जितने ही संसार समुद्र में गोता लगाओगे, तुम्हारी आत्मा जितना ही जीवन के विभिन्न कर्म जाल में फँसी रहेगी, उतने ही तुम उन्नत होगे। पाश्चात्य देशवासी कहते हैं कि क्या तुम देखते नहीं हो कि हम

लोग कैसी कैसी इमारतें बनाते हैं, कैसा रास्ता साफ़ रखते हैं, किस तरह इन्द्रियों का विषय भोगते हैं। इसके पीछे—प्रत्येक *इन्द्रिय भोग के पीछे,*—घोर दुःख यन्त्रया पैशाचिकता, घृणा विद्वेष छिपे हुए हैं, इससे कोई हानि नहीं।

दूसरी ओर हमारे देश के दार्शनिकों ने पहले ही से घोषणा की है कि प्रत्येक अभिव्यक्ति,जिसको आप लोग क्रम विकास कहते हैं, वह उसी अव्यक्त का अपने को व्यक्त करने की व्यर्थ चेष्टा मात्र है। इस जगत् का सर्वशक्तिमान कारण स्वरूप तुम हो।

तुम्हीं अपने को छोटी से बावली में प्रतिबिम्बित करने की व्यर्थ चेष्टा करत हो! कुछ दिन तक चेष्टा करने पर तुम देखोगे कि यह असम्भव है उस समय जहाँ से आये थे, दौड़कर वहीं पर लौटने की चेष्टा करनी होगी। यही वैराग्य है—इस वैराग्य के आविर्भाव होने से ही धर्मसाधन का सूत्रपात होगा। *त्याग* को छोडकर किस तरह धर्म का, नीति का सूत्रपात हो सकता है? त्याग ही धर्म का आरम्भ है, त्याग ही उसकी समाप्ति है। वेद कहत हैं कि "त्याग करो, त्याग करो, इसक अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं।"

"न प्रजमा धनेन न चेज्यया त्यागेनैके अमृतत्वमानशु।"

सन्तान द्वारा नहीं, धन के द्वारा नहीं, यज्ञ के द्वारा नहीं, *एक मात्र त्याग के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।"*

यही सभी भारतीय शास्त्रों का आदेश है। यद्यपि बहुत से लोग राजसिंहासन पर बैठ कर भी महात्यागी का जीवन दिखला गये हैं, किन्तु जनक को भी कुछ दिन के लिये ससार के साथ सम्बध एकदम परित्याग करना पडा था, और उनकी अपेक्षा और कौन बडा त्यागी था? लेकिन आजकल हम सब लोग जनक कहलाना चाहते हैं। वे जनक हैं

कलि के जनक

अवश्य, किन्तु कितने अभागे लडके लडकियों के जनक मात्र हैं, जो उनके पेट भर खाने पीने और कपडे की भी व्यवस्था नहीं कर सकते। यहीं तक उनका जनकत्व है, पूर्वकाल के जनक की तरह उनमें ब्रह्मनिष्ठा नहीं है। हमारे आजकल के जनकों के यही भाव हैं। इस समय जनक होने का प्रयत्न छोडकर सीधे रास्त से चलो। यदि त्याग कर सकोगे, तभी तुमसे धर्म पालन होगा। अगर न हो सकेगा तो तुम प्राच्य से पाश्चात्य देश तक सारी दुनिया में जितने पुस्तकालय हैं, उनके सभी ग्रथ पढकर दिग्गज पडित हो सकते हो किन्तु तुम्हारे भीतर अगर यह कर्मकाण्ड रहेगा तो तुमसे कुछ न होगा, तुम्हारे भीतर धर्म का विकास कुछ भी न होगा।

केवल त्याग के द्वारा ही इस अमृतत्व को प्राप्त कर सकते हो, त्याग में ही अपूर्व शक्ति है। जिसके भीतर यह महाशक्ति उत्पन्न होती है, वह सारे ससार को परवा नहीं करता। उस समय उसके सामने सारा ससार गोपद के समान जान पडता है—"ब्रह्माण्ड गोष्पदायते।" त्याग ही भारत की सनातन

पताका है। इस पताका को सारे ससार में उडाकर, जो जातियाँ मरने को बैठी हैं, भारत उन्हें साव-

त्याग को ही अपना आदर्श बनाना पड़ेगा

धान किये देता है कि सब तरह के अत्याचार, सब प्रकार की अभद्रता का वह तीव्र प्रतिवाद करता है। उनसे मानो कहता है कि त्याग का मार्ग, शान्ति का पथ अवलम्बन करो, नहीं तो मर जाओगे। ऐ हिन्दुओ, इस त्याग के झण्डे को मत छोडो, इसे सब के सामने फहराते रहो। अगर तुम कमज़ोर दिल के हो और त्याग नहीं कर सकते तो अपने आदर्श को न बिगाडो। यह साफ़ साफ़ कह दो कि मैं संसार में त्याग नहीं कर सकता, किन्तु कपट का भाव न दिखलाओ,—शास्त्र का विकृत अर्थ करके चिकनी-चुपड़ी दलीलें देकर लोगों की आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न न करो। जो लोग इस तरह की दलीलों पर मुग्ध हो जाँय उन्हें भी उचित है कि अपने शास्त्रों क असली अर्थ जानने का प्रयत्न करें। जो हो, इस तरह का छल-कपट न करो, कह दो कि मैं दुर्बल हूँ। इसका कारण यह है कि यह त्याग बडा भारी महान् आदर्श है। अगर युद्ध में लाखों सिपाहियों की मृत्यु हो, और दस, दो अथवा एक ही सिपाही विजयी होकर लौट आये, तो इसमें हानि ही क्या है ?

लड़ाई के मैदान में जो लाखों मनुष्य मारे जाते हैं, वे धन्य होते हैं क्योंकि उन्हीं के खून के मूल्य विजय खरीदी जाती है।

त्याग के श्रेष्ठ आदर्श को जातीय जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिये झूठे सन्यासी को भी मानना होगा

एक को छोड़कर भारत के और और वैदिक सम्प्रदाय इस त्याग को ही अपना मुख्य आदर्श माना है। बम्बई प्रान्त का केवल वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय उसे नहीं मानता। और आप लोगों मे से बहुत से लोग समझते होंगे कि जहाँ पर त्याग नहीं, वहाँ पर अन्त में क्या रहता है। इस त्याग के आदर्श की रक्षा करने में अगर धर्मान्धता भी करना पड़े, भस्म रमाये उर्ध्व बाहु जटाजूट धारियों को आश्रय देना पड़े, वह भी अच्छा क्योंकि, यद्यपि यह सब अस्वाभाविक है, तो भी मनुष्यता का नाश करनेवाली जो विलासिता भारत में प्रवेश करके हम लोगों की मास मज्जा तक को सुखाने की चेष्टा कर रही है, और सारी भारतीय जाति को कपटी और छलिया बना रही है, उस विलासिता के स्थान में त्याग का आदर्श रखकर सम्पूर्ण जाति को सावधान करने के लिये इसकी आवश्यकता है। हम लोगों को त्याग का अवलम्बन करना ही पड़ेगा। प्राचीन काल में इसी त्याग ने समूचे भारत को विजयी बनाया था, इस समय भी यह त्याग ही फिर से भारत को विजयी बनायेगा। यह त्याग ही अब भी भारतीय सभो आदर्शों मे श्रेष्ठ और उच्च है। महात्मा बुद्ध, भगवान रामानुज, परमहंस रामकृष्ण देव की जन्म-भूमि, त्याग की लीलाभूमि यह भारत जहाँ पर अत्यन्त प्राचीन काल से कर्म काण्ड का प्रतिपादन चल रहा है, वहाँ पर अब भी सैकड़ों

व्यक्ति सर्वस्व त्याग करके जीवन् मुक्त हुए हैं, वह देश इस समय अपने आदर्शों को क्या तिलाञ्जलि देगा ? कभी नहीं। यह हो सकता है कि पाश्चात्य विलासिता के आदर्श से कितने लोगों के दिमाग फिर गये हैं, यह भी संभव है कि हजारों मनुष्य इस इन्द्रिय भोग रूपी पाश्चात्य विष को खूब गले भरतक पी गये हैं, तो भी हमारी मातृभूमि में हजारों व्यक्ति निश्चित रूप से हैं, जिनके सम्मुख धर्म केवल कहने भर के लिये न रहेगा, जो आवश्यकता पड़ने पर परिणाम का विचार न कर सर्वस्व त्याग करने को तैयार रहेंगे।

और एक विषय पर जिन पर हमारे सभी सम्प्रदाय एकमत हैं, उन्हें मैं आप लोगों के सामने कहने की इच्छा करता हूँ। यह भी एक बड़ा भारी विषय है। यह भाव भारत की विशेष सम्पत्ति है—यह है कि धर्म को साक्षात् करना होगा।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो।
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

"अधिक बकबक करने अथवा केवल बुद्धि बल से या अनेक शास्त्रों के पाठ से इस आत्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

केवल यही नहीं, संसार में एकमात्र हम लोगों के शास्त्र ही घोषणा करते हैं कि शास्त्रों के पाठ द्वारा भी आत्मा को नहीं प्राप्त किया जा सकता, फजूल बोलने या वक्तृता द्वारा

भी आत्मलाभ नहीं होता, उसे प्रत्यक्ष अनुभव करना होगा।

प्रत्यक्ष अनुभूति ही धर्म है।

यह गुरु के द्वारा शिष्य में आता है। शिष्य को जिस समय अन्त-र्दृष्टि होती है, उस समय उसके सामने सभी कुछ साफ हो जाता है, उस समय वह साक्षात् आत्मोपलब्धि करता है। और एक बात है। बगाल में एक विचित्र प्रथा दिखलाई पडती है उसका नाम कुलगुरु प्रथा है। मेरे पिता तुम्हारे गुरु थे—इस समय मैं तुम्हारा गुरु हूँगा। मेरे पिता तुम्हारे पिता के गुरु थे,

कुलगुरु प्रथा

इसलिये मैं भी तुम्हारा गुरु हूँगा। गुरु किसे कहते हैं? इस सम्बन्ध में प्राचीन वैदिक मत की आलोचना करें। जो वेदों का रहस्य जानते हैं—ग्रन्थकीट, वैयाकरण या साधारण पडित गुरु होने योग्य नहीं,—किन्तु जो यथार्थ में वेदों का तात्पर्य जानते हैं वे ही योग्य हैं।

यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य
जिस प्रकार चन्दन ढोनेवाला गदहा चन्दन के भार को ही जानता है, किन्तु चन्दन के गुण से परिचित नहीं होता।"

ये पडित भी वैसे ही हैं। इनके द्वारा हम लोगों का कोई कार्य नहीं हो सकता। वे यदि प्रत्यक्ष अनुभव न कर सके तो वे क्या सिखलायँगे? लडकपन में मैं इस कलकत्ता शहर में जहाँ तहाँ घूमा करता था, और बडी बडी वक्तृतायें सुनने पर वक्ता से पूछा करता था कि क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है?

ईश्वर दर्शन की बात सुनते ही वह आदमी चौंक उठता, केवल रामकृष्ण परमहंस ही ने मुझसे कहा कि मैंने ईश्वर का दर्शन किया है। केवल यहीं नहीं, उन्होंने यह भी कहा था, कि मैं तुमको ईश्वर दर्शन करने का मार्ग दिखला दूँगा। शास्त्रों के ठीक ठीक अर्थ भर कर लेने से ही कोई असली गुरु को प्राप्त नहीं कर सकता।

'वागेश्वरी शब्द झरी शास्त्र व्याख्यान कौशलम्।
वैदुष्य विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये।"

"नाना शास्त्रों के व्याख्या करने का कौशल केवल पंडितों के आमोद के लिये है, मुक्ति के लिये नहीं।"

'श्रोत्रिय—जो वेद के रहस्य को जानने वाले, निष्पाप, काम रहित है—जो तुम्हें उपदेश देकर धन संग्रह की कामना नहीं रखते, वे ही शान्त, साधु हैं। वसन्त ऋतु में जिस प्रकार वृक्षों पर पत्ते और कलियाँ निकलती हैं और वह जैसे वृक्ष से उस उपकार के बदले प्रत्युपकार नहीं चाहते, क्योंकि उनकी प्रकृति ही दूसरे का हितसाधन करना है। दूसरे का हित करो, किन्तु उसके बदले दान-स्वरूप कुछ न चाहो। असली गुरु ऐसे ही होते हैं।

तीर्णा स्वयं भीम भवार्णवं जना
अहेतुनान्यानपि तारयन्तु ।'

"वे स्वयं भयानक जीवन रूपी समुद्र को पार कर गये हैं और स्वयं लाभ की आशा न रख दूसरे को भी तारते हैं।"

इसी प्रकार के व्यक्ति ही गुरु हैं, दूसरे लोग कभी गुरु नहीं हो सकते। क्योंकि

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीरा पंडित मन्यमाना

दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्ध नैन नीयमाना यथान्धा

—कठ २।५।

"स्वयं अन्धकार में डूबे हुए हैं, किन्तु अहंकार के वशीभूत हो यह समझता है कि वह सब कुछ जानता है। वह केवल यही समझकर निश्चिन्त नहीं हो जाता, वह दूसरे की सहायता करने को जाता है। वह तरह तरह के बुरे मार्ग में भटकता रहता है। इस प्रकार अन्धे द्वारा लाये हुए अन्धे के समान दोनों गड्डे में गिर पड़ते हैं।"

तुम्हारे वेद भी यही बात कहते हैं। इस वाक्य के साथ अपने आधुनिक प्रथाओं की तुलना करो। आप लोग वेदान्तिक हैं, सच्चे हिन्दू हैं, सनातन मार्ग के पक्षपाती हैं। आप लोग जितने ही सनातन मार्ग के अधिक पक्षपाती होंगे, उतने ही बुद्धिमानों की तरह कार्य करेंगे और जितने ही आजकल की धर्मान्धता का अनुसरण करेंगे, उतने ही मूर्खों की तरह कार्य करेंगे। आप लोग उसी सनातन मार्ग का अवलम्बन कीजिये। क्योंकि उस समय के शास्त्रों की प्रत्येक वाणी वीर्यवान, स्थिर, अकपट हृदय से निकली है, उसका प्रत्येक सुर अमोघ है। इसके बाद जातीय

मैं आप लोगों को सनातन मार्ग का अधिक पक्षपाती बनाना चाहता हूँ

अवनति का युग आया, शिल्प, विज्ञान, धर्म सभी विषयों में ही अवनति हुई। उनके कारणों के खोजबीन का समय नहीं है, किन्तु उस समय की लिखी हुई सभी पुस्तकों में इस जाति की व्याधि, जातीय अवनति का प्रमाण पाया जाता है। जातीय बल-के बदले उनमें केवल रोदन ध्वनि है। जाओ, जाओ, उस प्राचीन काल के भाव को ले आओ, जिस समय जातीय शरीर में वीर्य और जीवन था। आप लोग फिर से वीर्यवान बनिये, इस प्राचीन झरने के जल को खूब पेट भर पिओ। इसके अतिरिक्त भारत के उद्धार का और दूसरा उपाय नहीं है।

दूसरे विषय की आलोचना करने में प्रस्तुत विषय को एक तरह से भूल ही गया था। यह विषय बहुत बड़ा है और मुझे आप लोगों से इतना कहना है कि मैं सब भूल जाता हूँ। जो हो, अद्वैतवाद के मत से हम लोगों का जो यह व्यक्तित्व है, वह भ्रम मात्र है। सारे संसार के लिये इस बात को समझना कठिन है। जिस समय आप किसी से कहेंगे कि वह 'व्यक्ति' नहीं, वह इस बात से इतना डर जायगा कि वह यह समझने लगेगा कि मेरा अहंभाव वह चाहे जो कुछ भी क्यों न हो नष्ट हो जायगा।

अह भाव लोप होने का तात्पर्य

किन्तु अद्वैतवादी कहते हैं कि वास्तव में तुममें अहंभाव है ही नहीं। अपने जीवन के प्रतिक्षण में तुम्हारा परिवर्तन हो रहा है। तुम एक समय बालक थे, उस समय तुम एक तरह से सोचते विचारते थे, इस समय तुम युवक हो, इस समय एक तरह से सोचते हो। सभी

का परिणाम होता है। यदि यही होता है, तो फिर तुम्हारा अह भाव कहाँ रहा ? यह अह भाव या व्यक्तित्व न तो दैहिक है, न मानसिक। तुम्हारी आत्मा इस देह और मन के परे है और अद्वैतवादी कहते हैं कि यह आत्मा ब्रह्म स्वरूप है। दो अनन्त कभी रह नहीं सकते। एक ही व्यक्ति हैं, वह अनन्त स्वरूप हैं।

सीधे सादे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हम लोग विचारशील प्राणी हैं। हम लोग सभी वस्तुओं पर विचार करके समझना चाहते हैं। अब यह देखना चाहिये कि विचार या युक्ति किसे कहते हैं ?—युक्ति या विचार का अर्थ है—क्रमश पदार्थों के समूह को उच्च श्रेणियों में बाँटकर अन्त में एक ऐसे स्थान पर पहुँचाना जिसके ऊपर और जानना हो सके। ससीम वस्तु को यदि अनन्त के पर्याययुक्त किया जा सके तभी उसको चिर विश्राम होता है। एक ससीम वस्तु को लेकर उसके कारण का अनुसधान करो, लेकिन जब तक चरम अर्थात् अनन्त को पहुँच न जाओ, तब तक कहीं पर शान्ति न पाओगे। और अद्वैतवादी कहते हैं कि इस अनन्त

वास्तविक विचार का ही एक मात्र अस्तित्व है। और सब माया है, क्या है और उसका और किसी की सत्ता नहीं है। जो कोई जड वा परिणाम चेतन पदार्थ है, उसका जो यथार्थ रूप है, वह यही ब्रह्म है। हम लोग यह ब्रह्म हैं और नाम रूप आदि जो कुछ है, सभी माया है। इस नाम रूप को हटा दो-ऐसा करने पर तुम्हारे हमारे बीच में कोई भेद नहीं रहेगा। किन्तु हम

लोगों को इस 'अहम्' शब्द को अच्छी तरह से समझना होगा। साधारणतः लोग समझते हैं कि यदि हम ब्रह्म ही हैं तो हम मनमानी क्यों न करें ? लेकिन यहाँ पर यह 'अहं' शब्द और अर्थ में व्यवहृत होता है। तुम जब अपने को बद्ध समझते हो, उस समय तुम आत्म स्वरूप ब्रह्म नहीं हो, जिनका कोई अभाव न हो जो अन्तर्ज्योति हैं। जो अनन्ताराम हैं, आत्म तृप्त हैं, उन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं है न उन्हें कोई कामना है। वह बिल्कुल निर्भय और पूर्ण स्वाधीन है। वही ब्रह्म है। बस ब्रह्म स्वरूप में हम सब लोग एक हैं।

इसलिए द्वैतवाद और अद्वैतवाद में एक ही अन्तर जान पड़ता है। आप लोग देखेंगे कि शंकराचार्य जैसे बड़े बड़े भाष्यकारों ने भी अपने अपने मत को पुष्ट करने के लिये स्थल स्थल पर शास्त्रों का ऐसा अर्थ किया है कि जो मेरे मन में समीचीन नहीं जान पड़ता। रामानुज ने भी इस तरह शास्त्रों का अर्थ किया है

द्वैत और अद्वैत मत में अन्तर—श्री रामकृष्ण में दोनों मतों का समन्वय

कि जो स्पष्ट समझ में नहीं आता। हमारे पण्डितों में भी यह धारणा देखने में आती है कि भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में केवल एक के जीवन ही सत्य हो सकता है और सभी मिथ्या हैं। यद्यपि उन्होंने श्रुतियों तक से इस तत्त्व का पाया है (जो अद्भुत तत्व भारत को अब भी संसार को सिखलाना पड़ेगा) कि एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति,—प्रकृत सत्ता एक ही है। महात्माओं ने उसी को अनेक

रूपों में वर्णन किया है। यही हम लोगों के जातीय जीवन का मूल मंत्र है और इसी मूल मत्र को कार्य रूप में परिणत करना ही हमारी जाति की जीवन समस्या है। भारत के कई पडितों के—१ मेरा पडित कहने से अभिप्राय वास्तविक धार्मिक और ज्ञानी पुरुष से है—अतिरिक्त और सब लोग उस तत्व को भूल गये। हम लोग इस महान् तत्व को सदा भूल जाते हैं। आप लोग देखेंगे कि अधिकाश पडितों का—सैकड़ा पीछे ६८ का मत है कि अद्वैतवाद सत्य है, न तो विशिष्टाद्वैतवाद सच्चा है न द्वैतवाद ही। अगर आप बनारस में पाँच मिनट के लिये भी किसी घाट पर जाकर बैठिये तो आप मेरी बात को सच पावेंगे। आप देखेंगे कि उन सभी सम्प्रदायों और मतों में खासी बहस हो रही है। हमारे समाज और पंडितों की यह दशा है। इन भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के कलह के भीतर एक ऐसे मनुष्य ने जन्म लिया है जिसने भारत के विभिन्न सम्प्रदायों के भीतर जो सामञ्जस्य है—उस सामञ्जस्य को कार्य रूप में परिणत करके अपने जीवन में दिखला दिया था। मैं रामकृष्ण परमहस को लक्ष्य करके यह कह रहा हूँ। उनके जीवन की अलोचना करने ही से जान पडता है कि ये दोनों मत ही आवश्यक हैं। वे गणित ज्योतिप के भूकेन्द्रिक (Geocentric) और सूर्यकेन्द्रिक (Helio centric) मत के से हैं। लडके को जब पहले पहल ज्योतिप की शिक्षा दी जाती है तो उसे इस भूकेन्द्रिक मत की ही शिक्षा दी जाती है, किन्तु जिस समय वह ज्योतिप के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों का अध्ययन करने

लगता है तो उस समय इस सूर्यकेन्द्रिक मत को पढना आवश्यक होता है। उस समय वह ज्योतिष के तत्वों को पहले से भी अच्छी तरह समझ पाता है। पाँचों इन्द्रियों से आवद्ध यह जीव स्वभावत द्वैतवादी होता है जितने दिन तक हम लोग पञ्चेन्द्रिया द्वारा आवद्ध हैं, उतने दिन तक हम लोग सगुण ईश्वर का दर्शन करेंगे—सगुण ईश्वर के अतिरिक्त और किसी भाव को देख न पावेंगे। हम लोग ससार को ठीक इसी तरह देखेंगे। रामानुज कहते हैं कि जब तक तुम अपने को देह, मन, जीव समझ रहे हो, तब तक तुम्हारे प्रत्येक ज्ञान किया में जीव, जगत् और इन दोनों के कारण स्वरूप वस्तु विशेष का ज्ञान बना रहेगा। लेकिन मनुष्य के जीवन में कभी कभी ऐसा समय भी आता है जिस समय देह का ज्ञान एक बारगी जाता रहता है, मन तक सूक्ष्मानुसूक्ष्म होते होते प्राय लोप हो जाता है जिस समय देह में भय और दुर्बलता उत्पन्न करने वाली सभी वस्तुयें चली जाती हैं। उसी समय वह उस प्राचीन महान् उपदेश की सत्यता समझ सकता है। वह उपदेश क्या है?—

> इहैव तैर्जित सर्गो, येषां साम्ये स्थितंमन ।
> निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणिवे स्थिता ॥
> —गीता ५—१६
>
> सम पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्
> न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्
> —गीता १३। २८

—०—

वेदान्त का महत्व

गीताकार ने कहा है। 'स्वल्पमपस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' २।४०। थोडा भी धर्माचरण करने से मनुष्य बडी आपत्तियो से मुक्ति पाता है—अगर इस वाक्य के समर्थन के लिये किसी उदाहरण की आवश्यकता हो तो मैं कह सकता हूँ कि मैं इस क्षुद्र जीवन में पग-पग पर इस वाक्य की सचाई का अनुभव करता हूँ। कुम्भकोनम् के रहनेवाले महानुभावो! मैंने कार्य तो बिल्कुल साधारण किया है, लेकिन कोलम्बो से यहाँ तक जिन जिन स्थानों में मैं गया हूँ, वहाँ वहाँ जैसा मेरा हार्दिक स्वागत किया गया है, उसका मुझे स्वप्न में भी गुमान न था। इसके साथ ही यह भी कहना पड़ता है कि हिन्दू जाति के पूर्व संस्कारों और भावों के यह उपयुक्त ही हुआ है। इसका कारण यह है कि हिन्दू जाति की मूल जीवनी-शक्ति, हिन्दू जाति का मूल मन्त्र ही-धर्म है।

मैं पूर्व और पश्चिम के अनेक देशों में घूमा हूँ—ससार के सम्बन्ध में मैंने कुछ अनुभव प्राप्त किया है। मैंने देखा है कि सभी जातियों का एक न एक आदर्श है—वही उस जाति का मेरुदण्ड स्वरूप है। किसी किसी जाति में राजनीति ही की प्रधानता है, कोई जाति सामाजिक उन्नति की ओर झुकी हुई है और कोई मानसिक उन्नति में लगी हुई है किसी में जातीय जीवन की

कुछ और ही भित्ति है। लेकिन हमारे देश भारतवर्ष के जातीय जीवन की मूल भित्ति धर्म है—एक मात्र धर्म है। यही हमारे जातीय जीवन का मेरुदण्ड है इसी पर हमारा जातीय जीवन रूपी प्रासाद खडा है।

आप लोगों में से बहुतों को सम्भवत याद होगा, मद्रास के रहनेवालों ने कृपापूर्वक मुझे अमेरिका में जो अभिनदन भेजा था उसके उत्तर में मैंने एक विषय का विशेष रूप से उल्लेख किया था। वह यह था कि पाश्चात्य देश के बहुत से भद्र पुरुष

कहलाने वाले लोगों से हमारे यहाँ साधारण
धर्म ही हमारे किसान धर्म विषयों में विशेष जानकार होत हैं।
जातीय जीवन आज मुझे उसके लिये विशेष प्रमाण मिलता
का मेरुदण्ड है है—इस विषय में मुझे और कोई सन्देह नहीं है।

एक समय था जब कि भारत के जन साधारण में ससार की खबरें जानन और उनके संग्रह करने की लालसा का अभाव पाकर मुझे दुःख हुआ करता था। अब मुझे उसका रहस्य मालूम हो गया है। हमारे देश के लोग भी समाचारों को जानने के लिये बहुत व्यग्र रहत हैं। उनका जिस विषय से विशेष अनुराग रहता है, उसी की खबरें जानने के लिय उनमें उत्सुकता रहती है। इस विषय में बल्कि और देशों में जिनमें मैं गया हूँ या देखा है—साधारण लोगों की अपेक्षा उनमें विशेष आग्रह होता है। हमारे देश के किसानों से यूरोप के राजनैतिक हलचलों, सामाजिक उलझनों के सम्बंध में पूछो, वे कुछ न बतायेंगे, क्योंकि

इस विषय से न तो उनका कुछ सम्बध है और न वे उसे जानना ही चाहते हैं। किन्तु सीलोन में भी (जो भारत से बिल्कुल अलग है—जिसका भारत के स्वार्थ से कोई विशेष सम्बध नहीं है) देखा कि वहाँ के किसान भी जानते हैं कि अमेरिका में धार्मिक सम्मेलन हुआ था, उनका एक आदमी वहाँ गया था और वह कुछ अंशों में सफल हुआ है। इसलिये यह देखा जाता है कि जिन विषयों की ओर उनका अनुराग है उन्हीं विषयो की बातें जानने के लिये वह समार की और जातियो की तरह व्याकुल रहते हैं। धर्म ही भारतवासियो की एक मात्र प्रिय वस्तु है।

धर्म हमारे जातीय जीवन की नींव है या राजनीति, इस विषय को लेकर मैं विवाद खडा करना नहीं चाहता। तो भी यह स्पष्ट ज्ञान पडता है कि चाहे अच्छा हो या बुरा, धर्म ही पर हमारे जातीय जीवन की नींव डाली गई है। तुम इसे कभी बदल नहीं सकते—एक वस्तु को नष्ट करके उसकी जगह पर दूसरी चीज़ को विठाल नहीं सकते। एक बडे पेड को उखाड कर तुरन्त ही उसे दूसरे स्थान में गाड देने से वह उस स्थान पर जीवित रहेगा, इसकी तुम कभी आशा नहीं कर सकते। चाहे अच्छा हो या बुरा, आज हजारों वर्षों से भारत में धर्म ही जीवन का आदर्श हो रहा है, सैकड़ो शताब्दियो से भारत की वायु धर्म के महान् आदर्श से परिपूर्ण है, हम लोग इसी धर्म के आदर्श में पाले-पोसे गये हैं, इस समय यह धर्मभाव हमारे रक्तों में मिल गया है, हम लोगो

की धमनियों के रक्त के साथ वह प्रवाहित हो रहा है—वह हमारा स्वभाव सा बन गया है, हमारे दैनिक जीवन का एक अंग सा हो गया है। महा तेज का विकास न कर—सहस्र वर्षों से महा-नदी ने अपना जो प्रवाह बना लिया है, उसे नष्ट किये बिना, क्या तुम उस धर्म का परित्याग कर सकते हो? क्या तुम गंगा को उसके उद्गम स्थान हिमालय में लेजाकर उसे नये प्रवाह में प्रवाहित करने की इच्छा करते हो?—अगर यह सम्भव भी हो तो भी इस देश के लिये उसकी विशेषता का द्योतक धार्मिक जीवन छोड़ कर राजनीति अथवा और किसी जातीय जीवन के लिए ग्रहण करना सम्भव नहीं। थोड़ी सी बाधा के होने पर ही तुम कार्य कर सकते हो—भारत के लिये धर्म ही वह बाधा है। इसी धर्म-पथ का अनुसरण करना ही भारत का जीवन है—भारत की उन्नति और भारत के कल्याण का एक मात्र उपाय है।

और देशों में भिन्न भिन्न आवश्यकीय वस्तुओं में धर्म भी एक है। एक प्रचलित उदाहरण देता हूँ—मैं सदा यही उदाहरण दिया करता हूँ। अमुक भद्र महिला के घर में तरह तरह की चीज़ें हैं—आजकल का फैशन—एक जापानी बर्तन घर में रहना चाहिये न रहने से अच्छा नहीं दिखलाई पड़ता है—इसलिये उसे जापानी बर्तन घर में रखना ही होगा। इस प्रकार हमारे गृहस्वामी या गृहिणी के अनेक कार्य हैं। उनमें एक धर्म भी चाहिये—तभी सर्वांग पूर्ण हुआ। इसी कारण उन्हें एक आध धर्म के कार्य भी करने चाहिये। संसार के अधिकांश लोगों के जीवन का उद्देश्य—

राजनैतिक वा सामाजिक उन्नति की चेष्टा करना है। ईश्वर और धर्म उनके लिये सासारिक सुविधाओं के लिये हैं। तुमने क्या सुना नहीं है, दो सौ वर्षों से कितने मूर्ख और अपने के विद्वान समझने वाले लोगा के मुँह से भारतवासियो क धर्म के विरुद्ध यही अभियोग सुनने में आता है कि उनके द्वारा सासारिक सुख वा स्वच्छन्दता प्राप्ति की सुविधा नहीं होती—उसके द्वारा धनप्राप्ति नहीं होती, उससे समूचे जाति को दस्युओं के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता, उसके द्वारा बलवाने को, पूंजीपतियो को यह सुविधा नहीं होती कि वह गरीबो का रक्त शोपण करे!—सचमुच हमारे धर्म में ऐसी सुविधा नहीं है। इस धर्म में दूसरी जातियो को लूटने खसोटने और उनका सर्वनाश करने के लिये भयावनी सेना-भेजने की व्यवस्था नहीं है। इसलिये वे कहते हैं कि इस धर्म में क्या रखा है? उससे चलते हुए फल के लिये अन्न समह नहीं किया जा सकता अथवा उसके द्वारा शरीर में जोर नहीं होता इसलिये इस धर्म में रखा ही क्या है?—वे स्वप्न में भी नहीं सोचते कि इन्हीं युक्तियो के द्वारा ही हमारे धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध होती है हमारे धर्म में सासारिक सुख नहीं होता, इसलिये हमारा धर्म श्रेष्ठ है। हमारा धर्म ही एक मात्र सद्धर्म है, इसका कारण यह है कि हमारा धर्म यह तीन दिन के लिये चचल इन्द्रिय जगत को ही हमारा चरम लक्ष्य नहीं बतलाता। यह कई हाथों में विस्तृत क्षुद्र पृथ्वी में हमारे धर्म की दृष्टि आबद्ध नहीं है। हमारा धर्म इस जगत की सीमा के बाहर—दूर—बहुत दूर पर दृष्टि

डालता है—वह राज्य अतिन्द्रिय है—वहाँ न तो देश है, न काल है, संसार के कोलाहल से दूर, अत्यन्त दूरी पर—वहाँ पर जाने पर—संसार के सुख दुःख कुछ स्पर्श नहीं कर सकते। उस समय सारा जगत् ही उस महिमा-शाली आत्मा रूप महासमुद्र में विन्दु रूप हो जाता है। हमारा धर्म ही सत्य धर्म है—क्योंकि वह यह उपदेश देता है कि 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या।' हमारा धर्म कहता है कि कांचन लोष्टवत् वा धूल के समान है, संसार में चाहे जितनी क्षमता प्राप्त करो, सभी क्षणिक है, यही क्यों, जीवन धारण करना ही विडम्बना मात्र है, इसी कारण से हमारा धर्म सत्य धर्म है। यही धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि सब से ज्यादा यही त्याग की शिक्षा देता है। सैकड़ों युगों से संचित ज्ञान बल से दण्डायमान हो वह प्राचीन ज्ञानी पुरुषों के मुक़ाबले में जो कल के छोकरे हैं, उन सब जातियों से गम्भीर तथा स्पष्ट भाषा में कहता है, "बच्चे तुम इन्द्रियों के गुलाम हो—किन्तु इन्द्रियों का भोग अस्थायी है—विनाश ही उसका परिणाम है—इस तीन दिन के क्षणस्थायी विलास का फल—सर्वनाश है। इसलिये इन्द्रियों के सुख की वासना छोड़ो। यही धर्म प्राप्ति का उपाय है" त्याग ही हमारा चरम लक्ष्य है, मुक्ति का सोपान है, भोग नहीं। इसी कारण हमारा धर्म ही एक मात्र सत्य धर्म है। आश्चर्य है कि एक जाति के बाद दूसरी जाति ने संसार रूपी रङ्ग मंच पर आकर कुछ देर के लिये बड़े

हिन्दू धर्म का उद्देश्य

तडक भडक से अपना पार्ट अदा किया है, परन्तु दूसरे ही क्षण उसका अन्त हो गया है! काल समुद्र में उन्होंने एक तरङ्ग भी नहीं पैदा किया है—अपना कोई चिन्ह तक नहीं छोड गये हैं। हम लोग अनन्त काल से काकभुशुण्डी की तरह बचे हुए हैं। हम लोगों की कभी मृत्यु होगी, इसका भी चिन्ह नहीं दिखलाई पडता।

सब से योग्य कौन है? प्राच्य या पाश्चात्य?

आजकल लोग 'योग्यतम का उज्जीवन' (Survival of the fittest) विषयक नये मतवाद को लेकर बहुत बातें करते फिरते हैं। उनका कहना है कि जिसमें जितनी ज़्यादा ताकत है, वह उतने ही ज़्यादा दिन तक बचा रहेगा। अगर इसी को सच मान लें तो प्राचीन काल की जो जातियाँ झगड़े में ही समय बिताया करती थीं, वह आज भी बड़े गौरव के साथ जीवित रहतीं और हम लोग—यह कमज़ोर हिन्दू जाति—(मुझसे एक अंग्रेज़ रमणी ने एक बार कहा था कि हिन्दुओं ने क्या किया है? उन्होंने तो एक जाति को भी नहीं जीता है!) वही जाति—जिसने कभी एक जाति को नह. जीता है—वही इतने दिनों में लुप्त हो गई होती। लेकिन वही जाति तीस करोड प्राणियों को लिये अभिमानपूर्वक जीवित है! और यह भी सत्य नहीं कि इस जाति की सारी शक्ति क्षय हो गयी है। यह भी सच नहीं है कि इस जाति के शरीर के सारे अंग शिथिल हो गये हैं। इस जाति में अब भी काफ़ी जीवनी-

शक्ति है। जभी उपयुक्त समय आयेगा, वह जीवनीशक्ति महानदी की तरह प्रवाहित होने लगेगी। अत्यन्त प्राचीन काल से हम लोग मानों एक बड़ी जटिल समस्या को हल करने के लिये आह्वान करते हैं। पाश्चात्य देशों में सभी यही चेष्टा करते हैं कि किस प्रकार वे लोग जगत की और जातियों से बढ़कर धनवान होंगे, लेकिन हम लोग यहाँ इसी समस्या को हल करते रहते हैं कि कितनी थोड़ी सी सामग्री को लेकर हम लोग अपनी जिन्दगी का निर्वाह कर सकते हैं। दोनो जातियों में यही संघर्ष और भेद अब भी कई शताब्दियों तक चलेगा। लेकिन इतिहास में यदि कुछ भी सत्य का अंश हो, यदि वर्तमान चिन्हों को देखकर भविष्य का अनुमान करना ज़रा भी सम्भव हो तो यह देख पड़ेगा कि जो थोड़े में जीवन यात्रा निर्वाह करेंगे और अच्छी तरह से आत्म संयम करने का प्रयत्न करेंगे वही युद्ध में, अन्त में, विजयी होंगे। और जो लोग ऐशो आराम और विलासिता की ओर झुक रहे हैं, वे कुछ देर के लिये भले ही तेजस्वी और बलवान् जान पड़े, अन्त में वह बिल्कुल नष्ट हो जाँयगे।

मनुष्य जीवन में, यही क्यों, जातीय जीवन में समय समय पर संसार से एकदम विरक्ति हो जाती है। जान पड़ता है, सारे पाश्चात्य देशों मे इसी तरह संसार से एक प्रकार की विरक्ति का भाव आ रहा है। पाश्चात्य देशों के बड़े से बड़े विद्वान और विचारक अब इस बात का अनुभव करते हैं कि

धन ऐश्वर्य के लिये सिर तोड परिश्रम करना बिल्कुल व्यर्थ है।

पाश्चात्य देश में वेदान्त के प्रचार का समय आ गया है

वहाँ के अधिकाश शिक्षित स्त्री-पुरुष अपने वाणिज्य प्रधान सभ्यता की इस प्रतियोगिता, इस सघर्ष, इस पशुत्व से बिल्कुल विरक्त हो गये हैं। वे इस अवस्था को बदल कर इससे उन्नत अवस्था के आविर्भाव की आशा और इच्छा कर रहे हैं। एक श्रेणी के लोग हैं, जिन की अब भी दृढ धारणा है कि राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन ही यूरोप की सारी खराबियों के दूर करने का एक मात्र उपाय है। लेकिन बडे बडे विचारशील लोगों के कुछ और ही विचार हो रहे हैं। उन लोगों ने समझ रखा है कि सामाजिक वा राजनैतिक परिवर्तन चाहे कितना ही क्यों न हो, इससे मनुष्य जाति के दु ख कष्ट किसी तरह भी कम न होगे। केवल आत्मा की उन्नति करने से ही सब प्रकार के दु ख कष्ट दूर होगे। चाहे कितना ही बल प्रयोग क्यों न करो, शासन प्रणाली में कितना ही रद्द बदल क्यों न करो, कानूनों को चाहे कितना ही कडा क्यों न करो, इनसे किसी जाति की दशा कभी नहीं सुधर सकती। केवल आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा ही लोगों की कुप्रवृत्तियों को बदल कर उन्हें अच्छे मार्ग पर ले जायगी। इसलिये पाश्चात्य लोग किसी नये भाव तथा दर्शन के लिये व्यग्र हो उठे हैं। वे लोग जिस धर्म के मानने वाले हैं, उस धर्म—ईसाई धर्म—के सिद्धान्त उदार और सुन्दर होने पर भी

वे उनका मर्म भली भाँति नहीं समझते। और इतने दिनों से वे ईसाई धर्म को जिस रूप में समझते आये हैं, वह उन्हें अब पर्याप्त नहीं जान पड़ता। पाश्चात्य देशों के विचारशील लोग हम लोगों के प्राचीन दर्शनों में, विशेषकर वेदान्त में ही—जिसे वे लोग इतने दिनो से ढूँढते आ रहे थे, उस विचार प्रवाह को, उस आध्यात्मिक खाद्य सामग्री को पाते हैं। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं।

वेदान्त ही एक मात्र सार्वभौम है

ससार में जितने प्रकार के धर्म हैं, उनमें से प्रत्येक की श्रेष्ठता प्रतिपादन करने के लिये उस धर्म के मानने वाले तरह तरह की दलीलें पेश करते हैं। मैं उन दलीलों के सुनने का आदी हो गया हूँ। अभी थोड़े ही दिन की बात है, मेरे प्रगाढ़ मित्र ब्यारोज साहब ने इसे प्रतिप्रादन की बडी चेष्टा की कि ईसाई धर्म ही एक मात्र सार्वभौम-धर्म है, आप लोगों ने भी इसे सुना ही होगा। इस समय इसी विषय पर विचार करके देखना चाहिये कि कौन धर्म सार्वभौम धर्म हो सकता है। मेरी धारणा है कि वेदान्त—केवल वेदान्त ही सार्वभौम धर्म हो सकता है, और कोई धर्म नहीं हो सकता। मैं आप लोगों को अपने विश्वास के लिए युक्तियाँ दूँगा। हम लोगों के धर्म को छोडकर ससार के प्राय सभी प्रधान प्रधान धर्म उनके प्रवर्तकों से अभिन्न भाव से सम्बद्ध (जुड़े हुए) हैं। उनके वाक्य ही उन धर्मावलम्बियों के लिये प्रमाण स्वरूप हैं, उनके वाक्य होने के कारण उस धर्म के

अनुयायीगण पर इतना उनके उपदेशों का प्रभाव पडता है। और आश्चर्य की बात यह है कि उस धर्म प्रवर्तक के जीवन की ऐतिहासिकता पर उस धर्म की सारी बुनियाद होती है। अगर उस जीवन को ऐतिहासिकता पर ज़रा भी आघात किया जाय, यदि उनके उक्त ऐतिहासिकता की बुनियाद को एक बार हिला दिया जाय तो वह धर्म रूपी इमारत बिल्कुल ढह पडेगी—और उसके पुनरुद्धार की ज़रा भी सम्भावना न रहेगी। वास्तव में इस समय के सभी धर्म-प्रवर्तक के जीवन के सम्बन्ध में वही घटित होता है। मैं जानता हूँ कि उनके जीवन की करीब आधी घटनाओं पर लोगों का वास्तव में विश्वास नहीं होता, और बाकी आधी घटनाओं पर भी विशेष सन्देह होता है। हमारे धर्म को छोडकर ससार के और बड़े बडे धर्म ऐतिहासिक जीवन के ऊपर प्रतिष्ठित हैं, किन्तु हमारा धर्म कई एक तत्वों पर प्रतिष्ठित है। कोई पुरुष वा स्त्री वेदो का रचयिता होन का दावा नहीं कर सकती। वेदो में सनातन तत्व लिपि-बद्ध हैं, ऋषि लोग उनके आविष्कर्ता मात्र हैं। स्थान-स्थान पर उन ऋषियों के नाम लिखे हुए हैं ज़रूर, किन्तु नाम मात्र के लिये। वे कौन थे, क्या करते थे, यह भी हम नहीं जानत। कई स्थानों पर यह भी पता नहीं चलता कि उनके पिता कौन थे, और प्राय सभी के जन्म-स्थान और जन्म-काल के सम्बन्ध में हम लोग बिल्कुल अनभिज्ञ हैं। वास्तव में वे ऋषि लोग नाम के भूखे न थे, वे सनातन तत्वों

के प्रचारक थे और अपने जीवन में उन तत्वों को ला करके आदर्श जीवन विताने का प्रयत्न करते थे।

जिस प्रकार हम लोगों का ईश्वर निर्गुण और सगुण है उसी प्रकार हम लोगों का धर्म भी बिल्कुल निर्गुण है—अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष के ऊपर हमारा धर्म निर्भर नहीं करता और
इसमें अनन्त अवतारों और महापुरुषों के
वेदान्त में असंख्य लिये स्थान हो सकता है। हमारे धर्म में जितने
अवतारों के लिये अवतार, महापुरुष, ऋषि आदि हैं उतने और
स्थान है किस धर्म में हैं? केवल यही नहीं, हमारा धर्म
कहता है—वर्तमान काल तथा भविष्य में और
भी अनेक महापुरुषों और अवतारों का अभ्युदय होगा। भागवत में लिखा है—'अवताराह्यसंख्येया'—३। २६। इसलिये आपके धर्म में नये नये धर्मप्रवर्तक, अवतार आदि को ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं है। इसलिये भारत के इतिहास में जिन अवतारों और महापुरुषों का वर्णन किया गया है, यदि यह प्रमाणित हो जाय कि वे ऐतिहासिक नहीं हैं, तो इससे हमारे धर्म को ज़रा सा भी धक्का नहीं पहुँच सकता। यह पहले ही की तरह रहेगा, क्योंकि किसी व्यक्ति विशेष के ऊपर यह धर्म प्रतिष्ठि नहीं है—सनातन सत्य के ऊपर ही यह स्थापित है। संसार सभी लोगों को ज़ोर देकर किसी व्यक्ति विशेष को मनाने चेष्टा करना व्यर्थ है,—यही क्यों, सनातन और सार्वभौमि तत्वों को लेकर भी बहुतों को एक मत में करना कठिन है

तो भी अगर कभी ससार के अधिकाश लोगों को धर्म के सम्बन्ध में एक मतावलम्बी करना स भव हो भी, तो भी किसी व्यक्ति विशेष को मनाने की चेष्टा करने से ऐसा न हो सकेगा वरन् सनातन तत्वों में विश्वास जमा कर बहुत से एक मत के मानने वाले हो सकते हैं। और हमारा धर्म व्यक्ति विशेष की बातों की प्रामाणिकता और प्रभाव को बिल्कुल ही स्वीकार करता है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

'इष्ट निष्ठा' रूप में जो अपूर्व मत हमारे देश मे प्रचलित है, उसमें इन सब अवतारो मे जिसे हमारी इच्छा आदर्श रूप में स्वीकार करने को हो, उसके लिये स्वाधीनता दी गई है। तुम जिस किसी अवतार को अपने जीवन के लिये आदर्श रूप में और विशेष उपासक के तौर पर ग्रहण कर सकते हो। यही क्यों, तुम उसे सभी अवतारों मे श्रेष्ठ स्थान भी दे सकते हो, इसमें कोई क्षति नहीं, लेकिन सनातन तत्व समूह ही तुम्हारे धर्म साधन की मूल भित्ति है। इस बात को विशेष रूप से लक्ष्य करने से आश्चर्य होगा कि चाहे वह अवतार ही क्यों न हो, वैदिक सनातन तत्वों का जीता जागता नमूना होने के कारण ही वह हमारे लिये मान्य है। श्रीकृष्ण की यही महानता है कि वह इस तत्वात्मक सनातन धर्म के श्रेष्ठ प्रचारक और वेदान्त के सब से बढकर व्याख्याता हैं।

ससार क सभी लोगों को वेदान्त की चर्चा करना क्यों उचित है, उसका पहला कारण यह है कि वेदान्त ही एक मात्र सार्वभौम

धर्म है। दूसरा कारण यह है कि संसार के जितने शास्त्र हैं, उनमें इसी के उपदेशों के साथ बहिर्प्रकृति के वैज्ञानिक अनुसधान का जो परिणाम निकला है, उसका बिल्कुल सामँजस्य है। अत्यन्त प्राचीन काल में आकृति, वश और भाव में बिल्कुल मिलती जुलती दो भिन्न जातियाँ भिन्न मार्गो से ससार के तत्वानुसधान में प्रवृत्त हुई। मैं प्राचीन हिन्दू और प्राचीन ग्रीक जाति की बात कह रहा हूँ। इसमें अन्तिम जाति बाह्य जगत् का विश्लेषण कर उस चरम लक्ष्य के अनुसधान में प्रवृत हुई थी और पहली जाति अन्तर्जगत का विश्लेषण कर इस कार्य के लिये अग्रसर हुई थी। और उनके इस विश्लेषण के इतिहास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं की आलोचना करने से देखा जाता है कि यह विभिन्न प्रकार की विचार प्रणाली उस चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में एक ही बात बतलाती है। इससे यह स्पष्ट जाना पडता है कि आधुनिक जड़ विज्ञान के सिद्धान्तों को केवल वेदान्ती ही—जो अपने को हिन्दू नाम से पुकारते हैं—अपने धर्म के साथ सामंजस्य करके ग्रहण कर सकते हैं—इससे यह स्पष्ट जान पडता है कि वर्तमान जड़वाद अपने सिद्धान्तों को बिना छोड़े ही वेदान्त के सिद्धान्तों को ग्रहण करके ही आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हो सकती है। हम लोगों को तथा जिन्होंने इस विषय की अच्छी तरह से आलोचना की है, उनको यह स्पष्ट भान पड़ता है कि आधुनिक विज्ञान जिन सिद्धान्तों को क़ायम कर रहा है, उन्हें कई शता-

वेदान्त विज्ञान सम्मत है

व्दियों पहले ही वेदान्त स्वीकार कर चुका है, केवल आधुनिक विज्ञान में उन्हें जड शक्ति के रूप में उल्लेख किया गया है। आधुनिक पाश्चात्य जातियो के लिये वेदान्त की आलोचना का दूसरा कारण है—इसकी अद्भुत युक्ति-सिद्धता। मुझसे पाश्चात्य देशों के अनेक बड़े बड़े वैज्ञानिकों ने कहा है कि वेदान्त के सिद्धान्त, अपूर्व युक्तिपूर्ण हैं। उनमे एक आदमी के साथ मेरा खासा परिचय है। वह खाने-पीने की तथा अपनी लेबोरेटरी (प्रयोगशाला) से बाहर जाने का अवकाश नहीं पाते हैं, लेकिन वह मेरे वेदान्त विषयक व्याख्यानों को घण्टों सुना करते हैं। जब मैंने इसका कारण पूछा तो उन्होंने बतलाया कि वेदान्त के उपदेश इतने विज्ञान सम्मत हैं, वर्तमान युग के अभावों की इस अच्छे ढग से पूर्ण करते हैं और आधुनिक विज्ञान धीरे धीरे जिन सिद्धान्तों पर पहुँचता जाता है, इनके साथ उसका इतना सामञ्जस्य है कि उसके प्रति आकृष्ट हुए विना नहीं रह सकता।

सभी धर्मों की तुलनात्मक समालोचना करके उससे जो दो वैज्ञानिक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं, उसकी ओर आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। प्रथम तत्व यह है कि सभी धर्म सत्य हैं। और दूसरा तत्व यह है कि संसार की सभी वस्तुयें प्रत्यक्ष में विभिन्न जान पडने पर भी एक ही वस्तु की विकास मात्र हैं।

एकेश्वरवाद की उत्पति का इतिहास

वैबिलोनियन और यहूदी धर्म के इतिहास की आलोचना करने से हमें एक विशेष बात दिखलाई पडती है। उसमें

हम देखते हैं कि वैबिलोनियन और यहूदी जातियों में छोटी छोटी शाखायें और प्रत्येक के पृथक पृथक देवता थे। इन सभी पृथक पृथक देवताओं के फिर एक साधारण नाम थे। वैबिलोनियन लोगो के सभी देवताओं का साधारण नाम था बाल। उनमे बालमेरोदक प्रधान था। कालक्रम से इस उप जाति ने उस जाति के अन्तर्गत उपजातियों को जीत कर उन्हें अपने में मिला लिया। उसका स्वाभाविक फल यह होता था कि विजेता जाति का देवता और दूसरी जातियों के देवताओं में सर्वोच्च स्थान ग्रहण करता था। सेमाइट जाति में जो एकेश्वरवाद को लेकर गौरव करती है, वह इसी प्रकार हुआ था। यहूदी जाति के सभी देवताओ का नाम था मोलक। इनमें इस्राइल जाति के देवता का नाम था मोलक यावा। इसी इस्राइल जाति ने क्रमश उस समय की और जातियों को जीत कर अपने मोलक को और दूसरे मोलकों की अपेक्षा श्रेष्ठ और प्रधान मोलक घोषित किया। इस प्रकार धर्मयुद्ध में जितना रक्तपात और पाशविक अत्याचार हुआ था, उसे आप लोगों में से बहुत से लोग जानते होंगे। बाद में वैबिलोनियन लोगों से मोलक यावा जाति की इस प्रधानता को नष्ट करना चाहा था, परन्तु वह सफल नहीं हुए।

हमें जान पडता है कि धर्म विषय में पृथक पृथक जातियों में प्रधानता प्राप्त करने की चेष्टा भारत के सीमान्त प्रदेश में भी हुई थी। यहाँ भी सम्भवत आर्य जाति की विभिन्न शाखायें

आपस में एक दूसरे के देवता से अपने देवता की श्रेष्ठता स्थापित करने की कोशिश करती थीं। लेकिन ईश्वर की कृपा से भारत का इतिहास यहूदी लोगों के इतिहास सा नहीं हुआ। मानो ईश्वर ने और दूसरे देशों की अपेक्षा भारत को और दूसरे धर्मों से द्वेषशून्य और धर्म साधना में गौरवपूर्ण भूमि बनाने का संकल्प कर लिया था। इसी कारण से ही यहाँ पर भिन्न भिन्न जातियों और उनके देवताओं में जो द्वन्द्व चलता था, वह ज्यादा दिन तक क़ायम न रह सका। उसी इतिहास के बहुत पहले, अत्यन्त प्राचीन काल में भारत मे एक बहुत बडे महात्मा पैदा हुए। ससार में ऐसे महात्मा बहुत कम पैदा हुए होंगे। इस महापुरुष ने उस प्राचीन काल में ही उस सत्य को प्राप्त कर उसका प्रचार किया—'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' वास्तविक जगत में एक ही वस्तु है, विप्र अर्थात् साधु पुरुष उसे भिन्न भिन्न रूप में वर्णन करते हैं। ऐसी चिरस्मरणीय वाणी और कभी उच्चारित नहीं हुई थी और न ऐसा महान् सत्य ही कभी आविष्कृत हुआ। और यही सत्य ही हमारी हिन्दू जाति के जीवन का मेरुदण्ड होकर रहा है। सैकडो शताब्दिओं से लेकर इसने सत्य—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—क्रमश परिस्फुटित होकर हमारी समूचे जाति के जीवन को ओतप्रोत भाव से आच्छन्न

भारत और दूसरे देशों म भिन्न भिन्न जातियों के देवताओं का प्राधान्य प्राप्ति के प्रयत्न का फल—एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति

कर लिया है, हमारे रक्त में मिल सी गई है—मानो हमारे जीवन के साथ बिल्कुल मिल सी गई है। हम लोग इस महान् सत्य को प्राणों से बढ़कर चाहते हैं—इसी से हमारा देश दूसरों से द्वेष रहित होने से दृष्टान्त स्वरूप हो रहा है। यहीं—पर केवल देश मे लोग अपने धर्म के कट्टर विद्वेषी धर्मावलम्बियो के लिये भी मन्दिर, गिरजाघर आदि बनवा देते हैं। ससार को हम लोगों से इस धर्म-द्वेष-रहित होने के गुण को सीखना होगा।

हमारे देश के बाहर अब भी अपने से भिन्न मतावलम्बियों के विरुद्ध लोग कितना द्वेष भाव रखते हैं, उसे आप लोग कुछ नहीं जानते। बहुत से जगहों में दूसरे मज़हब वालों से लोग इतनी ईर्ष्या रखते हैं कि बहुत बार मेरे मन में ऐसा भाव पैदा होता है कि कब इस मुल्क से पल्ला छुडा कर दूसरी जगह चला जाऊँ। धर्म के लिये किसी आदमी को मार डालना इतनी साधारण बात है कि आज न हो कल ही इस महा अभिमानी पाश्चात्य सभ्यता के केन्द्र-स्थानो में ऐसे वाकयात अक्सर हुआ करेंगे। किसी प्रतिष्ठित धर्म के विरुद्ध कुछ कहने का साहस करने पर उस व्यक्ति को समाजच्युत तथा उस तरह के जितने कड़े से कडे दण्ड दिये जा सकते हैं, सहन करने पड़ेंगे। इस समय वह हमारे जाति-भेद के विरुद्ध ये भले ही बढ बढ कर बातें कह लें, मैं जिस तरह पाश्चात्य देशों में रह आया हूँ, आप लोग भी अगर उसी तरह वहाँ जाकर कुछ दिन तक रहें तो जान सकेंगे कि वहाँ के बड़े बड़े प्रोफेसर तक (जिनको

बातें आप लोग इस समय खूब सुन पाते हैं) बड़े कायर हैं, और धर्म के सम्बन्ध में वे लोग जो कुछ सत्य समझ कर विश्वास करते हैं, उसका सहस्राश भी सर्वसाधारण की टीका-टिप्पणी के भय से कहने का साहस नहीं करता।

इसी कारण से ससार को द्वेषरहित बनने का, सहिष्णुता का पाठ पढाना होगा। आधुनिक सभ्यता के भीतर इस भाव के प्रवेश करने से उसका विशेष कल्याण होगा। वास्तव में इस भाव के प्रवेश करने से कोई सभ्यता अधिक दिन तक चिर-स्थायी न रह सकेगी। गु डापन, रक्तपात, वर्व्वरतापूर्ण अत्याचार ये जितने दिन तक बन्द होगे, उतने दिन तक सभ्यता का विकाश नहीं हो सकता। जितने दिन तक हम लोग परस्पर मित्रता का भाव न रखेंगे, उतने दिन तक कोई सभ्यता सिर नहीं उठा सकती, और इस मैत्री भाव के विकाश का प्रथम सोपान है—परस्पर धर्म विश्वास के ऊपर सहानुभूति प्रकट करना। केवल यही नहीं, असल में इस भाव को हृदय में अच्छी तरह जमा देने पर परस्पर मित्रता का भाव रखने से नहीं चलेगा, एक दूसरे के धर्म और विश्वास चाहे जितने पृथक क्यों न हों आपस म एक दूसरे की सभी बातों मे अच्छी तरह सहायता करनी होगी। हम लोग भारत में ठीक ऐसा ही करते हैं, मैं आपको यह बतला चुका हूँ। इसी भारत में केवल हिन्दुओ ने ही इसाइयो के लिये चर्च और मुसलमानो के लिये मसजिद बनवाई है और अब भी ऐसा ही करते हैं। सब लोगो को ऐसा ही

करना होगा। वे लोग हम लोगो के प्रति चाहे जितना घृण भाव क्यो न रखें, चाहे जितना पशुता का भाव क्यों न रखें, जितनी निष्ठुरता क्यो न दिखलावें, कितना हूँ अत्याचार क न करें, हम लोग इन ईसाइयो के लिये गिरजाघर और मुसल मानो के लिये मसजिद बनवाना न छोड़े। और हम लोग संस. के सामने यह सिद्ध न कर दें कि घृणा और विद्वेष परायण जाति कभी दीर्घ जीवन प्राप्त नहीं कर सकती, बल्कि प्रेम क द्वारा ही जातीय जीवन स्थायी होता है, केवल पशुबल और शारीरिक शक्ति कभी जय नहीं प्राप्त कर सकती, क्षमा और कोमलता से ही ससार-रूपी समरभूमि में जय प्राप्त किया जा सकता है!

हम लोगो के ससार को, 'यूरोप और सम्पूर्ण ससार के विचारशील व्यक्तियो को एक और बड़े भारी तत्व की शिक्षा देनी होगी। सम्पूर्ण जगत् का आध्यात्मिक संसार को यह भी एकत्व रूप यह सनातन महान तत्व समवत उप सिखाना होगा कि जातियों की अपेक्षा निम्न जातियों को, शिक्षितों सम्पूर्ण जगत् बहुत की अपेक्षा, साधारण लोगो को, बलवानों की जान पड़ने पर भी अपेक्षा दुर्बलों को ही अधिक आवश्यकीय है। एक ही है। मद्रास विश्वविद्यालय के शिक्षित लोगों। आप लोगों को और विस्तार करके यह समझाने की जरूरत नहीं, कि यूरोप की आधुनिक अनुसंधान प्रणाली ने किस प्रकार भौतिक दृष्टि से सारे ससार का एकत्व सिद्ध कर दिया है—भौतिक दृष्टि से ही तुम, हम, सूर्य, चन्द्र,

तारा, आदि सभी अनन्त जड समुद्र मे छोटी छोटी लहरों के समान हैं। और सैकडो शताब्दी पहले भारतीय मनोविज्ञान ने भी जड विज्ञान की तरह सिद्ध किया है कि शरीर और मन दोनों ही जड समुद्र वा समष्टि में कितनी पृथक संज्ञा अथवा क्षुद्र क्षुद्र तरगे हैं। और एक पग आगे बढने पर वेदान्त में दिखलाई पडता है कि इस दृश्य जगत के एकत्व भाव के पीछे जो यथार्थ आत्मा है वह भी 'एक' मात्र है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे एक मात्र आत्मा ही विराजमान है, वही एक मात्र सत्तामात्र है। सारे ब्रह्माण्ड क मूल, वास्तव में, जो यह एकत्व है, इस महान् तत्व को सुन कर बहुत से लोग चौंक पडेंगे। और देशों को कौन कहे, हमारे देश में भी बहुत से लोग इस अद्वैतवाद से भयभीत होगे। अब भी इस मत के मानने वालों से इस मत के विरोधियो की सख्या ही ज्यादा होगी। तो भी मैं आप लोगों से कहता हूँ कि यदि ससार को जीवन प्रदान करने वाली कोई शिक्षा दनी हे, तो यह अद्वैतवाद है। भारत के मूक जनसाधारण की उन्नति के लिये इस अद्वैतवाद के प्रचार की ही आवश्यकता है। इस अद्वैतवाद को कार्यरूप में परिणत किये विना हमारी इस मातृभूमि क उद्धार का और कोई उपाय नहीं।

युक्तिवादी पाश्चात्य जाति के लोग अपने सभी दर्शनों और नीति विज्ञान की मूल भित्ति ढूँढ रहे हैं। लेकिन कोई व्यक्ति विशेष-चाहे वह कितना हूँ बडा या ईश्वर के समान ही क्यों न हो, वह

फल जन्म लेकर आज मृत्यु के मुँह में पतित होता है, उस सम
उसका अनुमोदित कोई दर्शन वा नीतिविज्ञ

अद्वैतवाद ही नीति विज्ञान की मूल भित्ति है

प्रमाण रूप नहीं माना जाता। संसार के बड़े व
विचारशील लोगों के सामने उनकी नीति वा दर्श
प्रामाणिक नहीं हो सकता, वह लोग किसी मनु
के द्वारा अनुमोदित है, इसी से उसे प्रामाणि
न मान कर सनातन तत्वों के ऊपर ही उसकी भित्ति स्थापित
करने की चेष्टा करते हैं। नीति विज्ञान की यह सनातन भित्ति
सनातन आत्म तत्व को छोड़ कर और क्या हो सकता है कि
एक मात्र अनन्त सत् तुम्हारे, हमारे, हमारे सभी आत्मा में
वर्तमान है? आत्मा की अनन्त एकता ही सब तरह की नीति
का मूल कारण है तुममें हम में केवल भाई भाई का ही सम्बन्ध
नहीं है, मानव जाति की दासत्व शृङ्खला को तोड़ने की चेष्टा
करने वाले सभी ग्रन्थों में यह भ्रातृ भाव की बात मौजूद है और
हम लोग भी लड़कपन ही से इसको जानते हैं लेकिन वास्तव में
हम और तुम एक ही हैं। भारतीय दर्शनों का यही सिद्धान्त है।
सब प्रकार की नीति और धर्म विज्ञान की मूल भित्ति ही यह
एकत्व है।

हम लोगों के देश की सामाजिक अत्याचारों से पिसी हुई
निम्न जातियाँ जिस प्रकार इस सिद्धान्त से लाभ उठा सकती हैं,
वैसे ही यूरोप के लिये उसका प्रयोजन है वास्तव में इंगलैंड, जर्मनी,
फ्रान्स और अमेरिका में जिस प्रकार राजनैतिक और सामा-

जिक उन्नति की चेष्टा की जा रही है, उस से स्पष्ट जान पडता है कि अनजाने ही क्यों न हो, वे इस महान तत्व को इन सब की मूल भित्ति रूप में ग्रहण करते हैं। हे भाइयो, आप लोग यह भी लक्ष्य करें कि साहित्य में जहाँ मनुष्य जाति की स्वाधीनता-अनन्त स्वाधीनता की चेष्टा होगी, वहीं पर भारतीय वेदान्त का आदर्श ग्रहण किया जायगा। किसी किसी क्षेत्र में लेखकों ने अपने प्रचारित भावों की मूल भित्ति के सम्बध में अनभिज्ञ हो किसी किसी स्थान पर उन्होंने अपने को मौलिक तत्वों की गवेषणा करनेवाला बतलाया है। लेकिन किसी किसी ने निर्भय हो कृतज्ञतापूर्वक कहाँ से उन्होंने उस तत्व को ग्रहण किया है, इसका उल्लेख करके उसके प्रति ऋणी बतलाया है।

भाइयो, जिस समय मैं अमेरिका में था, उस समय मैं अद्वैतवाद का ही अधिक प्रचार करता हूँ द्वैतवाद का नहीं, ऐसा अभियोग सुना था। द्वैतवाद के प्रेम भक्ति उपासना में कैसा अपूर्व परमानद प्राप्त होता है, उसे मैं जानता हूँ—उसकी अपूर्व महिमा से भी मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। लेकिन भाइयो, इस समय हम लोगों को रोने धोने का समय नहीं है। हम लोग काफी रो-धो चुके हैं। अब हम लोगों को कोमल भावों के ग्रहण करने का समय नहीं है। इस तरह की कोमलता की सिद्धि करते करते हम लोग इस समय मुर्दे सरीखे हो रहे हैं, हम लोग रूई की तरह कोमल हो गये हैं। हमारे देश के लिये इस

अद्वैतवाद के प्रचार का कारण

समय आवश्यकता है—लोहे की तरह मासपेशी और स्नायुओं से युक्त बनने की, इतनी दृढ इच्छाशक्ति सम्पन्न होने कि को उसका प्रतिरोध करने में समर्थन हो, जिससे कि वह ब्रह्माण्ड के सभी रहस्यों का उद्घाटन करने में समर्थ हो, यद्यपि इस कार्य साधन के लिए समुद्र के तल में जाना पड़े, चाहे मृत्यु का ही आलिङ्गन क्यों न करना हो, यह सब कुछ करना हम लोगों को आवश्यक है, और अद्वैतवाद के महान् आदर्श को सामने रख कर ही ऐसे भाव हम में आ सकते हैं।

विश्वास, विश्वास, विश्वास—अपने ऊपर विश्वास रखना, ईश्वर पर विश्वास रखना ही—उन्नति प्राप्ति का एक मात्र उपाय है। यदि तुम अपने पुराणों में लिखे हुए तैंतिस करोड़ देवताओं पर विश्वास रखो, साथ ही विदेशियों में ही सब प्रकार की जितने जितने देवता हैं, उन सब पर भी विश्वास रखो और अगर तुममें आत्मविश्वास न हो, तो तुम्हारी मुक्ति कभी, नहीं हो सकती।

आत्मविश्वास उन्नति का मूल है

अपने ऊपर भरोसा रखो—उस विश्वास बल पर अपने पैरों पर खड़े होओ और वीर्यशाली बनो। इस समय हमारे लिये यही आवश्यक है। हमारे देश के ये तैंतिस करोड लोग मुट्ठी भर विदेशियों के सामने सिर झुकाते हैं और यह लोग हमसे नहीं झुकते हैं, इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि उनको अपने पर विश्वास है और हम लोगों को अपने ऊपर विश्वास नहीं है। मैंने पाश्चात्य देशों में जाकर क्या सीखा है? ईसाई लोग

मनुष्य मात्र को पतित और लाचार और पापी समझते हैं, इन व्यर्थ की बातों में न पड़कर उनकी जातीय उन्नति का कारण क्या है, यह देखा, मैंने यूरोप और अमेरीका दोनो महाद्वीपों में देखा कि दोनों महाद्वीपों के जातीय हृदय के अन्तर मे उनका महान आत्मविश्वास छिपा हुआ है। एक अंग्रेज बालक तुमसे कहेगा, मैं अंग्रेज हूँ, मैं सब कुछ कर सकता हूँ। अमेरिकन बालक भी यही कहेगा—प्रत्येक यूरोपीय बालक यही कहेगा। हमारे बच्चे क्या ऐसा कह सकते हैं ? कभी नहीं, बच्चे ही क्यों, उनके पिता तक ऐसा कहने का साहस नहीं कर सकते। हम लोगों ने अपने ऊपर विश्वास खो दिया है। इसी कारण से वेदान्त के अद्वैतवाद का प्रचार करना आवश्यक है जिससे लोगों के हृदय में जागृति पैदा हो, जिससे वह अपनी आत्मा की महिमा को जान सके। इसी कारण से मैं अद्वैतवाद का प्रचार करता हूँ और मैं इसका प्रचार साम्प्रदायिक भाव से नहीं करता, बल्कि मनुष्य जाति का कल्याण हो, सब का ग्राह्य हो, इस भाव से इसका प्रचार कर रहा हूँ।

इस अद्वैतवाद का इस प्रकार प्रचार किया जा सकता है— जिससे द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी को भी किसी तरह की आपत्ति का कारण न रहेगा और इन सभी मतों का सामञ्जस्य साधन भी कोई कठिन नहीं। भारत में ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं जिसमें यह न कहा गया हो कि भगवान् सब के भीतर निवास करते हैं। हमारे वेदान्त मत के विभिन्न सम्प्रदाय वाले सभी

स्वीकार करते हैं कि जीवात्मा में पहले से ही पूर्ण पवित्रता, वीर्य और पूर्णता छिपी हुई है। तो भी किसी किसी के मतानुसार यह पूर्णता कभी कभी सकुचित हो जाती है और कभी विकास को प्राप्त होती है। यह होने पर भी वह पूर्णता हमारे ही भीतर रहती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अद्वैतवाद के सिद्धान्तानुसार वह न तो संकुचित होता है और न विकास को ही प्राप्त है। केवल समय समय पर प्रकट और गुप्त रहता है ऐसा होने से कार्यत द्वैतवाद के साथ वह एक रूप है। एकमत दूसरे की अपेक्षा न्याय-संगत और युक्ति-सगत हो सकता है, लेकिन कार्यत प्राय दोनों एक ही हैं। इस मूल तत्व का प्रचार करना ससार के लिये अत्यावश्यक हो रहा है। और हमारी मातृभूमि भारत में इसका जितना अभाव है, उतना किसी भी देश में नहीं है।

भाइयो, मैं आप लोगों को कुछ कडी बातें सुनाना चाहता हूँ;—अखबारों में निकलता है—हमारे एक दरिद्र व्यक्ति को किसी अंग्रेज़ ने मार डाला है, अथवा उसके साथ बहुत असभ्य बर्ताव किया है। इससे देश भर में हलचल मच जाती है, हम लोग पढ़कर आँखों से आँसू गिराते हैं, परन्तु दूसरे ही क्षण हमारे मन में प्रश्न उठता है, इसके लिये उत्तरदायी कौन है ? जब मैं वेदान्ती हूँ, तो मैं इस प्रश्न को किये बिना नहीं रह सकता। हिन्दू जाति अन्तर्दृष्टि रखने वाली है, यह अपने ही भीतर सब बातों का कारण ढूँढती है। मैं जभी अपने मन से इस

अपनी दुर्दशा के लिये हम ही उत्तरदायी हैं।

बात को पूछता हूँ कि इसके लिये जिम्मेदार कौन है ?—उस समय प्रत्येक बार मैं यह उत्तर पाता हूँ कि इसके लिये अंग्रेज उत्तरदायी नहीं हैं, हमी लोग अपनी सब तरह की दुर्दशा, अवनति और कष्टों के लिये उत्तरदायी हैं। केवल हमी लोग जिम्मेदार हैं।

हमारे पुरखे अपने देश के साधारण लोगों को पददलित करते थे, क्रमश वे एकदम असहाय हो गये, उस अत्याचार से वह गरीब लोग यह तक भूल गये कि वह मनुष्य हैं। सैकडों शताब्दियो से वह लकडी काटते आ रहे हैं और जल ढो रहे हैं।

हमी लोगों ने देश के नीच जातियों को दलित कर रखा है।

क्रमश उनके मन में यह विश्वास हो रहा है कि वह गुलाम ही पैदा हुए हैं, लकड़ी काटने और कुयें से जल निकालने के लिये ही उनका जन्म हुआ है। और अगर उनके प्रति दया रखने वाला कोई मनुष्य दो एक बातें कहता है तो आजकल के शिक्षित लोग इन पददलित जातियो की उन्नति साधन के कार्यों के करने में सकोच का अनुभव करते हैं।

वशानुक्रमिक सक्रमण मत क्या बिल्कुल ठीक है?

केवल यही नहीं, मैं वह भी देखता हूँ कि वे पाश्चात्य देशों के वंशानुक्रमिक संक्रमण और उस तरह के अन्यान्य तुच्छ मतों की सहायता से ऐसे पशुतापूर्ण और राक्षसी हेतुवाद दिखलाते हैं—जिससे दरिद्रों के ऊपर अत्याचार करने और उन्हें पशु जैसा बनाने की अधिक सुविधा होती है। अमेरिका धर्म सम्मेलन में और लोगों के साथ एक निग्रो-युवक भी आया

था—वह ठेठ अफ्रीका का हबशी था। उसने एक सुन्दर भाषण दिया था। मुझे इस युवक के सम्बध में कौतूहल हुआ, मैंने उससे बीच बीच में बातें की, मगर उसके सम्बध में विशेष न जान सका। कुछ दिन के बाद इंगलैंड में कुछ अमेरिकनों से मेरी मुलाकात हुई, उन्होंने मुझसे उस युवक के सम्बन्ध में यह किस्सा कहा,—'यह युवक मध्य अफ्रिका के एक दलपति हबशी का पुत्र है, किसी कारण से एक दूसरा दलपति उसके पिता से नाराज़ हुआ और उसे और उसकी स्त्री को मारकर उसका मांस राँधकर खा गया। उसने इस बालक को भी मार कर उसका मांस खाने का आदेश दिया था, लेकिन वह बालक किसी तरह भाग कर बहुत दु ख उठाते हुए सैकड़ो कोस चलकर समुद्र के किनारे पहुँचा—वहाँ से एक अमेरिकन जहाज़ में चढ़कर अमेरिका आया है।' उस बालक ने इतनी सुन्दर वक्तृता दी। इस प्रकार की घटना को देखकर वशानुक्रमिक संक्रमण में कैसे आस्था रह सकती है?

हे ब्राह्मणो! यदि वशानुक्रमिक भाव सक्रमण नियम के अनुसार ब्राह्मण विद्या सीखने के लिये अधिक उपयुक्त हैं तो ब्राह्मणों की शिक्षा पर अर्थ व्यय न कर चाण्डाल जाति की शिक्षा के लिये सारा धन खर्च करो। दुर्बलो की पहले सहायता करो, क्योंकि दुर्बलों की सहायता करना ही पहले आवश्यक है। यदि ब्राह्मण बुद्धिमान ही पैदा होता है तो वह किसी की सहायता के बिना ही शिक्षा ग्रहण कर सकता है। अगर और जातियाँ उतनी बुद्धिमान नहीं हैं तो उन्हें ही केवल शिक्षा देनी

चाहिये—उनके लिये ही शिक्षक नियुक्त करना चाहिये। मुझे तो यही न्याय और बुद्धि-संगत जान पड़ता है। इसलिये इन दरिद्रों, भारत के इन पददलित जातियों को उनका प्रकृत स्वरूप बतलाना आवश्यक है। जाति-विशेष, सबल-निर्बल का विचार न कर प्रत्येक स्त्री पुरुष को, प्रत्येक लड़के लड़की को सिखलाओ, बतलाओ कि सबल-दुर्बल, ऊँच-नीच सभी के भीतर वह अनन्त आत्मा विद्यमान है, इसलिये सभी महान् बन सकते हैं, सभी साधु बन सकते हैं। सभी लोगों के सामने उच्च स्वर में कहो,—उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। कठोपनिषद् १। १४। उठो, जागो, जब तक अन्तिम लक्ष्य पर न पहुँचो, तब तक निश्चिन्त न रहो। उठो, जागो, अपने को दुर्बल समझकर तुम जो मोहाच्छन्न हो रहे हो, इसे दूर कर दो। कोई वास्तव में दुर्बल नहीं है, आत्मा अनन्त, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। उठो, अपने स्वरूप को प्रकाशित करो, तुम्हारे भीतर जो ईश्वर निवास करते हैं, उनको उच्चस्वर से घोषणा करो, अस्वीकार न करो। हमारी जाति के अन्दर घोर आलस्य दुर्बलता और मोह समा गया है। ऐ हिन्दुओ! मोह-जाल को फाड़ डालो। इसका उपाय तुम्हारे शास्त्रों में ही दिया हुआ है। तुम अपने अपने स्वरूप की चिन्ता करो और सर्वसाधारण को भी उसका उपदेश करो। घोर मोह-निद्रा में पड़े हुए जीवात्मा की निद्रा भंग करो। आत्मा के प्रबुद्ध होने पर शक्ति आयेगी, महिमा आयेगी, साधुता आयेगी, पवित्रता आयेगी, जो कुछ

अच्छी बातें हैं, सभी चली आयँगी। यदि गीता में मुझे कुछ सब से बढ़कर अच्छा लगता है तो ये दो श्लोक हैं जो भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश के सार हैं, महा बलप्रद हैं।

> समसर्वेषु भूतेषु तिष्ठत परमेश्वरम्।
> विनश्यत्स्व विनश्यन्त य पश्यति स पश्यति ॥ १३ । २७।
> सम पश्यन्हिसर्वत्र समवस्थितमीश्वरं ।
> न हिनस्त्यात्मनात्मान ततो याति परां गतिम् ॥ १३ । २८

विनाशवान् सब प्राणियों में अविनाशी परमेश्वर को जो सम भाव से अवस्थित देखते हैं, वही यथार्थ में दर्शन करते हैं। इसका कारण यह है कि ईश्वर को सर्वत्र समभाव से अवस्थित देखकर अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते, इसलिये परम गति को प्राप्त होते हैं।

इसलिये यह देखा जाता है कि वेदान्त के प्रचार द्वारा इस देश तथा अन्यान्य देशों में काफी लोकहितकर कार्य हो सकते हैं। इस देश में एवं अन्यत्र समस्त मनुष्य जाति के दुःख दूर करने और उन्नति के लिये परमात्मा की सर्वव्यापकता और सर्वत्र समभाव से अवस्थित रहना इन दो तत्वों का प्रचार करना होगा। जहाँ कहीं भी अन्याय दिखलाई पड़ता है, वहीं पर अज्ञान दिखलाई पड़ता है। मैंने अपने अनुभव से यह जाना है और हमारे शास्त्रों में भी लिखा है कि भेदबुद्धि के पैदा होने से ही सभी खराबियाँ पैदा होती हैं, और अभेद बुद्धि के होने पर—

सभी विभिन्नता के रहते हुए भी वास्तव मे एक ही सत्ता है, इस पर विश्वास करने पर—सब तरह का कल्याण होगा। यही वेदान्त का सब से ऊँचा आदर्श है।

तो भी बातों मे केवल आदर्श में विश्वास रखना एक बात है, और प्रतिदिन के जीवन में प्रत्येक छोटे बडे काम में उस आदर्श का निभाना एक दूसरी बात है। एक ऊँचा आदर्श दिखला देना अच्छी बात है—किन्तु इस आदर्श तक पहुँचने का अच्छा मार्ग कौन सा है ? यहाँ स्वभावत वही कठिन प्रश्न आ उपस्थित होता है—जो आज कई शताब्दियों से सर्वसाधारण के मन में विशेष भाव से जाग रहा है—वह प्रश्न और कुछ नहीं—जाति भेद और समाज संस्कार विषयक वही पुरानी समस्या है। मैं यहाँ पर एकत्रित सभी श्रोताओं से खोलकर कहना चाहता हूँ मैं जाति-भेद की प्रथा उठानेवाला अथवा केवल समाज-सुधारक नहीं हूँ। जातिभेद वा समाज-सुधार के सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है। तुम चाहे कोई भी जाति हो, इसमें कोई हानि नहीं,—लेकिन अपनी जाति के कारण तुम दूसरी जाति से घृणा न करो। मैं सब प्रेमियों पर प्रेम रखता हूँ, इस तत्व का प्रचार करो और मेरा यह उपदेश—विश्वात्मा की सर्व-व्यापकता और समत्व रूपी वेदान्त के इस महान् तत्व पर निर्भर करता है।

प्राय पिछले सौ वर्षो से हमारा देश समाज-सुधारकों तथा उनके तरह तरह के प्रस्तावों से पट गया है। इन समाज-सुधारकों

के प्रस्तावों के विरुद्ध मुझे कुछ कहना नहीं है। इनमें से अधिकाश लोगों के उद्देश्य बहुत अच्छे हैं। और किसी किसी विषय में उनके उद्देश्य बहुत ही प्रशंसनीय हैं। किन्तु इससे यह साफ़ झलकता है कि इन सौ वर्षों में समाज-सुधारकों के आन्दोलन का कुछ नतीजा नहीं निकला है, देश का कुछ भला नहीं हुआ है, सभा-मञ्च से लम्बी लम्बी स्पीचें दी गई हैं,—हिन्दू जाति और हिन्दू सभ्यता के मस्तक पर खूब निन्दा और गालियों की बौछार हुई है, किन्तु तो भी समाज का वास्तव में कोई उपकार नहीं हुआ है। इसका कारण क्या है? कारण ढूँढ निकालना बहुत कठिन नहीं है। यह निन्दा-शिकायत और गालियों की बौछार ही इसका कारण है। पहले, जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, हमें अपनी जातीय विशेषता को रक्षित रखना होगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि और जातियों से हमें बहुत कुछ सीखना होगा, लेकिन दु ख के साथ मुझे कहना पड़ता है कि हमारे अधिकाश आधुनिक सस्कार पाश्चात्य कार्य प्रणाली का अनुकरण मात्र है। भारत में कभी इसके द्वारा सुधार नहीं हो सकता। इसी कारण से ही हमारे वर्तमान सस्कार सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों का कुछ परिणाम नहीं हो रहा है। दूसरे, यदि हम किसी का भला चाहते हों तो निन्दा और गाली-गलौज करने से अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते। हमारे समाज में जो बहुत से दोष हैं, उसे साधारण बालक भी देख सकता है और भला किस समाज में दोष नहीं है? मेरे भाइयो, इस अवसर पर मैं आप

समाज सुधारक के असफल होने का कारण—दूसरी जातियों का अनुकरण और वर्तमान समाज को गालिया देना

लोगों से कहे देता हूँ कि मैंने संसार की जिन जातियों को देखा है, उन सभी जातियो की तुलना करने पर मैं इस सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ कि हमारी जाति ही और सब जातियो की अपेक्षा धर्मात्मा नीति परायण है और हमारे सामाजिक विधान— उनके उद्देश्य और कार्य प्रणाली पर विचार करन से देखा जाता है—मनुष्य जाति को सुखी बनाने के लिये हैं। इसी कारण से मैं किसी तरह का सुधार नहीं अधिक उपयुक्त चाहता। हमारा आदर्श है जातीय मार्ग पर समाज की उन्नति, उसका विस्तार। जिस समय मैं अपन देश के प्राचीन इतिहास की आलोचना करता हूँ, उस समय मैं सम्पूर्ण ससार में ऐसा देश नहीं देख पाता हूँ जिसने मनुष्य की मानसिक उन्नति के लिये इतना किया है।

उन्नति का उपाय जातीय भाव से समाज का सगठन

इसी कारण से मैं अपनी जाति को किसी तरह की निंदा या गाली नहीं दे सकता। मैं अपनी जाति से कहता हूँ, जो कुछ किया है, बहुत ठीक हुआ है, और भी अच्छा करने का प्रयत्न करो।' इस देश में प्राचीन काल में बहुत बडे बडे कार्य हुए हैं लेकिन अब भी बड़े बड़े कार्य करने का काफी मौक़ा है। तुम लोग निश्चय रूप से जानो कि हम लोग एक स्थान पर चुपचाप नहीं रह सकते। अगर एक स्थान पर रहें तो हमारी मौत ही समझिये। हमें या तो आगे बढ़ना होगा

या पीछे हटना होगा। या तो हमें उन्नति करनी होगी नहीं तो हमारी अवनति होगी। हमारे पुरुखों ने प्राचीन काल में बड़े बड़े कार्य किये हैं, लेकिन हमें उनसे बढ़कर कार्य करने होंगे और उनसे भी बढ़कर महान कर्मों की ओर अग्रसर होना होगा। इस समय पीछे हट कर अवनत होना किस तरह हो सकता है? यह कभी नहीं हो सकता। ऐसा होते देखा नहीं जा सकता। पीछे हटने से जाति का अध पतन और मृत्यु होगी। इसलिये आगे बढो और बड़े बड़े कर्मों का अनुष्ठान करो, यही आप लोगों से मुझे कहना है।

आगे बढो

मैं कोई सामयिक समाज-सुधारक नहीं हूँ। मैं समाज के दोषों को दूर करने की चेष्टा नहीं करता। मैं आप लोगों से कहता हूँ, आप लोग आगे बढ़िये और हमारे पुरुषों ने समस्त मनुष्य जाति की उन्नति के लिये जो सर्वाङ्ग सुन्दर प्रणालियाँ चलाई हैं उन्हीं प्रणालियो से चल कर उनके उद्देश्य को सब तरह से कार्य रूप में परिणत कीजिये। आप लोगा से मुझे यही कहना है कि आप लोग सम्पूर्ण मनुष्य का एकत्व और मानव जाति के स्वाभाविक ईश्वरत्व भाव रूपी वेदान्तिक आदर्श को और भी अधिक प्राप्त करो। अगर मुझे समय मिलता तो मैं आप लोगों को बड़ी खुशी से दिखला देता कि इस समय हम लोगो को जो जो करना है, उसमें से प्रत्येक कार्य को हमारे स्मृतिकार हजारो वर्ष पहले ही कह चुके हैं और इस समय हमारे जातीय आचार व्यवहार में जो जो परिवर्तन हो रहे हैं और भविष्य में जो जो होंगे, उन्हें भी उन्होंने

पहले ही समझ लिया था। वे भी जाति-भेद को लोप करने वाले थे, तो भी आजकल के लोगों की तरह नहीं। वे लोग जाति-भेद का उठाने का यह अर्थ नहीं समझते थे कि शहर के सब लोग मिलकर एक साथ मद्य मास उडावे अथवा जितने मूर्ख और पागल मिलें, जिस समय जहाँ पर इच्छा हो, विवाह करलें और देश को पागलखाने के रूप में परियात करदें अथवा वे यह भी विश्वास नहीं करते थे कि विधवाओं के पतियो के संख्या के अनुसार किसी जाति की उन्नति का परिमाण लगाया जा सकता है। ऐसा करके किसी ने उन्नति की है ऐसी जाति तो आज तक हमने कहीं नहीं देखी है।

हमारे पुरखों द्वारा चलाये सामाजिक नियमों को वर्तना ही समाज की सर्वांगीण उन्नति है

ब्राह्मण ही हमारे पूर्वपुरुषों के आदर्श थे। हमारे सभी शास्त्रों में ब्राह्मणों के आदर्श चरित उज्जल अक्षरों में लिखे गये हैं। यूरोप के श्रेष्ठ धर्माचार्य तक अपने पुरखों को उच्च वंश का सिद्ध करने के लिये हजारो रुपये खर्च करते थे और जब तक वे यह सिद्ध न कर लेते थे कि पर्वतवासी यात्रियो को दिन-दहाडे लुटवानेवाले कोई महा अत्याचारी व्यक्ति उनके पूर्व पुरुष थे, तब तक उन्हें चैन नहीं मिलता था। दूसरी ओर भारत के बडे बड़े राजघराने, कौपीनधारी जंगल में रहने वाले, फल मूल आहार करने वाले किसी वेदपाठी ऋषि-मुनि से उनके वंश उत्पत्ति हुई है यही प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। यहाँ पर अगर उस प्राचीन काल के किसी ऋषि १९३९ पूर्व पुरुष के रूप

या पीछे हटना होगा। या तो हमें उन्नति करनी होगी नहीं तो हमारी अवनति होगी। हमारे पुरुखों ने प्राचीन काल में बड़े बड़े कार्य किये हैं, लेकिन हमें उनसे बढ़कर कार्य करने होंगे और उनसे भी बढ़कर महान कर्मो की ओर अग्रसर होना होगा। इस समय पीछे हट कर अवनत होना किस तरह हो सकता है ? यह कभी नहीं हो सकता। ऐसा होते देखा नहीं जा सकता। पीछे हटने से जाति का अध पतन और मृत्यु होगी। इसलिये आगे बढ़ो और बड़े बड़े कर्मो का अनुष्ठान करो, यही आप लोगों से मुझे कहना है।

आगे बढो

मैं कोई सामयिक समाज-सुधारक नहीं हूँ। मैं समाज के दोषों को दूर करने की चेष्टा नहीं करता। मैं आप लोगों से कहता हूँ, आप लोग आगे बढ़िये और हमारे पुरुषों ने समस्त मनुष्य जाति की उन्नति के लिये जो सर्वाङ्ग सुन्दर प्रणालियाँ चलाई हैं उन्हीं प्रणालियो से चल कर उनके उद्देश्य को सब तरह से कार्य रूप में परिणत कीजिये। आप लोगो से मुझे यही कहना है कि आप लोग सम्पूर्ण मनुष्य का एकत्व और मानव जाति क स्वाभाविक ईश्वरत्व भाव रूपी वेदान्तिक आदर्श को और भी अधिक प्राप्त करो। अगर मुझे समय मिलता तो मैं आप लोगों को बड़ी खुशी से दिखला देता कि इस समय हम लोगो को जो जो करना है, उसमें से प्रत्येक कार्य को हमारे स्मृतिकार हजारों वर्ष पहले ही कह चुके हैं और इस समय हमारे जातीय आचार व्यवहार में जो जो परिवर्तन हो रहे हैं और भविष्य में जो जो होंगे, उन्हें भी उन्होंने

पहले ही समझ लिया था। वे भी जाति-भेद को लोप करने वाले थे, तो भी आजकल के लोगों की तरह नहीं। वे लोग जाति-भेद का उठाने का यह अर्थ नहीं समझते थे कि शहर के सब लोग मिलकर एक साथ मद्य मांस उड़ावे अथवा जितने मूर्ख और पागल मिलें, जिस समय जहाँ पर इच्छा हो, विवाह करलें और देश को पागलखाने के रूप मे परिणत करदें अथवा वे यह भी विश्वास नहीं करते थे कि विधवाओं के पतियो के संख्या के अनुसार किसी जाति की उन्नति का परिमाण लगाया जा सकता है। ऐसा करके किसी ने उन्नति की है ऐसी जाति तो आज तक हमने कहीं नहीं देखी है।

हमारे पुरखों द्वारा चलाये सामाजिक नियमों को वर्तना ही समाज की सर्वांगीण उन्नति है

ब्राह्मण ही हमारे पूर्वपुरुखों के आदर्श थे। हमारे सभी शास्त्रों में ब्राह्मणों के आदर्श चरित उज्वल अक्षरों में लिखे गये हैं। यूरोप के श्रेष्ठ धर्माचार्य तक अपने पुरखों को उच्च वंश का सिद्ध करने के लिये हजारो रुपये खर्च करते थे और जब तक वे यह सिद्ध न कर लेते थे कि पर्वतवासी यात्रियो को दिन-दहाड़े लुटवानेवाले कोई महा अत्याचारी व्यक्ति उनके पूर्व पुरुष थे, तब तक उन्हें चैन नहीं मिलता था। दूसरी ओर भारत के बड़े बड़े राजघराने, कौपीनधारी जंगल में रहने वाले, फल मूल आहार करने वाले किसी वेदपाठी ऋषि-मुनि से इनके वंश उत्पत्ति हुई है यही प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। यहाँ पर अगर प्राचीन काल के किसी ऋ[illegible] पूर्व पुरुष के रूप

में सिद्ध कर सको तब तो उच्च वंश के हो, नहीं तो नहीं। इसलिये हम लोगों के आभिजात्य का आदर्श अन्यान्य जातियों से बिल्कुल भिन्न है। आध्यात्मिक भावों वाले तथा महात्यागी ब्राह्मण ही हमारे आदर्श हैं। आदर्श ब्राह्मण से मैं क्या समझता हूँ? आदर्श ब्राह्मणत्व वही है जिसमें सांसारिकता एक बारगी न हो और जिसमें प्रकृत ज्ञान काफ़ी हो। हिन्दू जाति का यही आदर्श है। आप लोगों ने क्या सुना नहीं है। शास्त्रों में लिखा है कि ब्राह्मणों के लिये कोई कानून नहीं है, वे राजाओं के शासनाधीन नहीं—उनके लिये प्राण-दण्ड नहीं। ये बातें बिल्कुल सच्ची हैं, स्वार्थी मूर्ख लोग इन बातों की जैसी व्याख्या करते हैं, उस भाव से इसे न समझकर, प्रकृत मौलिक वेदान्तिक भाव में इसे समझने की चेष्टा करो। अगर ब्राह्मण कहने से ऐसे व्यक्ति का बोध हो जिसने स्वार्थपरता का एकदम नाश कर दिया है, जिसका जीवन ज्ञान और प्रेम का प्रचार करने के लिये ही है,—जो देश केवल ऐसे ब्राह्मणों सत् स्वभाववाले, धर्मपरायण स्त्री पुरुषों से भरा हुआ है, वह जाति और देश सब तरह से विधि-निषेध रहित होगा, इसमें आश्चर्य क्या है? ऐसे मनुष्यों के शासन के लिये सेना-सामन्त, पुलिस आदि की क्या आवश्यकता है? उन पर किसी के शासन करने का क्या प्रयोजन? उनके लिये भी किसी शासन के अधीन रहने की क्या जरूरत?

वे साधु प्रकृति महात्मा थे—वे ईश्वर के अन्तरंग स्वरूप थे। और हम लोग और भविष्य मानते हैं कि सत्ययुग में एकमात्र

ब्राह्मण जाति ही रहती थी। महाभारत में देखने मे आता है कि पहले सारी पृथ्वी मे ब्राह्मण ही ब्राह्मण थे, क्रमश ज्यो ज्यों उनकी अवनति होने लगी, त्यों त्यों वे विभिन्न जातियों में विभक्त होने लगे, फिर जब युगचक्र घूमने पर इस सत्ययुग का अभ्युदय होगा, उस समय सभी ब्राह्मण होंगे। इस समय युग-चक्र घूम कर सत्य युग क अभ्युदय की सूचना दे रहा है, मैं इस विषय की ओर आप लोगों की दृष्टि आकर्षित करता हूँ। इसलिये ऊँच जाति वालो को नीचा करके, आहार-विहार में मनमानी करने, थोडे से सुख के लिये अपने अपने वर्णाश्रम की मर्य्यादा उल्लघन करने से जातिभेद की स[illegible]स्या हल न होगी, लेकिन हम लोगों में से प्रत्येक ही यदि वे[illegible] धर्म के निदेशों का पालन करें, प्रत्येक व्यक्ति धार्मिक बन[illegible]का प्रयन्त करे, प्रत्येक आदर्श ब्राह्मण होवे, तभी इस जाति भेद की समस्या हल होगी। आप लोग चाहे आर्य अनार्य, ऋषि, ब्राह्मण अथवा अत्यन्त नीच अन्त्यज जाति-कोई क्यों न हो, भारतभूमि में रहनेवाले सभी लोगो के समक्ष आपके पुरुखों का एक महान् आदर्श है, वह आदर्श यह है, चुपचाप बैठे रहने से काम न चलेगा उत्तरोत्तर उन्नति करनी पडेंगी। ऊँची जातियों से लेकर नीची जाति (चाण्डाल) तक सभी लोगों को आदर्श ब्राह्मण बन[illegible]प्रयत्न करना होगा।

केवल भारत को ही समूचे दुनिया को इस आदर्श में ढालना होगा

वेदान्त का यह आदर्श केवल भा[illegible] [illegible]नहीं, सम्पूर्ण

न १६३५

से भरी प्रथाओं के विरुद्ध भी निन्दात्मक कोई शब्द न कहना, क्योंकि उनके द्वारा भी प्राचीन काल मे कुछ न कुछ लाभ ही हुए हैं। यह बात सदा मन में रखना कि, हमारी सामाजिक प्रथाओं का उद्देश्य जितना ऊँचा है, उतना ससार के और किसी देश का नहीं है। मैं संसार के सभी देशों में जाति भेद देखा हूँ किन्तु यहाँ पर इस का उद्देश्य जितना उच्च है, उतना कहीं पर भी नहीं। इसलिये कार्य रूप में यदि भेद अनिवार्य है तो आर्थिक दृष्टि से जो जाति को फिर स्मरण दिलाता पवित्रता साधन और आत्मत्याग के ... से कोई अच्छा ... जाति भेद को सो अच्छा ही समझना होगा। ... की चेष्टा हुई है को एकदम त्याग ही दीजिये, अपना ..., ...। केवल प्रेम और हृदय खोल दीजिये। इस देश और ... दुनिया का उद्धार कीजिये। आप लोगों में से प्रत्येक को यह सोचना होगा कि सारा भार उसी पर है। वेदान्त का प्रकाश प्रत्येक घर में पहुँचाइये, हरेक घर में वेदान्त के आदर्श पर जीवन गठित कीजिये-प्रत्येक आत्मा में जो ईश्वरीय शक्ति छिपी हुई है, उसे जागृत कीजिये। ऐसा करने से चाहे जितनी थोडी सफलता क्यों न मिले, तुम्हारे मन में यह सन्तोष होगा कि तुमने बड़े भारी कार्य के लिये जीवन बिताया है और महत् कार्य के लिये प्राण विसर्जित किये हैं। जिस रूप में ही, महान कार्य के सिद्ध होने से ही मानव जाति का इस लोक और परलोक में कल्याण हो, ...।

... और भविष्य म...—

'इन्दु' स्मृति माला का चतुर्थ पुष्प

भक्ति और वेदान्त

(विवेकानन्द ग्रन्थावली संख्या १)

लेखक—

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक—

श्री रामविलास शर्मा, बी० ए० (ऑनर्स)

प्रकाशक—

सरस्वती पुस्तक भण्डार

आर्यनगर, लखनऊ

द्वितीयावृत्ति २००० | दिसम्बर सन् १९३५ | मूल्य १)

दो शब्द

"भक्ति और वेदान्त" स्वामी विवेकानन्द के भिन्न-भिन्न स्थानों में दिए हुए चार व्याख्यानों का अनुवाद है। पश्चिम में हमारे धर्म के वे सर्व-प्रथम और सर्व-श्रेष्ठ प्रचारक थे। विलासिता और भौतिकवाद के मद में चूर पाश्चात्य देशों को उन्होंने दिखाया कि सासारिक सुख से भी बढ़कर एक सुन्दर जीवन है, जो मरने के बाद किसी अन्य लोक में नहीं वरन् इसी ससार मे सुलभ है। मनुष्य इसी जीवन में सत्य ज्ञान (वेदान्त) अथवा सत्य-प्रेम (भक्ति) द्वारा आत्मा और परमात्मा की तन्मयता का अनुभव कर अमरता को पा सकता है। सभी धर्मों का यही ध्येय है और इसीलिए उनमें बाह्य विभिन्नता होने पर भी एक आन्तरिक समानता है। धर्म के रहस्य में स्वामीजी ने भलोभाँति समझाया है।

कुछ दिनों से नवशिक्षित लोगों ने पश्चिम की देखा-देखी अपनी पुरानी रूढ़ियों पर आक्रमण करना तो सीख लिया है, पर सामने कोई निश्चित आदर्श नहीं रक्खा। कहना न होगा कि आज यूरोप और अमेरिका से कहीं अधिक भारतवर्ष में ही स्वामीजी के विचारों के प्रचार होने की आवश्यकता है। भारतीय आदर्श का क्या महत्व है तथा उसके लिए हमें क्यों अभिमान होना चाहिए, पाठक इस पुस्तक को पढ़कर भलो-भाँति समझ सकेंगे।

विनीत—

रामस्वरूप गुप्त

सूची-पत्र

भक्ति और वेदान्त

मेरे पथ-प्रदर्शक

[स्वामी विवेकानन्द ने यह व्याख्यान न्यूयार्क में वेदान्त-सोसाइटी के सम्मुख दिया था]

भगवान् कृष्ण ने गीता मे कहा है —

> "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥

(जब संसार से पुण्य उठ जाता है और पाप की बढती होती है, तब मनुष्य-जाति का उद्धार करने के लिए मैं अवतार लेता हूँ ।)

बहु-सख्या अथवा अन्य परिस्थितियों के कारण जब संसार में परिवर्तन की आवश्यकता होती है, तभी एक नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव होता है । मनुष्य के दो कार्य-क्षेत्र हैं— एक पार्थिव, दूसरा आत्मिक , परिवर्तन दोनों ही क्षेत्रों में होता है। आधुनिक समय में तो यूरोप ही पार्थिव क्रियाओं की रंगभूमि है , पर प्राचीनतम काल से समस्त संसार में आत्मिक

उन्नति का प्रधान केन्द्र भारतवर्ष ही रहा है। आज भी आत्मिक क्षेत्र में परिवर्तन की आवश्यकता है। भौतिकता अपनी शक्ति तथा प्रसिद्धि के उच्चतम शिखर पर विराज रही है। सम्भव है कि मनुष्य अपनी स्वर्गीय प्रकृति को भूलकर सांसारिक वस्तुओं पर अधिकाधिक निर्भर होता हुआ पैसा पैदा करने की मशीन-मात्र रह जावे, इसीलिए परिवर्तन की नितान्त आवश्यकता है। भौतिकवाद की घिरती हुई घटाओं का ध्वंस करने के लिए नई शक्ति का जन्म हो चुका है, रण-भेरी बज चुकी है, यह शक्ति मनुष्य-मात्र को उनकी विस्मृत स्वर्गीयता का पुनः स्मरण करावेगी और एक बार फिर इस शक्ति का जन्म-स्थान एशिया ही होगा। मनुष्यों के कार्य बटे हुए हैं। एक ही मनुष्य सभी कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता, फिर भी हम कितने निर्बुद्धि हैं। शिशु बच्चा समझता है कि संसार में यदि किसी वस्तु की आकांक्षा की जा सकती है, तो वह उसकी खेलने की गुड़िया है। इसी भाँति एक जाति, जिसने भौतिक शक्ति प्राप्त की है, समझती है कि उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया, उन्नति के शिखर पर पहुँच गई, सभ्यता की चरम सीमा को पार कर लिया! अन्य जातियों का, जिन्होंने पार्थिव उन्नति नहीं की, जीना व्यर्थ है। उन्हें जीने का अधिकार नहीं, साथ ही एक जाति भौतिक उन्नति को बिल्कुल ही निरर्थक भी समझ सकती है। प्राच्य ने गम्भीर वाणी से पुकार कर कहा था कि यदि आसमुद्र पृथ्वी आकाश की वस्तुओं का भी कोई जन स्वामी है, पर आत्मिक उन्नति से हीन है, तो

वह भिखारी से भी दीन है। यह प्राच्य विचार है, इसके विरुद्ध पाश्चात्य।

दोनों विचारों को अपनी-अपनी शोभा, अपना अपना सम्मान है। आज इन्हीं दोनों आदर्शों के सहानुभूतिमय पारस्परिक सम्मिलन की आवश्यकता है। प्राच्य के लिए आत्मिक ससार उतना ही सत्य है, जितना कि पाश्चात्य के लिए भौतिक। आशा आकांक्षा के लिए सारी वस्तुएँ उसके लिए वहीं विद्यमान हैं। जीवन को चरितार्थ करने के लिए सब कुछ वहीं है। पाश्चात्य के लिए वह केवल स्वप्न देखता है, उसी भाँति उसके लिये भी पाश्चात्य कवल माया-स्वप्न देखता है। यह देखकर उसे हँसी आती है, कि स्वस्थ मस्तिष्क वाले स्त्री-पुरुष मुट्ठी भर मिट्टी को इतना महत्व देते हैं, जिसे उन्हें आज या कल छोडना ही पड़ेगा। एक दूसरे को स्वप्न देखनेवाला बताता है, पर मनुष्य-जाति की उन्नति के लिए प्राच्य आदर्श उतना ही आवश्यक है, जितना कि पाश्चात्य, और जैसा कि मैं समझता हूँ, उससे भी अधिक मशीनों ने मनुष्य-जाति को कभी सुखी नहीं बनाया, न बनावेंगी। जो इसके विरुद्ध हमें विश्वास दिलाता है, वह यही कहता है, कि सुख मशीन में है, न कि मनुष्य के हृदय में। वही पुरुष, जो अपने हृदय और मस्तिष्क का स्वामी है, केवल वही सुखी हो सकता है, अन्य नहीं और फिर मशीनों की शक्ति ही क्या है? एक पुरुष जो एक तार में से बिजली की धारा भेज सकता है, बडा मनस्वी और प्रतिभाशाली क्यों कहा जाता है? क्या प्रकृति प्रति छाया

उससे सहस्रों बार अधिक अद्भुत कार्य नहीं करती, तब प्रकृति के चरणों में गिरकर उसकी पूजा क्यों नहीं करते हो? समस्त संसार पर तुमने अधिकार कर लिया, तो क्या हुआ? सृष्टि के अणुमात्र को अपने वश में करके भी तुम सुखी नहीं हो सकते। यदि सुखी होने की शक्ति स्वयं तुम्हारे भीतर नहीं है, यदि तुमने अपने आपको नहीं जीता। यह सच है कि मनुष्य प्रकृति को जीतने के लिए ही उत्पन्न हुआ है, पर पाश्चात्यों का प्रकृति से तात्पर्य केवल बाहरी भौतिक प्रकृति से ही होता है। निस्सन्देह भौतिक प्रकृति सुन्दर है। उसके पर्वत, नदियाँ, समुद्र—सभी सुन्दर हैं, उसके रूप और शक्तियाँ अनन्त हैं। फिर भी मनुष्य की एक आन्तरिक प्रकृति है, जो सूर्य, चन्द्र और तारागणों से भी ऊँची, भौतिक प्रकृति और संसार से ऊँची, हमारे क्षणभंगुर जीवन बुद्‌बुदों से जो कहीं अधिक ऊँची है। इस प्रकृति की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में प्राच्य सदा बढ़े रहे हैं जैसे कि पाश्चात्य दूसरे में। अतएव यह योग्य ही है कि जब आत्मिक क्षेत्र में कोई परिवर्तन हो, तो उसका श्रीगणेश प्राच्य में ही हो। साथ ही प्राच्य भी जब मशीन बनाना सीखना चाहे, तो उसे पाश्चात्य के चरणों का आश्रय ले सीखना चाहिए। और जब पाश्चात्य जीव, आत्मा, परमात्मा व इस सृष्टि के रहस्य को समझना चाहे, तो उसे प्राच्य की दीक्षा लेनी चाहिए।

मैं आप लोगों के सम्मुख एक ऐसे पुरुष की जीवनी वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसने भारतवर्ष में ऐसे ही आन्दोलन को प्र

दिया था। पर इसके पहिले मैं यह समझाने की चेष्टा करूँगा कि भारतवर्ष है क्या ? उसका रहस्य क्या है ? जिनकी आँखों में भौतिक वस्तुओं की चमक-दमक ने चकाचौंध उत्पन्न कर दी है, जिन्होंने 'खाओ, पियो, मौज करो' के आदर्श की वेदी पर अपने जीवन को अर्पित कर दिया है, धन और भूमि ही जिन्हें सबसे अधिक अभीप्स्य है, इन्द्रिय-सुख ही जिनके लिये वास्तविक सुख है, पैसा जिनका परमेश्वर और मृत्यु-पर्यन्त विलासमय जीवन, बिताना जिनका ध्येय है, जो आगे देख नहीं सकते, विषय-वासना और सुख की वस्तुओं से घिरे हुए जो उनसे ऊँची बातें सोच नहीं सकते, ऐसे पुरुष जब भारतवर्ष में जाते हैं, तो क्या देखते हैं ? निर्धनता, दीनता, अन्ध-विश्वास, अन्धकार, सर्वव्यापी जघन्यता ! क्यों इसलिए कि ज्ञान का अर्थ उनके लिए है अच्छी पोशाक, शिक्षा, व्यावहारिक सभ्यता। पाश्चात्य जातियों ने अपनी भौतिक उन्नति करने के लिए कुछ उठा नहीं रक्खा, पर भारतवर्ष ने वैसा नहीं किया। समूची मानवजाति क इतिहास में संसार की यदि किसी जाति ने अपनी सीमाओं को लाँघकर अन्य जातियों को जीतने की इच्छा नहीं की, तो वह हमारी हिन्दू जाति ही है। भारतवासियों ने पराया धन पाने की चेष्टा कभी नहीं की। उनका दोष केवल इतना था कि उनकी भूमि बहुत उपजाऊ थी, उनकी बुद्धि बहुत प्रखर थी, जिससे कि उन्होंने अपने हाथों की गाढ़ी कमाई से अगाध धन-सम्पत्ति इकट्ठी की, जिसे देखकर अन्य

जातियाँ लुभाती रहीं और आकर उसे हर ले गई। धन देकर और वर्बर कहाकर भी उन्हें सन्तोष है, बदले में वे, संसार को सर्वश्रेष्ठ और सर्वव्यापी परमात्मा के सौन्दर्य को दिखाना चाहते हैं। जिस पर्दे के पीछे वास्तविक मनुष्य छिपा हुआ है, उसे वे तहस-नहस कर डालना चाहते हैं, क्योंकि वे इस स्वप्न का अर्थ समझ गये हैं और जानते हैं कि इस भौतिकवाद के पीछे मनुष्य की वह अमर स्वर्गीय प्रकृति रहती है, जिसे कोई पाप, दुष्कर्म व वासना दूषित अथवा कलुषित नहीं कर सकती, जिसे अग्नि जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता, गर्मी सुखा नहीं सकती, मृत्यु भी जिसे मार नहीं सकती। उनके लिए मनुष्य की यह वास्तविक प्रकृति उतनी ही सत्य है, जितना कि किसी पाश्चात्य के लिए कोई भौतिक पदार्थ। जिस प्रकार तुम 'हुर्रे' की ध्वनि करते हुए तोप के मुँह में कूद सकते हो, स्वदेश के लिए वीरतापूर्वक अपना जीवन दे सकते हो, उसी प्रकार वे अपने ईश्वर के नाम पर वीरता के कार्य कर सकते हैं। इसी वीरता पर एक मनुष्य जो कहता है कि संसार विचारमात्र है, मिथ्या स्वप्न है, यह दिखाने के लिये कि जिस बात पर उसे विश्वास है, सत्य है, अपने कपड़े-लत्ते, धन-दौलत, सब त्याग देता है, इसी वीरता पर एक पुरुष जीवन को अमर जान नदी के किनारे शरीर को किसी क्षुद्र वस्तु की भाँति त्याग देना चाहता है, वैसे ही जैसे तुम किसी तृण का त्याग कर सकते हो। अपनी वीरता के कारण वे मृत्यु का एक सहोदर के समान सामना कर सकते

हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उनके लिये कोई मृत्यु नहीं है। इसी वीरता ने उन्हें शताब्दियों के विदेशी आक्रमणों और निर्द्वन्द अत्याचारों के सम्मुख अजेय रक्खा है। वह जाति आज भी जीवित है और उस जाति मे इस जघन्य दुर्दशा और विपत्ति के दिनो में भी आत्मिक उन्नति के प्रबल महारथी उत्पन्न हुए हैं। जैसे कि पाश्चात्य ने विज्ञान व राजनीति मे उद्भट विद्वान् उत्पन्न किये हैं, वैसे ही एशिया ने आत्मिक क्षेत्र में महान् पथ-प्रदर्शकों को जन्म दिया है। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में जब भारतीय विचार-धारा पर पाश्चात्य आदर्शो ने स्वाधिकार जमा लिया, जबकि विजेता वीर हाथ में सिरोही लिये ऋषियों की सन्तानों से कहने लगे कि तुम लोग बर्बर हो, अभी तक केवल स्वप्न देखते रहे हो, तुम्हारा धर्म दन्तकथाएँ मात्र हैं, आत्मा, परमात्मा आदि जो कुछ भी पाने की तुम सदियो से अभिलाषा कर रहे हो वह अर्थहीन शब्द भर हैं, तुम्हारे आत्मिक युद्ध के सहस्रों वर्ष, अपूर्व त्याग की अनन्त शताब्दियाँ सब व्यर्थ ही गईं, तब विद्यालयों क नवयुवकों में इस प्रश्न को लेकर खूब वाद-विवाद हुआ कि आज तक का हमारा जातीय जीवन क्या योंही नष्ट हो गया ! क्या वे अपनी धर्म-पुस्तकें फाड डालें ? अपने दर्शन जला डालें ? अपने उपदेशकों को मार भगावें ? अपने मन्दिरों को ढहा दें और एक वार पाश्चात्य आदर्श के अनुसार अपने जातीय जीवन का फिर आरंभ करें ?

पाश्चात्य विजेता ने, जो बन्दूक और तलवार लिए अपने धर्म

का प्रचार कर रहा था पुकारकर कहा, कि तुम्हारे पुराने ग्रन्थ अन्ध-विश्वास और पाषाण-पूजा भर हैं। नए स्कूलों में शिक्षा पाये हुए बच्चे, जिन्होंने बचपन से ही पाश्चात्य विचारों को ग्रहण किया था, अपने नवीन आदर्श पर कार्य करने लगे। आश्चर्य नहीं कि चारों ओर मानसिक अशान्ति उत्पन्न हुई। पर अन्ध-विश्वास छोड सत्य की सच्ची खोज करने के बजाय, सत्य की कसौटी यह हुई कि 'पाश्चात्य क्या कहता है?' ब्राह्मण पण्डितों को मार भगाओ, वेदों को जला दो, क्यों? इसलिये कि पाश्चात्य ने कहा है। इस मानसिक अशान्ति ने 'सुधार' की एक नई लहर पैदा कर दी।

पर यदि तुम सच्चे सुधारक होना चाहते हो, तो तीन बातों की आवश्यकता है। पहिली यह कि तुम्हें वास्तविक सहानुभूति होनी चाहिए। अपने भाइयों के दुख से क्या तुम सचमुच ही दुखी हो? तुम सत्य ही समझते हो कि संसार में दुःख, अज्ञान और अन्ध-विश्वास भरा हुआ है? क्या इस विचार ने तुम्हारे सारे मस्तिष्क पर अधिकार कर लिया है। तुम्हारी रक्त-विन्दुओं के संग क्या यह विचार भी तुम्हारी धमनियों में दौडता है? क्या तुम्हारा हृदय समवेदना से विकल हो चुका है, यदि ऐसा है, तो सीढ़ी का अभी यह पहला डंडा है। इसके अनन्तर तुम्हें सोचना चाहिए कि तुम्हारा कोई निश्चित पथ भी है या नहीं। पुराने विचार सब अन्ध-विश्वास ही क्यों न हों इन्हीं अन्ध-विश्वास की काली घटाओ

के भीतर सत्य और ज्ञान की स्वर्ण-ज्योति छिपी हुई है। क्या तुमने बादलों की कालिमा के उस पार उस पुण्य-प्रभा के दर्शन किये हैं? यदि यह सब किया है, तो यह अभी दूसरा डंडा है। अभी एक बात की और आवश्यकता है। तुम्हारा उद्देश्य क्या है? धन, वैभव अथवा प्रसिद्धि की अभिलाषा ने तो तुम्हें कार्य के लिए उत्साहित नहीं किया? क्या तुम्हें विश्वास है कि अपने आदर्श पर तुम सदा डटे रहोगे? सारा संसार तुम्हें पैरों की ठोकरें दे, तो भी तुम पीछे पग न हटाओगे? क्या तुम्हें अपना लक्ष्य साफ़ साफ दिखाई देता है? कर्तव्य-कर्म के लिए अपना जीवन तक उत्सर्ग करने के लिए क्या तुम तैयार हो? जब तक जीवन रहेगा, हृदय की एक भी धमनी में रक्त बहेगा, तब तक निरन्तर अपना कार्य ही करते जाओगे? ऐसा करने पर ही तुम सच्चे उपदेशक, सुधारक, पथ-प्रदर्शक तथा विश्व के सच्चे कल्याणकारी हो सकोगे। पर मनुष्य कितना बेसबरा, कितना अदूरदर्शी होता है! विलम्ब उसे असहनीय है। भविष्य को वह देख नहीं सकता। क्यों? इसलिए कि कर्म करके कर्मफल भी वह शीघ्र ही चाहता है। उसे दूसरों से निष्काम सहानुभूति नहीं है। 'कर्म केवल कर्म के लिए' उसका आदर्श नहीं है। कृष्णजी ने कहा था—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

तुम्हारा अधिकार कर्म करने का है, कर्मफल की चिन्ता क्यों करते हो? कर्म करो, कर्मफल को अपनी फ़िक्र आप करने

दो। पर मनुष्य में सहनशीलता तनिक भी नहीं है। नेता बनने का इच्छुक वह किसी भी पथ पर चल पड़ता है। संसार के सुधारक अधिकाश इसी श्रेणी के पुरुष होते हैं।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ इस सुधार-आन्दोलन का तब जन्म हुआ था जबकि भौतिकवाद की लहरें भारतीय किनारों से टकरा रहीं थीं और ऐसा मालूम होता था कि वे हमारे सभी आर्ष सिद्धान्तों और आदर्शों को बहा ले जावेंगी। पर इस देव-भूमि के तट पर ऐसी न जाने कितनी ही लहरें टक्कर मार चुकी थीं। उनके सामने यह तो बहुत हल्की थी। शताब्दियों तक अनेक लहरों ने आकर हमारे देश को आन्दोलित किया है तथा जो कुछ उनके सामने पड़ा है, उसे नष्ट कर डाला है, इस्लाम की तलवार यहाँ चमक चुकी है और दीन और अल्लाह की ध्वनि ने भारतीय आकाश को कम्पायमान कर दिया है फिर भी यह सब तूफ़ान शान्त हो गए हैं और हमारे जातीय आदर्श जैसे के वैसे बने रहे हैं।

हमारी भारतीय जाति का नाश हो नहीं सकता। आज भी वह अमर खड़ी है और तब तक इसी भाँति अटल और अमर खड़ी रहेगी जब तक कि भारतीय अपने आर्ष आदर्शों का त्याग न करेंगे, जब तक कि वे अपनी आत्मिकता को न छोड़ेंगे। भारतीय दीन, हीन, भिखारी होकर ही क्यों न रहें, दीनता और दारिद्र उन्हें कदाचित सदैव के लिए ही क्यों न घेरे रहें, पर वे अपने परमात्मा को न छोड़ेंगे, वे यह कभी न भूलेंगे कि वे

ऋषियो की सन्तान हैं। जैसे कि पश्चिम में निर्धन से निर्धन जन भी अपनी उत्पत्ति किसी तेरहवीं शताब्दी के डाकू सर्दार से ढूँढ निकालने में अपना गौरव समझता है, उसी प्रकार भारतीय सिंहासन पर बैठा हुआ एक चक्रवर्ती सम्राट् भी, किसी वनचारी भिक्षुक ऋषि का, जिसने वल्कल-वस्त्र पहन, कन्द मूल-फल खाकर, परमेश्वर के अनन्त सौन्दर्य के दर्शन किये हों, अपने आपको वंशज बताकर गौरव मानता है। ऐसे ही पुरुषों से उत्पत्ति ढूँढ निकालने में हमारा गौरव है और जब तक पवित्रता इस प्रकार पूजी जायगी, भारतवर्ष अमर रहेगा।

इसी समय जब भारतवर्ष में विविध प्रकार के सुधार आन्दोलन हो रहे थे, बंगाल के एक सुदूर गाँव में २० फेब्रुअरी सन् १८३५ ई० को एक निर्धन ब्राह्मण-दम्पति के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक के माता-पिता दोनों ही कट्टर ब्राह्मण थे। एक सच्चे कट्टर ब्राह्मण का जीवन वास्तव में त्याग का जीवन होता है। उसके लिए बहुत थोड़े पेशे हैं और केवल धन-दौलत उत्पन्न करने का तो वह कोई कार्य नहीं कर सकता। उसे फिर दूसरों का दान भी न लेना चाहिए। आप लोग सोच सकते हैं, उनका जीवन कितना कठोर होता होगा। आप लोगों ने ब्राह्मण जाति के विषय में अनेक बातें सुनी होंगी, पर कभी अपने हृदय में यह न सोचा होगा कि भला, ऐसी क्या बात है जिससे इस जाति ने अन्य जातियों पर इतना प्रभाव जमा रक्खा है। देश की सभी जातियों में यह जाति सबसे अधिक ग़रीब है। उनके प्रभाव का रहस्य है, उनका

त्याग। धन सम्पत्ति की वे कभी कामना नहीं करते। संसार के जितने धर्म-गुरु समुदाय हैं, भारतीय ब्राह्मण समाज उन सबसे ही अधिक निर्धन है, और इसी कारण उन सबसे अधिक शक्तिशाली भी है। ऐसी निर्धनता में भी एक ब्राह्मण स्त्री एक गरीब आदमी को बिना कुछ खाने को दिये हुए गाँव से न चला जाने देगी। भारतीय माता का यह श्रेष्ठ कर्तव्य माना जाता है। माता होने से अन्त में, सबको खिलाकर उसे स्वयं खाना चाहिए। इसलिये भारतवर्ष में माता की ईश्वर के समान उपासना की जाती है। वर्तमान शिशु की माता एक आदर्श माता थी। जितनी ही ऊँची जाति होती है, उतने ही विशेष नियम उसे पालन करने पड़ते हैं। नीची जातिवाले जो चाहें खा पी सकते हैं, पर जैसे ही सामाजिक श्रेणियों में ऊपर चढ़ो, रहन-सहन और खान-पान के नियम भी वैसे ही बढ़ते जाते हैं। और ब्राह्मण जाति में पहुँचकर जो कि सबसे ऊँची जाति है और भारतवासियों की गौ रूपी धर्म-गुरु है, नियम इतने अधिक हो जाते हैं कि जीवन बहुत ही संकुचित हो जाता है। पाश्चात्य खान पान और रहन-सहन को देखते हुए तो उनका जीवन घोर तपस्या है। पर उनमें बड़ी दृढ़ता होती है। कोई भी विचार हाथ आ जाने पर वे उसके अन्त तक ही पहुँच कर छोड़ते हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी वे उसी विचार को पकड़े रहते हैं, जब तक कि उसका सार नहीं निकाल लेते।

कट्टर हिन्दुओं का जीवन इस प्रकार बहुत ही एकान्त होता

है। उनके विचार, उनकी भावनाएँ उन्हीं की होती हैं। पुरानी पुस्तक में उनकी जीवनचर्या-प्रत्येक छोटी से छोटी बात को भी ध्यान रखकर वर्णित की गई है और उन्होने भी प्रत्येक नियम को वज्र-हाथों से पकड रक्खा है। भूखे मरना उन्हे स्वीकार है पर इतर जाति के पुरुष का बनाया भोजन कदापि ग्रहण न करेंगे। पर उनमें सच्ची लगन और अपार दृढ़ता रहती है। कट्टर हिन्दुओं का जीवन प्रगाढ विश्वास और अनुपम धर्माचरण का जीवन है। अपने प्रगाढ विश्वास के ही कारण तो वे कट्टर होते हैं। हम सब लोगों के लिए चाहे उनका पथ जिसका वे इस दृढता से अनुसरण करते हैं, ठीक न हो, पर उनके लिए तो है। हमारी धर्म-पुस्तकों में लिखा है कि मनुष्य को सीमा के बाहर भी दानी होना चाहिए। यदि एक जन दूसरे की प्राण-रक्षा के लिए स्वयम् भूखा रहकर अपने प्राण गँवाता है, तो वह ठीक करता है। यही नहीं, प्रत्युत उसे ऐसा आचरण करना भी चाहिए। ब्राह्मण से आशा की जाती है कि इस विचार को वह इस कठोर सीमा तक अनुसरण करे। जो भारतीय साहित्य से परिचित हैं, उन्हें महाभारत की एक सुन्दर कथा याद आवेगी जिसमें एक समूचे परिवार ने भूखे रहते हुए अपना अन्तिम परोसा हुआ भोजन एक भिखारी को देकर प्राण त्याग दिए। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं, क्योंकि ऐसी बातें अब भी होती हैं। मेरे गुरु के माता-पिता का चरित्र भी बहुत कुछ इसी प्रकार का था। वे बहुत ही निर्धन थे। फिर भी बहुधा एक ग़रीब आदमी

को भोजन देकर माता दिनभर स्वयं बिना अन्न के रहतीं। ऐसे माता-पिता के घर यह बालक जन्मा था और आरम्भ से वह एक अद्भुत बालक था। उसे अपना पिछला जीवन जन्म से ही याद था। जिस लिये वह संसार में आया था उसका भी उसे ध्यान था अपने ध्येय की पूर्ति के लिए उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। अभी वह बिल्कुल बच्चा ही था जबकि उसके पिता का स्वर्गवास हो गया। बच्चा पढ़ने के लिए पाठशाला में बिठाया गया। ब्राह्मण-पुत्र को पाठशाला अवश्य जाना चाहिए, क्योंकि जाति-नियमों के कारण वह केवल विद्या-सम्बन्धी कार्य कर सकता है। भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली जो आज भी वहाँ अनेक स्थानों में विशेषकर सन्यासियों में प्रचलित है, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से बिल्कुल भिन्न थी। विद्यार्थियों को कोई शुल्क न देना होता था। विद्या इतनी पवित्र समझी जाती थी कि धन लेकर उसका क्रय करना एक नितान्त गर्हित कार्य गिना जाता था। विद्या निःशुल्क, बिना किसी रोक-टोक के दी जानी चाहिए। शिक्षक विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा ही न देते थे, प्रत्युत बहुत से उन्हें अपने पास से भोजन-वस्त्र भी देते थे। इन शिक्षकों के पोषण के लिए कुछ धनी परिवार विवाह आदि के अवसर पर अथवा किसी मृतक की अन्त्यक्रिया आदि करने पर उन्हें समुचित धन देते थे। कुछ दान उनके बँधे हुए थे जिसके बदले उन्हें विद्यार्थियों का पालन करना होता था। इस बालक का बड़ा भाई बहुत विद्वान था। वह उसी के पास विद्याध्ययन के

लिए गया। थोड़े ही दिनों में इस बालक को विश्वास हो गया कि सांसारिक विद्याओं का लक्ष्य केवल भौतिक उन्नति की ओर ही है। इसलिये उसने अध्ययन छोड़ आत्मिक ज्ञान को खोजने का निश्चय किया। पिता की मृत्यु होने से यह परिवार और भी निर्धन हो गया था। बालक को अपनी जीविका आप उपार्जित करनी थी। कलकत्ते के पास एक जगह जाकर वह एक मन्दिर का पुजारी हो गया। ब्राह्मण के लिए पुजारी-कार्य बहुत निन्द्य समझा जाता है। हमारे मन्दिर आप लोगों के गिर्जाघरों की भाँति नहीं हैं। जनता वहाँ उपासना के लिए नहीं आती, क्योंकि भारतवर्ष में सार्वजनिक उपासना की प्रणाली नहीं है। धनी पुरुष केवल धार्मिक कार्य जानकर मन्दिर बनवाते हैं।

यदि किसी के पास अधिक धन-सम्पत्ति होती है, तो वह एक मन्दिर बनवाता है। उसमें ईश्वर के किसी अवतार की मूर्ति की वह स्थापना करता है। फिर ईश्वर के नाम पर पूजा के लिए उसे अर्पित कर देता है। उपासना बहुत कुछ आप लोगों के रोमन कैथलिक गिर्जाघरों की सी होती है यथा धार्मिक पुस्तकों में से कुछ वाक्य पढ़ना, मूर्ति की आरती करना, मूर्ति का सब प्रकार से आदर-सम्मान करना जैसे कि हम किसी महान पुरुष का करते हैं, मन्दिर में केवल यही होता है। जो मन्दिर में नित्य जाता है, वह न जाने वाले से कुछ बहुत अधिक धार्मिक नहीं माना जाता। वास्तव में न जानेवाला अधिक धार्मिक समझा जाता है, क्योंकि भारतवर्ष में धर्म प्रत्येक पुरुष का अपनी विशेष

को भोजन देकर माता दिनभर स्वयं विना अन्न के रहतीं। ऐसे माता-पिता के घर यह बालक जन्मा था और आरम्भ से वह एक अद्भुत बालक था। उसे अपना पिछला जीवन जन्म से ही याद था। जिस लिये वह संसार में आया था उसका भी उसे ध्यान था अपने ध्येय की पूर्ति के लिए उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। अभी वह बिल्कुल बच्चा ही था जबकि उसके पिता का स्वर्गवास हो गया। बच्चा पढने के लिए पाठशाला में बिठाया गया। ब्राह्मण-पुत्र को पाठशाला अवश्य जाना चाहिए, क्योंकि जाति-नियमों के कारण वह केवल विद्या-सम्बन्धी कार्य कर सकता है। भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली जो आज भी वहाँ अनेक स्थानों में विशेषकर सन्यासियों में प्रचलित है, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से बिल्कुल भिन्न थी। विद्यार्थियों को कोई शुल्क न देना होता था। विद्या इतनी पवित्र समझी जाती थी कि धन लेकर उसका क्रय करना एक नितान्त गर्हित कार्य गिना जाता था। विद्या निःशुल्क, बिना किसी रोक-टोक के दी जानी चाहिए। शिक्षक विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा ही न देते थे, प्रत्युत बहुत से उन्हें अपने पास से भोजन-वस्त्र भी देते थे। इन शिक्षकों के पोषण के लिए कुछ धनी परिवार विवाह आदि के अवसर पर अथवा किसी मृतक की अन्तक्रिया आदि करने पर उन्हें समुचित धन देते थे। कुछ दान उनके बँधे हुए थे जिसके बदले उन्हें विद्यार्थियों का पालन करना होता था। इस बालक का बड़ा भाई बहुत विद्वान् था। यह उसी के पास विद्याध्ययन में

लिए गया। थोड़े ही दिनों में इस बालक को विश्वास हो गया कि सासारिक विद्याओं का लक्ष्य केवल भौतिक उन्नति की ओर ही है। इसलिये उसने अध्ययन छोड आत्मिक ज्ञान को खोजने का निश्चय किया। पिता की मृत्यु होने से यह परिवार और भी निर्धन हो गया था। बालक को अपनी जीविका आप उपार्जित करनी थी। कलकत्ते के पास एक जगह जाकर वह एक मन्दिर का पुजारी हो गया। ब्राह्मण के लिए पुजारी-कार्य बहुत निन्द्य समझा जाता है। हमारे मन्दिर आप लोगों के गिर्जाघरों की भाँति नहीं हैं। जनता वहाँ उपासना के लिए नहीं आती, क्योंकि भारतवर्ष में सार्वजनिक उपासना की प्रणाली नहीं है। धनी पुरुष केवल धार्मिक कार्य जानकर मन्दिर बनवाते हैं।

यदि किसी के पास अधिक धन-सम्पत्ति होती है, तो वह एक मन्दिर बनवाता है। उसमें ईश्वर के किसी अवतार की मूर्ति की वह स्थापना करता है। फिर ईश्वर के नाम पर पूजा के लिए उसे अर्पित कर देता है। उपासना बहुत कुछ आप लोगों के रोमन कैथलिक गिर्जाघरों की सी होती है यथा धार्मिक पुस्तकों में से कुछ वाक्य पढना, मूर्ति की आरती करना, मूर्ति का सब प्रकार से आदर-सम्मान करना जैसे कि हम किसी महान पुरुष का करते हैं, मन्दिर में केवल यही होता है। जो मन्दिर में नित्य जाता है, वह न जाने वाले से कुछ बहुत अधिक धार्मिक नहीं माना जाता। वास्तव में न जानेवाला अधिक धार्मिक समझा जाता है, क्योंकि भारतवर्ष में धर्म प्रत्येक पुरुष का अपनी विशेष

कार्य है। वह अपनी उपासना स्वेच्छानुसार अपने घर भीतर बैठकर ही करता है। प्राचीन-काल से ही हमारे देश में पुजारी-वृत्ति निन्द्य समझी गई है। इसके पीछे एक विचार और छिपा है। पैसा लेकर विद्या देना जब निन्द्य समझा गया है तब धर्म के लिए पैसा लेना और व्यापार करना तो उससे कहीं अधिक जघन्य कार्य है। आप सोच सकते हैं कि उस बालक के हृदय पर क्या बीती होगी जब जीविका के लिए बाध्य हो उसे पुजारी-वृत्ति ग्रहण करनी पड़ी होगी।

बंगाल में ऐसे अनेक कवि हो गये हैं, जिनके गीतों ने साधारण जनता के हृदय को मोह लिया है। कलकत्ते की गलियों में और प्रत्येक गाँव में वे गीत गाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश धार्मिक गीत हैं। उनका मुख्य विषय जो कि सभी भारतीय धर्मों में समानरूप से पाया जाता है, ईश्वर की अनुभूत है। भारतवर्ष में कोई भी धार्मिक पुस्तक ऐसी नहीं है, जिसमें इसी विचार का प्रतिपादन न किया गया हो। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात् अनुभव होना चाहिए, उसे देखना चाहिए, उससे बातचीत करना चाहिए, यही धर्म है। भारत में अनेक महात्माओं की कथाएँ प्रसिद्ध हैं, जिन्हें ईश्वर ने दर्शन दिए हैं। ऐसे ही सिद्धान्तों पर भारतीयों का धर्म स्थिर है। उनकी धार्मिक पुस्तकें और ग्रन्थ ऐसे पुरुषों के लिखे हुए हैं जिन्हें आत्मिक विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव था। यह पुस्तकें मस्तिष्क के लिए नहीं लिखी गईं न किसनी ही तर्क बुद्धि उन्हें समझ ही सकती है, क्योंकि इन्हें उन

पुरुषों ने लिखा था जिनका अनुभव प्रत्यक्ष था। बिना उनकी समानता प्राप्त किए कोई उन्हें समझ नहीं सकता। वे कहते हैं कि इस जीवन में ही ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव सम्भव है और धर्म का आरम्भ इस प्रकार की अनुभव-क्रिया से ही होता है। सभी धर्मों का समानरूप से यह आन्तरिक सिद्धान्त है। इसी कारण एक जन जिसने वक्तृत्वकला में पूर्ण निपुणता प्राप्त की है तथा जिसकी तर्क-बुद्धि भी अत्यन्त प्रखर है, जब हमारे यहाँ बड़े लम्बे-चौड़े उपदेश देता है, तो भी कोई उसकी बात सुनने नहीं आता। इसके विरुद्ध एक निर्जन पुरुष को जो अपनी मातृ-भाषा भी कठिनता से बोल सकता है, आधा देश उसके जीवनकाल में ही उसे ईश्वर के समान पूजने लगता है। लोगों का किसी प्रकार विश्वास हो जाता है कि उसे प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है, धर्म उसके लिए तार्किक विवेचना का विषय-भर ही नहीं है, तथा वह धर्म, परमात्मा, आत्मा की अमरता आदि विषयों पर अँधेरे में ही नहीं टटोल रहा है। देश के कोने-कोने से आकर लोग उसके दर्शन करते हैं और धीरे-धीरे उसे ईश्वर का अवतार मान उनकी पूजा करने लग जाते हैं।

मन्दिर में अभयदायिनी माता की एक मूर्ति थी। यह बालक सन्ध्या, सवेरे उसकी पूजादि कार्य करवाता था। धीरे-धीरे उसके मन में यह प्रश्न बार-बार उठने लगा कि 'इस मूर्ति के पीछे क्या वास्तव में कुछ है? क्या यह सत्य है कि संसार में एक अभयदायिनी माता है? क्या वह चैतन्यरूप से रहती हुई संसार

कार्य है। वह अपनी उपासना स्वेच्छानुसार अपने घर भीतर बैठकर ही करता है। प्राचीन-काल से ही हमारे देश में पुजारी-वृत्ति निन्द्य समझी गई है। इसके पीछे एक विचार और छिपा है। पैसा लेकर विद्या देना जब निन्द्य समझा गया है तब धर्म के लिए पैसा लेना और व्यापार करना तो उससे कहीं अधिक जघन्य कार्य है। आप सोच सकते हैं कि उस बालक के हृदय पर क्या बीती होगी जब जीविका के लिए बाध्य हो उसे पुजारी-वृत्ति ग्रहण करनी पडी होगी।

बंगाल में ऐसे अनेक कवि हो गये हैं, जिनके गीतों ने साधारण जनता के हृदय को मोह लिया है। कलकत्ते की गलियों में और प्रत्येक गाँव में वे गीत गाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश धार्मिक गीत हैं। उनका मुख्य विषय जो कि सभी भारतीय धर्मों में समानरूप से पाया जाता है, ईश्वर की अनुभूति है। भारतवर्ष में कोई भी धार्मिक पुस्तक ऐसी नहीं है, जिसमें इसी विचार का प्रतिपादन न किया गया हो। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात् अनुभव होना चाहिए, उसे देखना चाहिए, उससे बातचीत करना चाहिए, यही धर्म है। भारत में अनेक महात्माओं की कथाएँ प्रसिद्ध हैं, जिन्हें ईश्वर ने दर्शन दिए हैं। ऐसे ही सिद्धान्तों पर भारतीयों का धर्म स्थिर है। उनकी धार्मिक पुस्तकें और ग्रन्थ ऐसे पुरुषों के लिखे हुए हैं जिन्हें आत्मिक विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव था। यह पुस्तकें मस्तिष्क के लिए नहीं लिखी गईं न किसी की तर्क-बुद्धि उन्हें समझ ही सकती है, क्योंकि इन्हें उन

पुरुषों ने लिखा था जिनका अनुभव प्रत्यक्ष था। बिना उनकी समानता प्राप्त किए कोई उन्हें समझ नहीं सकता। वे कहते हैं कि इस जीवन में ही ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव सम्भव है और धर्म का आरंभ इस प्रकार की अनुभव-क्रिया से ही होता है। सभी धर्मों का समानरूप से यह आन्तरिक सिद्धान्त है। इसी कारण एक जन जिसने वक्तृत्वकला में पूर्ण निपुणता प्राप्त की है तथा जिसकी तर्क-बुद्धि भी अत्यन्त प्रखर है, जब हमारे यहाँ बड़े लम्बे-चौड़े उपदेश देता है, तो भी कोई उसकी बात सुनने नहीं आता। इसके विरुद्ध एक निर्जन पुरुष को जो अपनी मातृ-भाषा भी कठिनता से बोल सकता है, आधा देश उसके जीवनकाल में ही उसे ईश्वर के समान पूजने लगता है। लोगों का किसी प्रकार विश्वास हो जाता है कि उसे प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है, धर्म उसके लिए तार्किक विवेचना का विषय-भर ही नहीं है, तथा वह धर्म, परमात्मा, आत्मा की अमरता आदि विषयों पर अँधेरे में ही नहीं टटोल रहा है। देश के कोने-कोने से आकर लोग उसके दर्शन करते हैं और धीरे-धीरे उसे ईश्वर का अवतार मान उनकी पूजा करने लग जाते हैं।

मन्दिर में अभयदायिनी माता की एक मूर्ति थी। यह बालक सन्ध्या, सबेरे उसकी पूजादि कार्य करवाता था। धीरे-धीरे उसके मन में यह प्रश्न बार-बार उठने लगा कि 'इस मूर्ति के पीछे क्या वास्तव में कुछ है? क्या यह सत्य है कि संसार में एक अभयदायिनी माता है? क्या वह चैतन्यरूप से रहती

की गति को निश्चित करती है ? अथवा यह सब स्वप्न है । धर्म में क्या कोई तथ्य है ?' इस प्रकार के तर्क-वितर्क का समय प्राय प्रत्येक हिन्दू बच्चे के लिये आता है। हमारे देश में संदेह करने का यह एक स्थायी विषय है कि जो हम कर रहे हैं, वह सच है या नहीं। कोरे तार्किक सिद्धान्तों से हमें सन्तोष नहीं होता। यद्यपि आत्मा-परमात्मा के विषय में जितने भी तर्क-सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, वहाँ विद्यमान हैं । तर्क और पुस्तकें लोगों को सन्तोष नहीं देतीं, क्योंकि सहस्रों पुरुषों के हृदय पर इसी प्रत्यक्ष ईश्वरानुभूति के विचार ने अधिकार जमा रक्खा है। क्या सत्य ही परमेश्वर कहीं है ? यदि है, तो क्या मैं उसे देख सकता हूँ ? क्या मैं सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता हूँ। पाश्चात्यों के लिये यह सब बहुत ही असंभव जँचेगा पर हम लोगों के लिए इससे अधिक सभव कुछ नहीं। इस सिद्धान्त के लिए मनुष्य अपना जीवन तक उत्सर्ग कर देंगे। इसी विचार के पीछे सहस्रों हिन्दू प्रतिवर्ष अपना घर-बार छोड़ देते हैं । और उनमें से बहुत से आगामी कठिनाईयों का सामना न कर सकने के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। पाश्चात्य देशीयों के लिए यह सब बहुत ही काल्पनिक जँचेगा और मैं उसका कारण भी समझता हूँ, पर पश्चिम में इतने वर्ष रहकर भी मैं समझता हूँ कि ऐसे विचार वाला जीवन ही वास्तविक जीवन है।

जीवन क्षण-स्थायी है, चाहे तुम गली में काम करनेवाले मजदूर हो, चाहे लाखों जनों के ऊपर राज्य करनेवाले सम्राट्

सम्राट हो, चाहे तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छे से अच्छा हो, चाहे बुरे से बुरा हो। हिन्दू कहता है कि जीवन की इस पहेली का केवल एक उत्तर है, परमात्मा और धर्म। यदि ये सत्य हों, तो जीवन सुखदायी रहने योग्य तथा सार्थक होता है, नहीं तो जीवन व्यर्थ का एक बोझ है। यह हमारा प्राच्य सिद्धान्त है, पर कोई भी तर्क उसे सिद्ध नहीं कर सकता। वह केवल उसे सभव कर सकता है इससे अधिक नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव इन्द्रियो द्वारा होता है। दूसरों को धर्म की सत्यता दिखाने के लिए हमें धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति होनी चाहिये। तत्पश्चात ईश्वर मे विश्वास करने के लिए हमें ईश्वर का साक्षात् अनुभव चाहिए। इसलिए हमारा अनुभव ही हमें इन वस्तुओ की सत्यता बता सकता है।

इसी विचार ने बालक के हृदय को अपने वश में कर लिया। अपने जीवन का प्रतिक्षण वह इसी विषय का चिन्तन करते हुए बिताता। दिन प्रतिदिन वह रो-रोकर कहता—'माता, तू सत्य ही कहीं है अथवा यह सब कोरी भावुकता है? तेरा अस्तित्व भूले हुए लोगों और कवियों की कल्पना-मात्र है या एक अखण्ड सत्य है? पुस्तकों की विद्या से वह अनभिज्ञ था तथा स्कूली शिक्षा उसे मिली न थी। इसलिए उसका मस्तिष्क और भी स्वस्थ, स्वाभाविक और ताजा था। दूसरों के विचारों को न जानने के कारण उसके अपने विचार और भी पवित्र थे। यह विचार प्रतिदिन उसके हृदय में ज़ोर पकडता गया यहाँ तक कि अन्त में उसे अन्य किसी बात की कुछ भी चिन्ता न होती।

पूजा वह भली-भाँति न करा पाता। छोटी छोटी बातों में भू
हो जाती। कभी वह मूर्ति का भोग लगाना भूल जावे, क
सारे दिन आरती ही उतारा करे तथा और सब बातें भू
जावे। अन्त में मन्दिर में पुजारी-कार्य करना उसके लि
असंभव हो गया। मन्दिर छोड उसने एक समीपवर्ती वन
प्रवेश किया और वहाँ रहने लगा। अपने जीवन के इस भाग
इतिहास उन्होंने मुझसे कई बार कहा है। बालक को सूर्य
उदय-अस्त का भी ज्ञान न होता, न यही ध्यान था कि मैं कि
प्रकार रह रहा हूँ। अपनी ओर से उसे पूर्ण विस्मृति हो ग
तथा उसे खाने पीने की भी सुधि न होती। इस समय प
दयालु सम्बन्धी उसकी प्रेम-पूर्वक देख-भाल करता तथा उस
मुँह म भोजन रख देता, जो वह चुपचाप स्वभाववश खा लेता

बालक के रात्रि दिन इसी प्रकार बीतने लगे। पूरा दिन बी
जाने पर सन्ध्या समय जब मन्दिर के घण्टों की मधुर ध्वनि
तथा उपासकों के गीत का मोहक शब्द वन-वृक्षों की शाखा
प्रशाखाओं को भेदकर बालक के कानों तक पहुँचता, त
वह बहुत दुखी होता और कातर होकर कहता—'माता एक दि
और भी व्यर्थ गया और तू न आई। मेरे इस लघु जीवन क
एक दिन बीत गया और मुझे सत्य के दर्शन न हुए।' कभी तो
बहुत ही कातर हो जमीन पर लोट-लोटकर वह खूब रोता।

सत्य ज्ञान के लिए मनुष्य-हृदय में उत्पन्न होनेवाली य
तीव्र पिपासा थी। इसी पुरुष ने मुझसे कहा था—मै

बचे, यदि एक कोठरी में एक स्वर्ण-मुद्राओं की थैली हो और बगल की कोठरी में एक डाकू सोता हो, तो क्या तुम समझते हो कि उसे नींद आवेगी ? कभी नहीं। वह यही सोचता रहेगा कि कैसे दूसरी कोठरी में जाऊँ और रक्खा हुआ धन प्राप्त करूँ। तब क्या तुम समझते हो कि जिसे यह दृढ विश्वास होगा कि इस माया-प्रकृति के पीछे एक अमर सत्य है, एक परमात्मा है, एक सच्चिदानन्द है, जिसके समक्ष हमारे सभी इन्द्रिय सुख फीके हैं, वह बिना उसे प्राप्त किये रह सकता है ? पल भर भी वह बिना प्रयत्न किये न रहेगा। लगन उसे पागल बना देगी। इसी दैवी पागलपन ने बालक को भी घेर लिया। इस समय उसका कोई गुरु न था, सब कहते कि उसका दिमाग़ फिर गया है पर कोई कुछ बात बतानेवाला न था। दुनिया में होता ही ऐसा है। यदि कोई सासारिक मिथ्या विभवों को त्याग देता है, तो लोग उसे पागल कहने लगते हैं, पर ससार का जीवन इन्हीं पागलों पर निर्भय होता है। इसी पागलपन में से उन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने हमारी इस दुनिया को हिला दिया है तथा इसी पागलपन से भावी की वह शक्तियाँ जन्मेंगी, जो ससार को फिर भी चकित कर देंगी। सत्य की प्राप्ति के लिए इसी प्रकार घोर आत्मिक युद्ध के दिन, सप्ताह और मास बीतने लगे। धीरे-धीरे बालक अद्‌भुत दृश्य देखने लगा। उसकी प्रकृति की छिपी हुई शक्तियाँ ऊपर आने लगीं। पर्दे के बाद पर्दा हटने लगा। माता स्वयं ही उसकी गुरू हुई और उसे वह गुप्त सत्य

बताया, जिसे वह खोज रहा था। इस समय वहाँ एक अत्यन्त सुन्दर रमणी आई, जो सुन्दरी होने के साथ ही एक बहुत बड़ी विदुषी थी। मेरे गुरू कहा करते थे कि वह विदुषी न थी, वरन विद्या की देवी थी। मानुषी स्वरूप में सरस्वती थी। हमारी भारतीय जाति की विचित्रता आपको यहाँ भी दिखाई देगी। साधारण स्त्रियों के अविद्यान्धकार में घिरे रहने पर भी, तथा जिसे आप लोग स्वतन्त्रता कहते हैं, उससे वञ्चित रहने पर भी, हमारे यहाँ आपको ऐसी आशातीत आत्मिक उन्नति करने वाली स्त्रियाँ मिल सकती हैं। वह एक सन्यासिनी थीं, क्योंकि स्त्रियाँ भी संसार त्याग, धन सम्पति छोड़ और अविवाहित रह-कर परमेश्वर की उपासना करती हैं। वह आई और उस बन-बालक की कहानी सुनकर उसके पास जाना निश्चय किया। इस रमणी से उसे पहली सहायता मिली। बालक के दुःख को उसने शीघ्र पहचान लिया और उससे कहा—'मेरे बच्चे, वह पुरुष धन्य है, जो इस प्रकार पागल हो जाता है। सारी दुनिया ही पागल है, कोई धन के लिए, कोई सुख के लिए, कोइ कीर्ति के लिए, कोई अन्य वस्तुओं के लिए। पर वह नर धन्य है, जो परमात्मा के लिए पागल होता है। ऐसे मनुष्य विरले ही होते हैं। यह रमणी उस बालक के समीप वर्षों तक रही, उसे सभी भारतीय धर्मों की शिक्षा दी, योगाभ्यास की सभी क्रियाएँ बताई, तात्पर्य यह कि बालक की विशाल शक्ति को आत्मिक उन्नति के उचित मार्ग पर लगा दिया।

बाद को उसी वन में भिक्षावृत्ति से रहनेवाला एक सन्यासी आया। वह बडा विद्वान् तथा सभी दर्शनों का ज्ञाता था। वह एक विचित्र आदर्शवादी था। वह कहता था कि ससार सत्य नहीं है और यह दिखाने के लिए कि वह कभी किसी घर में नहीं जाता। वर्षा, गर्मी सभी समय बाहर मैदान मे वह खुली हवा में ही रहता। वह बालक को वेदों का शिक्षा देने लगा और उसे शीघ्र मालूम हो गया कि कुछ बातों में उसका शिष्य गुरु से भी बढकर है। वह बालक के पास कई मास रहा, फिर उसे सन्यास-आश्रम में दीक्षित कर वहाँ से चला आया।

बालक के सम्बन्धियों ने सोचा था कि बालक का विवाह कर देने से उसका पागलपन दूर हो जायगा। भारतवर्ष में कभी कभी लडकों के माता-पिता बिना उनके पूछे ही उनका विवाह कर देते हैं। इस बालक की १८ वर्ष की आयु में एक ५ वर्ष की कन्या से शादी कर दी गई थी। वास्तव में ऐसा विवाह तो सगाई-मात्र होता हैं। सच्चा विवाह तो तब होता है, जब कन्या युवावस्था को प्राप्त होती हैं और जब वर जाकर उसे अपने घर लिवा लाता है, पर यह बालक तो अपनी स्त्री के विषय में सब कुछ ही भूल गया था। अपने सुदूर घर में उस बालिका ने सुना कि उसका पति सत्य और धर्म की खोज में लगा है तथा कोई-कोई उसे पागल भी समझते हैं। सच्ची बात जानने की इच्छा से वह पति के पास स्वय चल पडी। अन्त में जब वह अपने सन्यासी पति के सम्मुख आकर खडी हुई, तो तुरन्त उन्होंने

उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया। यद्यपि भारतवर्ष में कोई मनुष्य स्त्री हो वा पुरुष, धार्मिक जीवन व्यतीत करने पर इस प्रकार के सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। नवयुवक सन्यासी उसके चरणों पर गिर पड़ा और बोला—"मैंने प्रत्येक स्त्री को माता-मय देखना सीखा है, फिर भी मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत हूँ।"

बालिका की आत्मा पवित्र और उन्नत थी। वह अपने पति के हृदय की महत्ता को पहचान सकती थी तथा उसके विचारों से उसे सहानुभूति थी। उसने तुरन्त पति को समझा दिया कि वह उन्हें सासारिक माया-जाल में फिर नहीं फँसाना चाहती है। उसकी इच्छा केवल यह है कि वह उनके पास रहे, उनकी सेवा करे तथा उनसे शिक्षा ग्रहण करे। स्वामी के श्रेष्ठ भक्तों में से वह एक थी तथा उनकी वह देवता के समान पूजा करती। इस प्रकार अपनी स्त्री की स्वीकृति से अन्तिम बन्धन तोड़ यह अपना सन्यासी-जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र हो गए।

इसके अनन्तर अन्य धर्मों के तथ्य जानने की उन्हें प्रबल इच्छा हुई। अभी तक अपना धर्म छोड़ अन्य किसी धर्म से वे परिचित न थे। दूसरे धर्मों के रहस्य को भी वह जानना चाहते थे। इसलिए यह अन्य धर्मों के गुरुओं के पास गए। इस बात का आप लोग सदा ध्यान रखिये कि गुरु से हमारा तात्पर्य बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़नेवाले से नहीं है, वरन् उससे है, जिसे सत्य की स्वानुभूति हुई हो, जिसने सत्य को पुस्तकों द्वारा शताब्दियों बाद

न जाना हो। वह एक मुसलमान धर्मज्ञ के पास गए और रहने लगे। उसके बताए हुए नियमों के अनुसार वे आचरण करने लगे और उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भली-भाँति नियमो का पालन करने पर वह उसी लक्ष्य पर पहुँचे हैं, जहाँ कि स्वधर्म-मार्ग से वह पहिले ही पहुँच चुके थे। ईसामसीह के सच्चे धर्म का पालन करने पर भी उन्हें वैसा ही अनुभव हुआ। देश के अन्य उपधर्म, जहाँ तक उन्हें मिले, उनका भी सच्चे हृदय से उन्होंने पालन किया और प्रत्येक बार वह एक ही लक्ष्य पर आकर रुके। इस प्रकार अपने अनुभव से उन्होंने जाना कि प्रत्येक धर्म का लक्ष्य एक ही है, एक ही बात वे सब सिखाते हैं। अन्तर केवल क्रिया-विधि में है और उससे भी अधिक भाषा में। वास्तविक लक्ष्य सबका एक ही है।

फिर उन्हें यह विचार हुआ कि पूर्ण मनुष्य होने के लिए स्त्री-पुरुष का भेद-भाव नष्ट हो जाना चाहिए। आत्मा तो न स्त्री है न पुरुष। स्त्री पुरुष तो केवल हम शरीर से होते हैं। इसलिये जिसे सच्ची आत्मा की प्राप्ति करनी हो, उसे इस भेद को जी से निकाल देना चाहिए। पुरुष-शरीर पाने के कारण उन्होंने प्रत्येक वस्तु को नारी-मय देखना आरंभ किया। वह यह सोचने लगे कि हम स्त्री हैं, स्त्रियों के ही कपड़े पहनने लगे, स्त्री के समान ही बातचीत करने लगे तथा अपने कुटुम्ब की स्त्रियों में ही रहने लगे। अन्त में वर्षों के इस प्रकार के जीवन के पश्चात् स्त्री-पुरुष का भेदज्ञान उनके हृदय से बिल्कुल ही नष्ट हो गया।

मनुष्य-जीवन ने उनके लिये एक नया ही रूप धारण कर लिया।

हम पश्चिम में नारी-पूजा की बात बहुत सुनते हैं, पर यहाँ नारी केवल अपने यौवन और सुन्दरता के लिये ही पूजी जाती है। हमारे गुरू प्रत्येक नारी को अभयदायिनी माता ही मानकर पूजते, अन्य किसी कारण से नहीं। मैंने उन्हें उन स्त्रियों के चरणों पर गिरते देखा है, जिन्हें समाज छूना भी नहीं है तथा आँसू बहाते हुये यह कहते सुना है कि 'माता एक रूप में तू गली में घूमती है, दूसरे में तू ही समस्त सृष्टि है। माता, मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। नमस्कार करता हूँ।'

उस जीवन की सुन्दरता को सोचिये, जिसकी सारी सांसारिकता नष्ट हो गई है, जहाँ प्रति स्त्री का मुख बदलकर केवल अभयदायिनी, विश्व की कल्याणकारिणी, स्वर्गीय माता का ही दीप्त मुख दिखाई देता है। ऐसे मनुष्य ने सचमुच ही प्रति स्त्री के प्रति प्रेम और श्रद्धा करना सीखा है। इसीकी हमें आवश्यकता है। क्या तुम कहते हो कि नारी की पवित्रता कभी नष्ट भी हो सकती है? नहीं, नारी की पवित्रता कभी नष्ट नहीं हुई न होगी। स्वभाव से ही वह छल-कपट पहिचान लेती है तथा सत्य, ज्ञान और पवित्रता को हृदय से लगाती है। सच्चे आत्म ज्ञान के लिए इसी प्रकार की पवित्रता की नितान्त आवश्यकता है।

इसी प्रकार की कठोर और अटूट पवित्रता इस पुरुष के जीवन में भी आ गई। सभी जीवन-संग्रामों में यह विजय पा

चुका था। जिसकी कमाई के लिए जीवन के तीन चौथाई भाग को उन्होंने घोर परिश्रम करते हुए व्यतीत किया था, वही आत्म-ज्ञान का अमूल्य धन अब संसार को देने का समय आ गया था। उनके उपदेश और शिक्षा का ढङ्ग निराला ही था, क्योंकि वह कभी धर्म-गुरु का स्थान ग्रहण न करते। हमारे यहाँ धर्मोपदेशक ईश्वर के समान ही पूज्य समझा जाता है। माता-पिता के प्रति भी हम उतनी श्रद्धा-भक्ति नहीं दिखाते, माता-पिता हमें यह शरीर-मात्र ही देते हैं, पर गुरु तो हमारी आत्मा को मोक्ष-मार्ग बताता है। हम उसीकी सन्तान हो जाते हैं, वह हमें नव-जन्म देता है। सभी हिन्दू श्रेष्ठ धर्म गुरु का आदर करते हैं, चारों ओर से घेर कर उसकी पूजा करते हैं। यह एक ऐसे ही धर्मगुरु थे, पर उन्हें इसका तनिक भी ध्यान न था कि वे पूज्य हैं अथवा एक बड़े आत्म-ज्ञानी हैं। वह समझते थे कि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह माता ही मुझसे कहलवाती है। वह सदा यही कहते थे—"यदि कभी मैं कोई अच्छी बात कहता हूँ, तो वह माता ही कहता है। मेरा उसमें क्या है?" अपने कार्य के विषय में उनका सदा यही विचार रहा और मृत्यु-पर्य्यन्त उन्होंने उसे न छोड़ा। इस मनुष्य ने किसी के आगे हाथ न पसारे। उनका सिद्धान्त था कि पहिले पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करो, पहिले आत्म-ज्ञान जानो, फल तुम्हें इसका अपने आप मिलेगा। एक उपमा जो वह बहुत दिया करते थे, यह थी—'जब कमल खिलता है, तो मधु-मक्खियाँ मधु के लिये स्वयं आ जाती हैं। उसी प्रकार

तुम अपने चरित्र-कमल को विकसित होने दो, फल इसका तुम्हें अपने आप मिलेगा।" सीखने के लिये यह एक आवश्यक पर विकट पाठ है। मेरे गुरु ने मुझे सैकड़ों ही बार उसे मुझे पढ़ाया, फिर भी मैं उसे कभी-कभी भूल जाता हूँ। विचार की शक्ति को बहुत कम लोग जानते हैं। यदि एक मनुष्य किसी गहर गुफा में जा अपने आपको बन्दकर वास्तव में कोई महत् विचार सोचकर मर जाता है, तो वह विचार गुफा की प्रस्तर-प्राचीरों को भी भेदकर वायु की तरंगों पर चलकर मनुष्य-जाति के हृदय में समा जायगा। विचार की ऐसी ही महती शक्ति है। अपने विचार दूसरों को बताने के लिये शीघ्रता करने की कोई आवश्यकता नहीं। पहिले अपने भीतर कुछ विचार भी तो इकट्ठे कर लो। वही सिखा सकता है, जिसके पास कुछ सिखाने को है, क्योंकि धर्म सिखाना कोरी बातें बनाना नहीं है। धर्म दिया जाता है। जिस प्रकार मैं तुम्हें एक फूल दे सकता हूँ, उसी प्रकार आत्मज्ञान भी दिया जा सकता है। यह बिल्कुल ही सत्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। भारतवर्ष में यह विचार बहुत प्राचीन समय से है। पश्चिम में इसीसे मिलता-जुलता धर्म गुरुओं के उत्तराधिकार का विचार है अर्थात् उन रोमन कैथलिक धर्म-गुरुओं का सिद्धान्त जो अपने आप को ईसा-मसीह व बारह शिष्यों का क्रमानुसार शिष्य मानते हैं। इसलिये तुम्हारा पहिला श्रेष्ठ कर्तव्य अपना चरित्र बनाना है। सत्य को पहिले तुम स्वयम् जानो, फिर तुम्हें ऐसे बहुत मिलेंगे, जिन्हें तुम उसे सिखा

सकोगे। व सब स्वयं ही तुम्हारे पास आवेंगे। मेरे गुरू का यही आदर्श था। वे किसी के भी दोप न निकालते थे।

वर्षों मैं उस पुरुप के साथ रहा, पर कभी भी मैंने उसे किसी भी धर्म के लिए एक भी निन्दा-वाक्य कहते नहीं सुना। सबके लिये उनके हृदय में समान सहानुभूति थी। उनकी पारस्परिक समानता को उन्होंने पहिचान लिया था। कोई ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म-मार्ग का अनुसरण करे, चाहे रहस्यवादी हो, और ससार के मत-मतान्तर इन्ही में से एक वा अधिक मत का प्रतिपादन करते हैं, फिर भी यह मत्र एक हो सकते हैं और भावी समार यही करने भी जा रहा है। यही विचार उनका भी था। वह किसी की निन्दा न करते, वरन् सभी की अच्छाइयों को देखत।

सहस्रों की सख्या मे लोग इस अद्भुत पुरुष को एक ग्राम्य भाषा में व्याख्यान देते हुए सुनने के लिए आते। उनके भाषण का प्रति शब्द ज्ञान और जोश से भरा रहता। व्याख्याता का व्यक्तित्व ही, जो कुछ भी वह कहता है, उसे न्यूनाधिक प्रभावशाली बनाता है, कहा चाहे जो जावे और उससे भी अधिक भाषा चाहे जौन ही हो, हमारा सब का ही ऐसा अनुभव होगा। हम लोग बहुत सुन्दर व्याख्यान, तर्क से भरे हुए अद्भुत व्याख्यान सुनते हैं, पर घर जाकर सब भूल जाते हैं। इसके विरुद्ध कभी-कभी सरल से सरल भाषा में हम -दो वाक्य सुन लेते हैं, जो जीवन-यात्रा में सदा हमारे सग रहते हैं और हमसे

ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि उनका प्रभाव चिरस्थायी होता है। जो मनुष्य अपने व्यक्तित्व को शब्दों में रख सकता है, उसका भाषण अवश्य प्रभावशाली होगा, पर उसका व्यक्तित्व भी महान् होना चाहिए। सभी शिक्षा लेना और देना है, गुरु देता, शिष्य लेता है, पर इसके पहिले गुरु के पास कुछ देने को भी चाहिए और शिष्य को खुले हृदय से लेने के लिए तैयार रहना चाहिए।

भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ता, जहाँ कि हमारे देश का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय है, जो कि प्रति वर्ष अपने यहाँ से सैकड़ों की संख्या में सन्देहवादी और भौतिकवादियों को जन्म दे रहा था, उसी कलकत्ते के समीप वह रहने लगे। देश के नाना विद्यालयों से लोग आ-आकर उनका भाषण सुनते थे। मैंने भी इनकी चर्चा सुनी और उनका व्याख्यान सुनने गया। वह एक सामान्य पुरुष लगते थे, कोई भी विशेषता मुझे न दिखी। वह बहुत ही सरल भाषा का प्रयोग करते। मैंने सोचा, क्या यह भी कोई बड़ा धर्मोपदेशक हो सकता है ? मैं उनके पास सरककर पहुँचा और वही प्रश्न जो मैंने जीवन भर औरों से पूछा था, उनसे भी पूछा—'क्या आपको ईश्वर में विश्वास है ?' उन्होंने उत्तर दिया—'हाँ।' 'क्या आप उसे सिद्ध कर सकते हैं ?' मैंने फिर पूछा। उत्तर मिला—'हाँ।' मैंने पूछा—'कैसे।' "क्योंकि मैं ईश्वर को वैसे ही देख रहा हूँ जैसे तुम्हें, केवल तुम्हारे देखने से उसका देखना अधिक गूढ़ है।" इस उत्तर से मैं तुरन्त ही प्रभावित हो उठा। पहिली ही बार मुझे [illegible]

जो कह सकता था कि मैंने परमेश्वर को देखा है, तथा धर्म एक दृढ सत्य है, जो जाना जा सकता है, सासारिक वस्तुओं के समान और उनसे भी अधिक उसका भी अनुभव किया जा सकता है। मैं दिन प्रति दिन उस पुरुष के और निकट आता गया और अन्त में मैंने देखा कि धर्म दिया जा सकता है। एक स्पर्श, एक दृष्टिपात एक जीवन को बदल सकती है। मैंने बुद्ध, ईसा और मुहम्मद तथा उन प्राचीन धर्म-प्रवर्तकों का हाल पढा था, जो कि खड़े हुए पुरुष से कहते—'तू सपूर्ण हो जा' और वह हो जाता था। अब मैंने उसकी सत्यता को जाना और जब इस पुरुष को देखा, तो सारा सन्देह आपसे आप लुप्त हो गया। वैसा किया जा सकता था और उनका कहना था कि धर्म ससार की अन्य किसी वस्तु से अधिक सुचारु रूप से दिया लिया जा सकता है। इसलिये पहिले आत्मज्ञान प्राप्त करो। कुछ देने के लिये अपने पास कर लो और फिर संसार के सम्मुख खड़े होकर उसे दे डालो। धर्म कोरी गप्पें हाँकना नहीं है, न थोथे सिद्धान्त, तर्क वा साम्प्रदायिकता ही है। धर्म सभा और साम्प्रदायों मे नहीं रह सकता। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध धर्म है, एक सभा में वह कहाँ से आवेगा ? धर्म का तब तो व्यापार होने लगेगा और जहाँ भी व्यापार अथवा व्यापार के सिद्धान्त धर्म में लगाये जाते हैं, वहीं आत्मज्ञान नष्ट हो जाता है। मन्दिर और गिर्जे बनवाने में धर्म नहीं है, न सार्वजनिक उपासना में सम्मिलित होने का ही नाम धर्म है। न सभाओ में, न व्याख्यानों

में, न पुस्तकों में, न शब्दों में—धर्म यहाँ कहीं नहीं है। धर्म आत्म-ज्ञान की अनुभूति में है। सत्य तो यह है कि हम सभी जानते हैं कि जब तक हमें स्वयं सत्य का अनुभव न होगा तब तक हमें उस पर विश्वास न होगा। चाहे जितना हम वाद विवाद करें, चाहे जितने व्याख्यान सुनें, पर इनसे हमें कभी सन्तोष न मिलेगा, जब तक कि हमें स्वानुभव न होगा। उसी से हमारा सन्तोष होगा और इस प्रकार का अनुभव यदि हम स्वयं प्रयत्न करें, तो हम सबके लिये संभव है। धर्म के अनुभव के लिये पहला आदर्श त्याग का है। जहाँ तक हो सके, हमें त्याग करना चाहिये। अन्धकार और प्रकाश, सांसारिक सुख और आत्मिक आनन्द, यह दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। "खुदा और शैतान की सेवा एक साथ ही तुम नहीं कर सकते।"

दूसरी बात इससे भी अधिक महत्त्व की है, जो मैंने अपने गुरू से सीखी है। वह यह सुन्दर सत्य है कि संसार के धर्म एक दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं, न उनमें विशेष अन्तर ही है। एक अमर सनातन धर्म के ही ये विविध निदर्शन हैं। एक सनातन धर्म अनन्तकाल से रहा है और रहेगा। विविध देशों में यही धर्म विविध रूप धारण करता है। इसलिए हमें सब धर्मों का सम्मान करना चाहिए और जहाँ तक हो सके, इन सभी का पालन करना चाहिए। जाति-गुणों तथा भौगोलिक दशा से ही नहीं, धर्म-प्रवर्तक की व्यक्तिगत शक्तियों के अनुसार भी प्रत्येक धर्म का रूप निश्चित होता है। एक मनुष्य में धर्म निरन्तर क्रिया

शीनता, कर्म के रूप में प्रकट होता है। दूसरे में अनन्य भक्ति तीसरे म रहस्यवाद, चौथे में दार्शनिकता—इसी प्रकार सब में धर्म का अलग-अलग रूप होता है। यह सरासर ग़लत है, जब हम दूसरों से कहते हैं—तुम्हारा मार्ग ठीक नहीं हैं। हमें इस रहस्य को खूब समझ लेना चाहिए कि एक सत्य के नाना रूप हो सकते हैं, अलग-अलग स्थानों से देखने से एकही सत्य तरह-तरह का दिखाई पड़ता है। इसे समझ लेने पर हमें किसी भी धर्म से द्वेष न रहेगा, सभी से प्रत्युत् सहानुभूति होगी। यह जान कर कि ससार में सबकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है, और एकही धर्म के लिए उनका आचरण भिन्न-भिन्न होगा, हमें एक दूसरे से द्वेष त्याग दना चाहिए। जैसे प्रकृति के अनेक रूप होते हुए भी वह एक है, उसके क्षणभंगुर सहस्रों-सहस्र पार्थिव रूपों के पीछे एक अनन्त स्थायी और अनादि प्रकृति हैं, वैसेही मनुष्य भी है। एक छोटा सा अणु भी इस भारी ब्रह्माण्ड का एक बहुत ही लघु अंश है। इन सब नाना रूपों के होते हुए भी उन सबकी ही एक अनन्त आत्मा है। इस बात को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आज उस बात को समझने की सबसे अधिक आवश्यकता है। हमारा देश तो अनन्त धर्म-उपधर्मों का घर है। सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से जिस किसी के दिमाग़ में भी एक धार्मिक विचार उत्पन्न हुआ, वह अपने मत का झण्डा सबसे ऊँचा फहराना चाहता है। बचपन से ही ससार क धर्म-उपधर्मों को मैंने जान रक्खा है। मॉर्मन लोग तक भारत में धर्म-प्रचार

के लिए आए थे। मैं कहता हूँ, भारत उन सबकी आवभगत करे। भारतभूमि ही तो धर्म-प्रचार के लिए अच्छी भूमि है और सब कहीं से वहाँ धर्म की जड़ अधिक जमती है। यदि भारत में तुम राजनीति सिखाने आओगे, तो हिन्दू उसे समझेंगे नहीं, पर यदि तुम धर्म का प्रचार करोगे, तो वह चाहे जितना विचित्र हो, तुम्हारे थोड़े ही समय में सहस्रों अनुयायी हो जावेंगे। बहुत संभव है कि अपने जीवन में ही तुम देवता के समान पूजे जाओ। मुझे यह देखकर हर्ष होता है, कि भारतवर्ष में इसीकी आवश्यकता है। हिन्दुओं के मत-मतान्तर सहस्रों हैं और बहुधा एक-दूसरे के अत्यन्त विरुद्ध होते हैं, फिर भी पूछोगे तो वे यही कहेंगे कि सभी मत और उपधर्म एक प्रधान धर्म के नाना रूप हैं। "जिस प्रकार नाना नदियाँ भिन्न भिन्न पर्वतों से निकल, कोई टेढ़ी, कोई सीधी बहती हुई सभी समुद्र के जल में मिल जाती हैं, उसी प्रकार सभी मत-मतान्तर अपने-अपने निराले मार्गों से अन्त में, हे ईश्वर! मुझे ही प्राप्त होते हैं।" यह कोरा सिद्धान्त नहीं, पर इसे एक दृढ़ सत्य जानना चाहिए। पर उन लोगों की भाँति नहीं, जो बड़ी उदारता दिखाते हुए कहते हैं—"हाँ, हाँ, और धर्मों में भी कोई-कोई बातें बहुत अच्छी हैं।" (कोई कोई तो इतने उदार होते हैं कि सोचते हैं कि धार्मिक उन्नति होते हुए और धर्म बने हैं। अब धार्मिक उन्नति हमारे धर्म में आकर समाप्त हुई है, अब हमारा धर्म तो पूर्ण है, अन्य अधूरे हैं।) एक महाशय कहते

हैं कि हमारा धर्म सबसे पुराना है, इसलिए सबसे अच्छा है। दूसरे महाशय कहते हैं, हमारा धर्म सबसे बाद का है, इसलिए और भी अच्छा है। हमें जनना यह चाहिए, सभी धर्म मनुष्य को मुक्ति दे सकते हैं। तुमने मन्दिर और गिर्जो मे जो भेद-भाव की बात सुनी है, वह सब मिथ्या प्रपञ्च है। सबका रक्षक वही एक परमात्मा है और न तुम, न मैं, न अन्य कोई आत्मा को रत्ती भर भी मुक्ति दे सकता है। मुक्तिदाता वही एक ईश्वर है। मैं नहीं समझता कि कैसे लोग अपने को आस्तिक कहते हुए समझते हैं कि परमात्मा ने सारा सत्य-ज्ञान मुट्ठी भर मनुष्यों को सौंपकर उन्हीं को ससार की मुक्ति का ठेका दे दिया है। किसी भी मनुष्य के विश्वास में दखल न दो। यदि तुम्हारे पास कुछ अधिक सुन्दर दने को है, यदि जहाँ एक मनुष्य खडा है वहाँ से ढकेलकर उसे तुम और ऊपर ले जा सकते हो, तो वैसा करो; नहीं तो जो उसके पास है, उसे भी नष्ट न करो। सच्चा गुरु वही है, जो एक पल में मानो अपने सहस्रों रूप रख सकता है। सच्चा गुरु वही है, जो शिष्य के सग शिष्य बन सकता है, उसके शरीर में पैठ उसकी ही आखो से देख सकता है, उसके ही कानों से सुन सकता है ,तथा उसके मस्तिष्क से विचार सकता है। ऐसा ही गुरु धर्म सिखा सकता है, अन्य नहीं। जितने खण्डन करने वाले, और दूसरे के धर्म को थोथा बताने वाले धर्म गुरु हैं, उनसे ससार का कोई भला नहीं हो सकता।

अपने गुरू को देखकर मैंने समझा कि इस जीवन में भी----

मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है। उस मुखारविन्द ने कभी किसी के लिए कोई निन्दा-वाक्य नहीं कहा, न किसी के दोष ही निकाले। वे आँखें बुराई देख ही न सकतीं थीं, उस मस्तिष्क के लिए बुराई की कल्पना करना भी असंभव था। अच्छाई छोड़ वह कुछ न देख सकते थे। यह अपार पवित्रता, यह अन्यतम त्याग आत्म-ज्ञान पाने के दो रहस्य-मय मार्ग हैं। वह कहते हैं— "न तो धन-सम्पत्ति से, न सन्तान-उत्पत्ति से, केवल त्याग से ही तुम अमरत्व प्राप्त कर सकते हो।" ईसा ने भी ऐसा ही कहा है "जो कुछ तुम्हारे पास हो, उसे बेचकर गरीबों को दे दो और फिर मेरे अनुयायी हो।"

यही बात बड़े-बड़े धर्म-प्रवर्तकों और सन्तों ... और इसी के अनुसार उन्होंने जीवन भर आचरण ... त्याग के आत्मज्ञान कैसे मि[illegible] ... का मूल तत्त्व यह त्याग है और ... कम होगा, इन्द्रिय-सुख ... आत्मा भी उतना ही कम होगा। हमारे देश में जो सन्यासी हो ... का त्यागना आवश्यक है, मेरे ... स्वीकार किया।

ऐसे सैकड़ों थे, जिन्हें ... मारा, जो महलों को ठुकरा ... निवास कर ... पर एक ही ...

त्याग करना कोई उनसे सीख सकता था, धन-वैभव की इच्छा, और इन्द्रिय सुख पर उन्होंने पूर्ण विजय पाई थी। इन दिनों में ऐसे त्याग की आवश्यकता है, जब मनुष्य समझने लगे हैं कि वे अपनी "ज़रूरियातों" के बिना रह ही नहीं सकते और जब वे दिन-प्रतिदिन प्रबल वेग से बढ़ती जा रही हैं। आज आवश्यकता है ऐसे पुरुष की जो संसार के इन अविश्वासियों के सन्मुख खड़ा होकर उनसे कहे—देखो, मैं तुम्हारे धन, वैभव, कीर्ति और गौरव की तृण भर भी पर्वाह नहीं करता। और संसार में ऐसे पुरुष अभी हैं।

मेरे गुरू के जीवन का पहला भाग आत्मज्ञान एकत्रित करने में लगा था, शेष भाग उसे वितरण करने में। झुण्ड के झुण्ड मनुष्य उनकी बातें सुनने आते और चौबीस घण्टों में वह बीस घण्टे निरन्तर बातें ही किया करते और यह भी एक दिन के लिए नहीं वरन् महीनों तक यही क्रम जारी रहा। यहाँ तक कि इस अपार परिश्रम के कारण उनके शरीर ने जवाब दे दिया। सहस्रों में छोटे से छोटे ने भी यदि उनकी सहायता चाही, तो मनुष्य-जाति के लिए अपने असीम प्रेम के कारण उन्होंने उसे सहायता देना अस्वीकार नहीं किया। धीरे-धीरे उनके गले में एक प्राण-घातक रोग उत्पन्न हो गया, फिर भी उन्होंने अपने परिश्रम में कमी न की। जैसे ही वह सुनें कि मनुष्य उन्हें देखने के लिए खड़े हैं, वह उन्हें अन्दर आने देने के लिये हठ करते तथा उनके सभी प्रश्नों का उत्तर देते। एक बार एक पुरुष ने

उनसे पूछा—'महाराज, आप एक बड़े भारी योगी हैं, फिर शरीर की ओर तनिक ध्यान देकर आप अपने रोग को अच्छा क्यों नहीं कर लेते?" पहिले उन्होंने कोई उत्तर न दिया, पर प्रश्न के दुहराये जाने पर वह बड़ी शीलता से बोले 'मेरे मित्र, मैं समझता था कि तुम ज्ञानी होगे, पर तुम भी सांसारिक मनुष्यों की सी बातें करते हो। यह मन तो ईश्वर का हो चुका। क्या तुम कहते हो कि मैं उसे वापस ले लूँ, इस शरीर के लिए जो कि आत्मा का पिंजड़ा-मात्र है?"

इसी प्रकार वह धर्मोपदेश करते रहे। अन्त में चारों तरफ यह खबर फैल गई कि अब वह शरीर-त्याग करने वाले हैं, जिसका फल यह हुआ कि मनुष्य और भी अधिक संख्याओं में उनके पास आने लगे। आप लोग इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि भारतवर्ष में लोग किस प्रकार इन धर्म-गुरुओं के पास आते हैं, तथा उन्हें चारों ओर से घेरकर जीवित ही देवता बना देते हैं। सहस्रों उनके वस्त्र के छोर को छूकर ही अपने आपको धन्य मानते हैं। दूसरों के आत्मभाव का इस प्रकार सम्मान करने से ही आत्मज्ञान बढ़ता है। जिस वस्तु को जिसे चाहता है, वह यदि उसका सम्मान करता है, तो वह उसे अवश्य मिलेगी। यही बात जातियों के लिये भी सत्य है। यदि भारतवर्ष में तुम कोई राजनैतिक व्याख्यान देने जाओ, वा कितना ही सुन्दर वह क्यों न हो, तुम्हें कठिनता से थोड़े से सुननेवाले मिलेंगे। पर जाकर तनिक धर्मोपदेश करो, श्रोता उमड़ेंगे ही

नहीं, सच्चा धर्माचरण भी करो, तो देखो सैकड़ों लोग तुम्हारे पैर छूने के लिये तुम्हें चारो ओर से घेर लेंगे। जब लोगों ने सुना कि यह पवित्रात्मा उनके बीच से चली जानेवाली है, तो वे और भी अधिकाधिक उनके पास आने लगे। मेरे गुरु अपने स्वास्थ्य का तनिक भी ध्यान न रखते हुए उन्हे लगातार उपदेश देते रहे। हम लोग इसे बन्द न कर सके। बहुत से लोग बड़ी दूर-दूर से आते और जब तक उनके प्रश्नों का वह उत्तर न दे लेते, शान्ति से न बैठते। वह कहते—जब तक मुझ में बोलने की शक्ति है, मैं उन्हें अवश्य उपदेश दूँगा, और इसी के अनुसार वह कार्य भी करते थे। एक दिन उन्होंने हम लोगों से कहा कि आज हम यह शरीर त्याग देंगे, फिर समाधि लगाकर वेदों के पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उन्होंने इस लोक से प्रस्थान किया।

उनके विचार और उनका सन्देश ऐसे बहुत कम लोगों को मालूम था, जिनमे उनके प्रचार करने की योग्यता थी। अन्य लोगों में उनके अनुयायी कुछ नवयुवक भी थे, जिन्होंने ससार त्याग दिया था तथा जो उनके कार्य को आगे करने के लिये तैयार थे। उन्हें नष्ट करने की चेष्टाएँ भी की गईं, पर उस महान् जीवन के आदर्श से उत्साहित हो वे दृढ़ता-पूर्वक स्थिर रहे। उस महान् पुरुष से संसर्ग होने के कारण उन्होंने मैदान न छोड़ा। ये लोग सन्यासी थे। कलकत्ते की ही गलियों में जहाँ वे पैदा हुए थे, वे भिक्षा-वृत्ति करते, यद्यपि उनमें से कई बड़े धनी घरानों के थे। पहिले उन्हें बड़े विरोध का सामना करना पड़ा,

पर धीरे-धीरे धैर्य के साथ दिन प्रति दिन वे समस्त भारत में अपने गुरु के सन्देश का प्रचार करते रहे। यहाँ तक कि सारा देश उनके प्रचार किये हुए विचारों से भर गया। बंगाल के एक सुदूर गाँव के इस पुरुष ने बिना कोई शिक्षा पाये अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति के ही बल पर सत्य का अनुभव किया तथा दूसरों को उसे बताया और अन्त में उसका प्रचार करने के लिए थोड़े से नवयुवकों को ही छोड़ गया।

आज श्रीरामकृष्ण परमहंस का नाम भारतवर्ष और उसके कोटि-कोटि पुरुषों में प्रसिद्ध है। यही नहीं, उस पुरुष की शक्ति हमारे देश की सीमा को भी लाँघ चुकी है और यदि संसार में कहीं भी सत्य और आत्मज्ञान का एक भी शब्द मैंने कहा है, तो मैं उसके लिए अपने गुरु का ही आभारी हूँ। जो भूल हुई है व मेरी है।

वर्तमान संसार के लिये स्वामी रामकृष्ण का यह सन्देश है— "सिद्धान्त, प्राचीन अन्धविचार, मतमतान्तर, गिर्जे, मन्दिर— किसी की भी चिन्ता न करो। मनुष्य-जीवन का सार जो आत्मज्ञान है, उसके समक्ष उनका कुछ भी महत्व नहीं। मनुष्य में जितना ही आत्मज्ञान बढ़ेगा उतना ही संसार का वह अधिक उपकार करेगा। उसी का उपाय करो, पहिले उसे प्राप्त करो और किसी धर्म में दोष न निकालो, क्योंकि सभी धर्म और मतों में कुछ न कुछ अच्छाई अवश्य होती है। अपने जीवन के आचरण से यह बता दो कि धर्म का अर्थ शब्द-समूह नहीं, न नाम मात्र न सम्प्रदाय है, धर्म का अर्थ मात्र आत्मदर्शन है। जिन्होंने इस

प्राप्त किया है, वे ही धर्म के रहस्य को समझ सकते हैं। जिन्हें आत्मज्ञान मिल चुका है वही उसे दूसरों को भी दे सकते हैं तथा मनुष्य-जाति के सच्चे शिक्षक हो सकते हैं। प्रकाश की वे ही सच्ची शक्तियाँ हैं।"

जितने ही इस प्रकार के पुरुष एक देश में उत्पन्न होंगे, वह देश उतनी ही उन्नति करेगा। जिस देश में ऐसे पुरुष बिल्कुल ही नहीं हैं, उस देश का विनाश निश्चित है। कोई भी उसकी रक्षा न कर सकेगा। इसीलिये मनुष्य जाति के लिये मेरे गुरु का सन्देश है—आत्मज्ञानी बनो और सत्य का स्वयं अनुभव करो। अपने भाइयों के लिये त्याग करो। उनके लिये प्रेम की लम्बी-चौड़ी बातें करना छोड़ जो कहते हो, उसे कर दिखाना सीखो। त्याग और सत्यज्ञान की अनुभूति का समय आ गया है। संसार के धर्मों की सभ्यता तभी दिखाई देगी। तुम्हें ज्ञात होगा कि किसी से द्वेष करने की कोई आवश्यकता नहीं और तभी तुम मनुष्य जाति की सच्ची सेवा कर सकोगे। सभी धर्मों की आन्तरिक एकता को साफ़-साफ़ समझना ही मेरे गुरु का उद्देश्य था। अन्य धर्म-गुरुओं ने अपने नाम से विशेष धर्म चलाये हैं, पर उन्नीसवीं शताब्दी के इस महान् पुरुष ने अपने लिए किसी बात की आकांक्षा न की। उन्होंने किसी भी धर्म में दखल न दिया, क्योंकि वह जान चुके थे कि सभी धर्म एक अमर सनातन धर्म के विभिन्न रूप हैं।

पर धीरे-धीरे धैर्य के साथ दिन प्रति दिन वे समस्त भारत में अपने गुरु के सन्देश का प्रचार करते रहे। यहाँ तक कि सारा देश उनके प्रचार किये हुए विचारों से भर गया। बगाल के एक सुदूर गाँव के इस पुरुष ने विना कोई शिक्षा पाये अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति के ही बल पर सत्य का अनुभव किया तथा दूसरों को उसे बताया और अन्त में उसका प्रचार करने के लिये थोड़े से नवयुवकों को ही छोड गया।

आज श्रीरामकृष्ण परमहंस का नाम भारतवर्ष और उसके कोटि-कोटि पुरुषों में प्रसिद्ध है। यही नहीं, उस पुरुष की शक्ति हमारे देश की सीमा को भी लाँघ चुकी है और यदि ससार में कहीं भी सत्य और आत्मज्ञान का एक भी शब्द मैंने कहा है, तो मैं उसके लिए अपने गुरु का ही आभारी हूँ। जो भूल हुई हैं वे मेरी हैं।

वर्तमान ससार के लिये स्वामी रामकृष्ण का यह सन्देश है— "सिद्धान्त, प्राचीन अन्धविचार, मतमतान्तर, गिर्जे, मन्दिर— किसी की भी चिन्ता न करो। मनुष्य-जीवन का सार जो आत्मज्ञान है, उसके समक्ष उनका कुछ भी महत्व नहीं। मनुष्य में जितना ही आत्मज्ञान बढ़ेगा उतना ही ससार का वह अधिक उपकार करेगा। उसी का सञ्चय करो, पहिले उसे प्राप्त करो और किसी धर्म में दोष न निकालो, क्योंकि सभी धर्म और मतों में कुछ न कुछ अच्छाई अवश्य होती है। अपने जीवन के आचरण से यह बता दो कि धर्म का अर्थ शब्द-समूह नहीं, न केवल नाम न सम्प्रदाय है, धर्म का अर्थ सच्चा आत्मज्ञान है। जिन्होंने इसे

प्राप्त किया है, वे ही धर्म के रहस्य को समझ सकते हैं। जिन्हें आत्मज्ञान मिल चुका है वही उसे दूसरों को भी दे सकते हैं तथा मनुष्य-जाति के सच्चे शिक्षक हो सकते हैं। प्रकाश की ये ही सच्ची शक्तियाँ हैं।"

जितने ही इस प्रकार के पुरुष एक देश में उत्पन्न होंगे, वह देश उतनी ही उन्नति करेगा। जिस देश में ऐसे पुरुष बिल्कुल ही नहीं हैं, उस देश का विनाश निश्चित है। कोई भी उसकी रक्षा न कर सकेगा। इसीलिये मनुष्य जाति के लिये मेरे गुरु का सन्देश है—आत्मज्ञानी बनो और सत्य का स्वयं अनुभव करो। अपने भाइयों के लिये त्याग करो। उनके लिये प्रेम की लम्बी-चौड़ी बातें करना छोड़ जो कहते हो, उसे कर दिखाना सीखो। त्याग और सत्यज्ञान की अनुभूति का समय आ गया है। संसार के धर्मों की सभ्यता तभी दिखाई देगी। तुम्हें ज्ञात होगा कि किसी से द्वेष करने की कोई आवश्यकता नहीं और तभी तुम मनुष्य जाति की सच्ची सेवा कर सकोगे। सभी धर्मों की आन्तरिक एकता को साफ़-साफ़ समझना ही मेरे गुरु का उद्देश्य था। अन्य धर्म-गुरुओं ने अपने नाम से विशेष धर्म चलाये हैं, पर उन्नीसवीं शताब्दी के इस महान् पुरुष ने अपने लिए किसी बात की आकांक्षा न की। उन्होंने किसी भी धर्म में दख़ल न दिया, क्योंकि वह जान चुके थे कि सभी धर्म एक अमर सनातन धर्म के विभिन्न रूप हैं।

सर्वव्यापी परमात्मा

हमारे जीवन का अधिकांश भाग बुराइयों से भरा रहता है। बुराइयों का हम चाहे जितनी दृढता से सामना करें, वे अनन्त प्रतीत होती हैं। इन्हीं पर विजय पाने की चेष्टा हम आदि काल से करते आ रहे हैं, पर आज की दशा पहिले से अधिक उत्साह जनक दिखाई नहीं देती। जितने ही उनसे बचने के हम उपाय निकालते हैं, उतनी ही बारीक बुराइयाँ हमें और मिल जाती हैं। सभी धर्म इनसे बचने का एक उपाय 'ईश्वर' को बताते हैं। सभी धर्म हमें बताते हैं कि यदि आजकल के भौतिकवादियों की भाँति इस प्रत्यक्ष संसार को तुम सत्य समझोगे, तो सिवाय बुराई के संसार में और कुछ न रहेगा। पर धर्म कहते हैं कि इस संसार के परे भी कुछ है। हमारी इन्द्रियों से भोगा जाने-वाला यह ऐहलौकिक जीवन हमारे वास्तविक जीवन का एक बहुत ही छोटा और क्षुद्र भाग है। इसके पीछे और परे वह अनन्तशील है, जहाँ पर कि कोई भी बुराई नहीं है, व जिस शक्ति को गॉड, अल्लाह, जिहोवा, जोव आदि आदि कहा जाता है। वेदान्ती उसे 'ब्रह्म' कहता है। फिर भी हमारा ऐहलौकिक जीवन तो होता ही है।

धर्म जो उपदेश देते हैं, उससे पहले तो यही प्रभाव पड़ता है कि इस जीवन का ही अन्त कर दें। प्रश्न यह है कि इस जीवन की बुराइयों का कैसे सुधार हो, और यह उत्तर आपसे आप ही मिलता है —उसका अन्त ही क्यों न कर दो। इस उत्तर को सुनकर एक पुरानी कहानी का स्मरण हो आता है। एक पुरुष के माथे में एक मसा बैठ गया। उसके मित्र ने उसे उड़ाने की इच्छा से उस पुरुष के मस्तक में ऐसा डंडा मारा कि मनुष्य और मच्छड़ दोनों मर गए। जीवन की बुराइयों के लिए भी वैसा उपाय ठीक जान पड़ता है। जीवन पापों से भरा है, ससार बुराइयों का घर है—यह एक ऐसा सत्य है, जिसे सभी अनुभवी पुरुष मानेंगे।

धर्म क्या उपाय बताते हैं? यही कि यह ससार मिथ्या है। इस ससार के परे ही कुछ है, जो सत्य है। पर यही तो विवाद की जड़ है। ऐसे उपाय से तो जीवन ही नष्ट हो जावेगा। फिर वह उपाय ही कहाँ रहा? तो क्या कोई उपाय नहीं? यह देखिये दूसरा उपाय। वेदान्त कहता है कि जो अन्य धर्म इन बुराइयों से बचने का उपाय बताते हैं, वह ठीक है, पर उसको ठीक से समझना चाहिए। धर्म इस उपाय को भली भाँति साफ़-साफ़ शब्दों में समझकर नहीं कहते, इसलिये बहुधा उसका मिथ्या अर्थ भी लगा लिया जाता है। हम चाहते यह हैं कि हृदय और मस्तिष्क बराबर एक साथ कार्य करें, पर हृदय वास्तव में बड़ा है। जीवन-पथ पर आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करनेवाली

भावनाएँ हमारे हृदय से ही उत्पन्न होती हैं। मुझे यदि तनिक भी हृदय न देकर मस्तिष्क ही दिया जावे, तो मैं अवश्य ही उस मस्तिष्क को न लेकर तनिक सा भी हृदय लेना अवश्य पसन्द करूँगा। जिसके पास केवल हृदय है, उसके लिये जीवन और उन्नति समव है, पर जिसके पास कोरा मस्तिष्क है, वह नीरसता के कारण अवश्य मर जायगा।

पर हम यह भी जानते हैं कि जो केवल अपने हृदय के अनुसार कार्य करेगा, उसे बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। उसके लिये भी गड्ढों में गिरना असभव नहीं। अपेक्षा है हमें हृदय और मस्तिष्क के पारस्परिक सम्मेलन की। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि इस प्रकार के समझौते के लिये कोई थोड़ा-सा हृदय अथवा थोड़ा सा ही मस्तिष्क रक्खे, पर मैं कहता हूँ कि प्रत्येक पुरुष अपनी शक्त्यानुसार हृदय और भावुकता तथा मस्तिष्क और बुद्धि रक्खे।

हमारी इच्छाओं का क्या कहीं अन्त है? क्या संसार ही अनन्त नहीं? इसलिये यहाँ असीम भावुकता और असीम बुद्धि व विचार के लिये प्रर्याप्त क्षेत्र है। उन सबको एकत्रित होने दो और परस्पर मिलकर कार्य करने दो।

इस बात को बहुत से धर्म भली प्रकार जानते हैं और उसे बहुत साफ़ और शुद्ध शब्दों में कहते भी हैं, पर वे सब एक ही भूल करत हैं और वह यह कि अपने हृदय, अपनी भावुकता के कारण वे अपने सत्यपथ को भूल जाते हैं। ससार में बुराई है,

अत ससार को त्याग दो—निश्चय ही सभी धर्मों का यही एक उपदेश है। ससार को त्याग दो। इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि सत्य जानने के लिए हमें मिथ्या का त्याग करना होगा। अच्छाई लेने के लिए बुराई और जीवन लेने के लिए मृत्यु त्यागना ही पडेगी।

पर जीवन से हम जो कुछ समझते हैं, जैसा जीवन देखते हैं तथा जैसा इद्रियो का जीवन हम व्यतीत करते हैं, यदि इस सिद्धात के अनुसार वह जीवन हमें नष्ट करना पडा, तो फिर रहा ही क्या? यदि इस जीवन को हम त्याग दें, तो फिर शेप कुछ नहीं रहता।

हम इस बात को तब और भी भली प्रकार समझेंगे, जब हम वेदान्त के और भी गूढ़ और दार्शनिक विषयों का विवेचन करेंगे, पर इस समय के लिए तो मुझे वह कहना है कि वेदान्त में ही इस समस्या का सन्तोष-जनक उत्तर मिलता है। मैं अभी केवल इस विषय में वेदान्त की शिक्षा बताऊँगा और वह है—संसार को ब्रह्म-मय देखना।

वेदान्त वास्तव में इस ससार की उपेक्षा नहीं करता। त्याग क आदर्श ने वेदान्त से अधिक उच्चता कहीं नहीं प्राप्त की। फिर भी वेदान्त नीरस आत्मघात की शिक्षा नहीं देता। उसकी शिक्षा है—ससार को ब्रह्म-मय देखो। ससार जैसा दिखाई देता है, जिसे तुम सदा ससार समझते हो उसे त्याग दो और वास्तविक संसार को जानो। उसे ब्रह्म-मय देखो। वेदान्त पे ऊपर लिखी गई पुस्तकों में सर्व प्रथम, सबसे पुराने उपनिपद के आरम्भ में

मैं जैसा इस समय हूँ, अपने समस्त कार्यों और विचारा का परिणाम हूँ। प्रत्येक कार्य और विचार का मनुष्य के ऊपर प्रभाव पडता है। मेरी उन्नति का परिणाम यह है कि जीवन-पथ पर हँसता हुआ मैं बढता जाता हूँ। समस्या अब और भी टेढ़ी हो गई। हम सभी जानते हैं कि इच्छाएँ करना बुरा हैं, पर इच्छाओं के त्याग देने का क्या अर्थ है? जीवन का कैसे निर्वाह हो? यह तो वही पहले का सा उपाय हुआ कि मर्ज़ के साथ मरीज़ को भी मार दो। इसका उत्तर यह है। यह नहीं कि तुम धन-सम्पत्ति न रक्खो, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति न करो, वह वस्तुएँ न रक्खो, जो केवल विलासिता के लिए हैं। जो कुछ तुम चाहते हो और कभी-कभी जो न चाहते हो, उसे रक्खो। केवल सत्य को जानो, उसका अनुभव करो। यह धन-सम्पत्ति किसी की नहीं है। अधिकार और मालिकपने का विचार छोड दो। तुम उसके कोई नहीं हो, न मैं हूँ, न अन्य कोई। यह सब परमात्मा का है, क्योंकि उपनिषद् के पहले सूत्र ने ही हमें बता दिया है कि सभी वस्तुओं में ब्रह्म को देखो। जो इच्छा तुम्हारे हृदय में उठती है, उसमें वही परमात्मा है, उस इच्छा के वशीभूत हो, जो वस्तुएँ तुम खरीदते हो, उनमें भी वही है। तुम्हारी सुन्दर पोशाक और आभूषणों में वही है। इसी प्रकार सदा सोचना चाहिए। इस प्रकार जब संसार को देखोगे, तब सभी वस्तुओं का स्वरूप दूसरा ही हो जायगा। यदि तुम अपने कपडों में अपनी बात-चीत में, अपने शरीर में, अपनी

सूरत शक्ल में, प्रत्येक वस्तु में परमात्मा को देखोगे तो हृदय दूसरा ही हो जायगा। संसार दु ख और विपत्तियों के घर के बदले स्वर्ग प्रतीत होगा।

'परमात्मा का राज्य तुम्हारे भीतर ही है" (ईसा)। वेदान्त न यही बात कही है। औरों ने और सभी महापुरुषों ने यही बात कही है। 'जिसके आँखें हों वह देखे, जिसके कान हों वह सुन" (ईसा)। वेदान्त ने इस सिद्धान्त की सत्यता को भी सिद्ध किया है। उसने यह भी सिद्ध किया है कि जिस सत्य की हम खोज में थे, वह सभी समय हमारे ही साथ था। अज्ञान-वश, हम सोचते थे, कि हमने उसे खो दिया है, कष्ट और विपत्तियाँ सहते हुए हम ससार भर में रोत-चिल्लाते फिरें जब कि सत्य हमारे ही हृदय में था। इसीके अनुसार तुम भी कार्य करो।

यदि संसार त्यागना सत्य है और हम उसका वही पुराना सड़ा अर्थ लगावें, तब तो हमें आलसी बन, मिट्टी के पुतलों की भाँति कुछ काम न करना चाहिए। पूरे भाग्यवादी बनकर अब तो हमें कुछ सोचना चाहिए न कुछ काम करना चाहिए। होनहार के दास बनकर प्रकृति के नियम जो हमसे चाहेंगे करावेंगे और हम इस जगह से उस जगह ठोकर खाते फिरेंगे। यही परिणाम होगा। पर हमारा यह तात्पर्य नहीं है। हमें काम करना चाहिए। साधारण मनुष्य, अपनी इच्छाओं के दास काम क्या जानें? अपनी इच्छाओं और वासनाओं से प्रेरित हो जो काम करता है, वह काम क्या जाने? काम वही करता है, जो

अपनी इच्छाओं और अपने लाभालाभ के विचार से प्रेरित नहीं होता। काम वही करता है, जिसका कोई आन्तरिक उद्देश्य नहीं है, जिसे अपने काम से कोई लाभ नहीं है।

एक चित्र देखकर कौन अधिक प्रसन्न होता है, चित्र बेचने वाला या देखनेवाला? बेचनेवाले का ध्यान अपने हिसाब और नफे-मुनाफे की ओर है। उसके दिमाग में अन्य किसी विचार के लिए स्थान नहीं। उसका ध्यान नीलाम करनेवाले के हथौड़े और बोलियों की ओर है। वह यही देख रहा है कि बोलियाँ कितनी तेज़ी से चढ़ रही हैं। चित्र की सुन्दरता का वही आनन्द ले रहा है, जो वहाँ खरीदने या बेचने की इच्छा से नहीं गया है। चित्र की ओर देखता है और प्रसन्न होता है। यह संसार एक चित्र है। इच्छाओं से नष्ट होने पर मनुष्य इस संसार के सौन्दर्य रस का पान करेंगे और तब इस क्रय-विक्रय का, हमारे तुम्हारे के मिथ्या अधिकार विचार का भी अन्त हो जायगा। धन देनेवाला महाजन चला जायगा और बेचने और खरीदने वाले भी चले जायँगे, तब यह संसार एक सुन्दर चित्र भर रह जायगा। निम्नलिखित से ईश्वर की अधिक सुन्दर कल्पना मैंने कहीं नहीं देखी। "परमात्मा प्राचीन कवि, आदि कवि है। सारा ब्रह्माण्ड उसकी कविता है जो कि छन्द, मात्रा और लय के साथ अनन्त रस में डुबोकर लिखी गई है।" अपनी इच्छाओं के मिटाने पर ही हम ईश्वर की इस कविता को पढ़ ए उसका आनन्द ले सकेंगे। तब सर्वत्र ही हम परम

देखेंगे। गली, कूचे, कोने, जिन्हें पहिले हम अपवित्र और इतने घृणास्पद समझते थे, अब ब्रह्म-मय दिखाई देंगे। उनकी वास्तविक प्रकृति हमें दिखाई पड़ेगी। हमारा रोना-गाना सब बच्चों का खिलवाड भर था, यह सोच कर हमें अपने ही ऊपर हँसी आवेगी। आदि शक्ति माता, हम सभी समय उपस्थित यह कौतुक देख रहे थे।

वेदान्त कहता है, इस प्रकार तुम काम करो। वह सिखाता है कि तुम त्याग करो, इस मिथ्या माया-संसार का त्याग करो। इसका अर्थ क्या है ? जैसा कि पहिले कहा गया है, परमात्मा को प्रत्येक वस्तु में देखो। सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो, यदि चाहो, तो सभी सासारिक सुखों को प्राप्त करो, केवल उनमें परमात्मा को देखो। सासारिक से उन्हें स्वर्गीय बना लो और फिर सौ वर्ष तक जियो। संसार में सुख, आनन्द और क्रियाशीलता के दीर्घ जीवन की इच्छा करो। कर्म करने का यही मार्ग है, अन्य नहीं। सत्य के बिना जाने यदि कोई मिथ्या विलास-वासनाओं का दास बन जाता है, तो वह पथ-भ्रष्ट है, उसे पथ नहीं मिला। और इसी भाँति यदि कोई संसार को गालियाँ देता है, अपने आपको कष्ट देता है, वन में जाकर भूख से अपने शरीर को धीरे-धीरे नष्ट कर देता है, अपने हृदय को मरु-भूमि के समान बनाकर उसकी सारी भावनाओं को नष्ट कर देता है और इस प्रकार कठोर, भयानक और नीरस हो जाता है, तो वह भी पथ-भ्रष्ट है, पथ उसे भी नहीं

अपनी इच्छाओं और अपने लाभालाभ के विचार से प्रेरित नहीं होता। काम वही करता है, जिसका कोई आन्तरिक उद्देश्य नहीं है, जिसे अपने काम से कोई लाभ नहीं है।

एक चित्र देखकर कौन अधिक प्रसन्न होता है, चित्र बचने वाला या देखनेवाला ? बेचनेवाले का ध्यान अपने हिसाब और नफ़े-मुनाफे की ओर है। उसके दिमाग में अन्य किसी विचार के लिए स्थान नहीं। उसका ध्यान नोलाम करनेवाले के हथौड़े और बोलियों की ओर है। वह यही देख रहा है कि बोलियाँ कितनी तेज़ी से चढ़ रही हैं। चित्र की सुन्दरता का वही आनन्द ले रहा है, जो वहाँ ख़रीदने या बेचने को इच्छा से नहीं गया है। चित्र की ओर देखता है और प्रसन्न होता है। यह संसार एक चित्र है। इच्छाओं से नष्ट होने पर मनुष्य इस ससार के सौन्दर्य रस का पान करेंगे और तब इस क्रय-विक्रय का, हमारे तुम्हारे के मिथ्या अधिकार विचार का भी अन्त हो जायगा। धन देनेवाला महाजन चला जायगा और बेचने और ख़रीदने वाले भी चले जाँयगे, तब यह ससार एक सुन्दर चित्र भर रह जायगा। निम्नलिखित से ईश्वर की अधिक सुन्दर कल्पना मैंने कहीं नहीं देखी। "परमात्मा प्राचीन कवि, आदि कवि है। सारा ब्रह्माण्ड उसकी कविता है जो कि छन्द, मात्रा और लय के साथ अनन्त रस में डुबोकर लिखी गई है।" अपनी इच्छाओं के मिटाने पर ही हम ईश्वर की इस कविता को पढ सकेंगे और उसका आनन्द ले सकेंगे। तब सर्वत्र ही हम परमात्मा को

देखेंगे। गली, कूचे, कोने, जिन्हें पहिले हम अपवित्र और इतने घृणास्पद समझते थे, अब ब्रह्म-मय दिखाई देंगे। उनकी वास्तविक प्रकृति हमें दिखाई पड़ेगी। हमारा रोना-गाना सब बच्चों का खिलवाड भर था, यह सोच कर हमें अपने ही ऊपर हँसी आवेगी। आदि शक्ति माता, हम सभी समय उपस्थित यह कौतुक देख रहे थे।

वेदान्त कहता है, इस प्रकार तुम काम करो। वह सिखाता है कि तुम त्याग करो, इस मिथ्या माया-ससार का त्याग करो। इसका अर्थ क्या है ? जैसा कि पहिले कहा गया है, परमात्मा को प्रत्येक वस्तु में देखो। सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो, यदि चाहो, तो सभी सासारिक सुखों को प्राप्त करो, केवल उनमें परमात्मा को देखो। सासारिक से उन्हें स्वर्गीय बना लो और फिर सौ वर्ष तक जियो। ससार मे सुख, आनन्द और क्रियाशीलता के दीर्घ जीवन की इच्छा करो। कर्म करने का यही मार्ग है, अन्य नहीं। सत्य के बिना जाने यदि कोई मिथ्या विलास-वासनाओं का दास बन जाता है, तो वह पथ-भ्रष्ट है, उसे पथ नहीं मिला। और इसी भाँति यदि कोई संसार को गालियाँ देता है, अपने आपको कष्ट देता है, वन में जाकर भूख से अपने शरीर को धीरे-धीरे नष्ट कर देता है, अपने हृदय को मरु-भूमि के समान बनाकर उसकी सारी भावनाओं को नष्ट कर देता है और इस प्रकार कठोर, भयानक और नीरस हो जाता है, तो वह भी पथ-भ्रष्ट है, पथ उसे भी नहीं

मिला। यह दोनों चरम सीमाएँ हैं और दोनों ही गलत हैं। दोनो ही अपना लक्ष्य और पथ भूल गए हैं।

वेदान्त कहता है, इस प्रकार सब वस्तुओं में एक परमात्मा को जान कार्य करो। जीवन को ब्रह्म-मय और परमात्मा के समान ही जान निरन्तर कर्म करो। परमात्मा को सर्वव्यापी समझकर सभी इच्छायें और कार्य उसीके लिये करो। अन्यत्र उसे कहाँ पाओगे! प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक विचार में, प्रत्येक भावना में वही ब्रह्म है। इस प्रकार समझकर हमें कर्म करना चाहिये। इसे छोड कोई अन्य मार्ग नहीं। इस प्रकार हम कर्म-फल के बन्धनों से मुक्त हो जावेंगे, कर्म-दोषों से तुम्हें कुछ भी क्षति न होगी। हम देख चुके हैं कि हमारी मिथ्या इच्छायें और वासनायें ही हमारे दु ख और विपत्ति का कारण होती हैं, पर इस प्रकार ब्रह्म-मय होने से वे पवित्र हो जाती हैं और उनसे कोई दु ख व बुराई नहीं होती। इस रहस्य के बिना जाने लोगों को एक राक्षसी ससार में रहना पड़ेगा। मनुष्य नहीं जानते कि कितना सुख, शान्ति और आनन्द यहाँ है, उनमें है, उनके चारों तरफ है, सर्वत्र है। फिर भी उसका उन्हें ज्ञान नहीं। राक्षसी संसार क्या है? वेदान्त कहता है—अविद्या।

वेदान्त कहता है, सबसे बडी नदी के किनारे बैठे हुए हम प्यासे हैं। खाने के हमारे पास ढेर लगे हैं, फिर भी हम भूखे हैं। संसार आनन्द-मय है, हम उसे देख नहीं पाते। हम उसीमें हैं, सभी समय वह हमारे चारों ओर है फिर भी हम उसे पहचान

नहीं पाते। धर्म कहते हैं कि हम इस आनन्दमय संसार को तुम्हें दिखायेंगे। इसी आनन्द-मय संसार की खोज में ही सब लोग लगे हुए हैं। सभी जातियों ने इसकी खोज की है, धर्म का यही एकमात्र लक्ष्य है, भिन्न-भिन्न भाषाओं में इसी एक आदर्श का वर्णन है, धर्मों के पारस्परिक झगडे कोरे वितण्डावाद हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं। यह अन्तर केवल भाषा की भिन्नता के कारण हैं। कोई अपने विचार को किसी तरह प्रकट करता है कोई किसी तरह से। शायद जो बात मैं अभी कह रहा हूँ, बिल्कुल वही बात आप दूसरी भाषा में कह सकते हैं। कीर्ति अथवा अधिकार पाने की इच्छा से मैं कहता हूँ—यह मेरा अपना मौलिक विचार है। हमारे जीवन में इसी प्रकार झगड़े उत्पन्न होते हैं।

इसी सम्बन्ध में फिर और भी प्रश्न उत्पन्न होते हैं, बातें बनाना तो सरल है। बचपन से ही मैंने परमात्मा को सर्वत्र देखने की बात सुन रक्खी है, जिससे सब वस्तुएँ पवित्र होकर सुख देनेवाली होती हैं, पर जैसे ही संसार में आकर मैं कुछ ठोकरें खाता हूँ, तो यह ज्ञान हवा हो जाता है। गली में जाता हुआ मैं सोचता हूँ कि परमात्मा सर्वत्र है कि वैसे ही एक अधिक बलवान पुरुष आकर मुझे धक्का देता है और मैं ज़मीन पर मुँह के बल गिर पडता हूँ। मैं जल्दी से उठता हूँ, मेरे दिमाग में खून चढ़ जाता है, सब कुछ भूलकर मैं पागल हो जाता हूँ। ईश्वर के बदले मुझे शैतान दिखाई देने लगता है। जबसे हम

पैदा होते हैं, हमे सिखाया जाता है, परमात्मा को सर्वत्र देखो। सभी धर्म यह बात सिखाते हैं—परमात्मा को सब वस्तुओं में सर्वत्र देखो। क्या तुम्हें याद नहीं कि ईसा ने इसी बात को न्यू टेस्टामेंट में साफ़-साफ़ शब्दों मे कहा है? हम सबने यही सीखा है, पर जब हम उसे कार्य-रूप में लाना चाहते हैं, तभी तो कठिनाई सामने आती है। आपको यूरोप की वह कहानी याद होगी, जिसमें एक बारहसिंहा एक सरोवर में अपना प्रतिबिम्ब देखकर अपने बच्चे से कहता है—"मैं कितना बलवान् हूँ। मेरे सुन्दर सिर को देखो। मेरी पेशियाँ कितनी मांसल और मज़बूत हैं। मैं कितना तेज़ भाग सकता हूँ।" कि इतने में कुत्तों के भूँकने का शब्द सुनाई पडता है और बारहसिंगा तुरन्त दुम दबाकर भाग खडा होता है। कई मील दौडने के बाद जब वह दम लेता है, तो बच्चा कहता है—तुमने अभी तो मुझसे कहा था कि तुम बड़े बलवान् हो, फिर कुत्तों के भूँकते ही क्यों भाग खड़े हुए?" उसने कहा—"यही तो, मेरे बच्चे! जब कुत्ते भूँकते हैं, तो सारे होश हवा हो जाते हैं।" यही हाल हमारा भी है। बेचारी मनुष्य-जाति का हमे बडा ध्यान रहता है, पर जैसे ही कोई कुत्ता भूँकता है, हम पागल बारहसिंगों की भाँति भाग खड़े होते हैं। यदि अन्त में यही होना है, तो सभी शिक्षाओं और उपदेशों का फल हो क्या हुआ? उनका बडा फल है, पर सब कुछ एक ही दिन में तो नहीं हो सकता। "पहले आत्मा की बात सुनना चाहिए, फिर उसका

ध्यान और चिन्तन करना चाहिए।" सभी जन आकाश को देख सकते हैं, पृथ्वी पर रेंगता हुआ कीडा भी उसे देख सकता है, पर वह है कितनी दूर! मन तो सब कहीं चला जाता है, पर इस शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में बडा समय लगता है। यही दशा हमारे आदर्शों की भी है। वे बहुत ऊँचे हैं, और बहुत नीचे, पर हम यह जानते हैं कि हमारे आदर्श अवश्य होने चाहिए। और हमें ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श रखने चाहिये। हम यह भी जानते हैं कि अभाग्य-वश ससार के अधिकाश लोग बिना किसी आदर्श के अँधेरे में भटकते फिरते हैं। यदि एक आदर्शवाला हज़ार ग़लतियाँ करता है, तो मुझे विश्वास है कि बिना आदर्शवाला उससे पचास गुनी करेगा। इसलिए अपने सामने एक आदर्श अवश्य रखना चाहिए। इस आदर्श का ही वर्णन हमें जितना हो सके सुनना चाहिए जब तक कि वह हमारे हृदय में न समा जावे, हमारे मस्तिष्क में न भर जावें, हमारे रक्त के साथ ही न बहने लगे, हमारी नस-नस में ही जब तक उस प्रकार के विचार न भिद जावें। हमें उसे अवश्य सुनना चाहिये। 'हृदय जब भावनाओं से भर जाता है, तो मुँह बोलता है" और हृदय के भावनाओं से भर जाने पर हाथ भी काम के लिए उठते हैं।

विचार ही हमें कार्य के लिए प्रेरित करते हैं। हृदय को उच्च-से-उच्च विचारों से भर लो, दिन-प्रति-दिन उन्हीं की बातें सुनो, सदा उन्हीं का ध्यान करो। असफलता की चिन्ता न करो।

असफलतायें बिलकुल स्वाभाविक हैं, वे जीवन को सुन्दर बनाती हैं। इन असफलताओं के बिना भी जीवन क्या होगा? संग्राम के बिना जीवन रहने योग्य न होगा। जीवन का कवित्त ही नष्ट हो जावेगा। संग्राम की असफलताओं की चिन्ता न करो। मैंने गाय को कभी झूठ बोलते नहीं सुना, फिर भी वह गाय ही है—मनुष्य नहीं। इसलिए असफलताओं की छोटी भूलों की फिकर न करो। अपने आदर्श का हजार बार ध्यान करो और यदि हजार बार तुम असफल होते हो, तो एक बार फिर प्रयत्न करो। मनुष्य का आदर्श है कि वह परमात्मा को सर्वत्र देखे। यदि तुम उसे सभी वस्तुओं में नहीं देख सकते, तो पहले उसी में देखो, जो तुम्हें सबसे अधिक प्यारी है फिर दूसरी में। इस प्रकार आगे बढ़ते चलो। आत्मा के लिए जीवन अपार है। इच्छानुसार समय खर्च करो, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।

"वही एक जो मन से भी चंचल है, जिसकी गति मन से कहीं अधिक तीव्र है, मनुष्य का विचार जिसकी कल्पना नहीं कर सकता, देवता भी जिसे पा नहीं सकते, वही सब ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करता हुआ स्वय चलता है। वह स्थित भी है। यह सब उसी में स्थित है। वह स्थिर भी है और अस्थिर भी। वह निकट भी है, दूर भी। सभी वस्तुओं में वह है। सभी वस्तुओं का बाहरी रूप भी वही है, जिससे हम उन्हें पहचानते हैं। जोकि उस आत्मा को सभी वस्तुओं में देखता है और सभी वस्तुओं को आत्मा में देखता है वह आत्मा से कभी दूर नहीं होता।

जब प्राणी सारी जीव-प्रकृति और ब्रह्माण्ड को उसी आत्मा मे देखने लगा, तो उसे रहस्य का ज्ञान हो गया। उसके लिए फिर कोई माया नहीं। जिसने विश्व की एकता को पहचान लिया, उसके लिए दुःख कहाँ ?"

सब वस्तुओं और जीवन की एकता वेदान्त का दूसरा विशेष सिद्धान्त है। वेदान्त ने बतलाया है कि हमारा सारा दुःख अविद्या के कारण है। अज्ञान वस्तुओं को भिन्न भिन्न समझता है। मनुष्य मनुष्य से, बचा स्त्री से, जाति जाति से, पृथ्वी चन्द्रमा से और चन्द्रमा सूर्य से, यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड का एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न समझा जाता है। और यही भिन्नता का ज्ञान हमारे सारे दुःख का कारण है। वेदान्त कहता है, यह भिन्नता कहीं नहीं है, यह वास्तविक नहीं, केवल ऊपर दिखाई देती है। वस्तुओं में अन्तरिक एकता है। यदि भीतर दृष्टि डालो, तो मनुष्य मनुष्य, स्त्री बच्चे, जातियाँ, ऊँच नीच, ग़रीब और अमीर, देवता और मनुष्य सब एक हैं और यदि अधिक गम्भीर विचार करो, तो पशु भी उन्हीं के साथ एक हैं। जिसे इस बात का ज्ञान है उसक लिये माया नहीं। उसने उस एकता को पा लिया है जिसे हम धर्म की भाषा में परमात्मा कहते हैं। उसके लिये माया कहाँ ? उसे कौन मोह सकता है ? उसने सब वस्तुओं की एकता को, उनके रहस्य को पहचान लिया है। जब उसको इच्छायें ही नहीं, तो उसे दुःख कहाँ से होगा ? संसार की वास्तविकता को उसने ईश्वर-मय जान लिया है, जो कि सभी वस्तुओं की

एकता है, चिदानन्द, अनन्त ज्ञान और अमर जीवन है। उसमें दुख, रोग, शोक, भय, मृत्यु, असन्तोष कुछ भी नहीं है। वह पूर्ण एकता और पूर्ण आनन्द है। हम किसके लिये फिर दुख करें। वास्तव में न तो मृत्यु है, न दुख है, न हमें किसी के लिये दुखी होना है, न शोक करना है। वह पवित्र परमात्मा, निर्गुण, नि शरीर, ब्रह्माण्ड का अमर कवि, स्वयंभू और स्वयजीवी, जो सबको कर्मानुसार फल देता है, वही सब मे व्याप्त है। वे अँधेरे में भटकते हैं, जो इस अज्ञानी और अविद्या-जनित संसार की उपासना करते हैं। जो इस ससार को सत्य जान उसे पूजते हैं, वे अँधेरे में हैं तथा जो अपना सारा जीवन इस ससार में व्यतीत कर समझते हैं कि इससे अधिक सुन्दर और उच कुछ भी नहीं, वे और भी अधिक अँधेरे में हैं। पर जो इस सुन्दर प्रकृति के रहस्य को जान चुका है, वह प्रकृति की सहायता से सत्य प्रकृति का ध्यान करता हुआ मृत्यु के परे हो जाता है और सत्य प्रकृति की सहायता से चिदानन्द को पाता है।" हे सूर्य, तूने अपने सुनहले थाल से सत्य को ढाँप लिया है। उसे तू हटा दे, जिससे मैं सत्य को देख सकूँ। तेरे भीतर जो सत्य है, उसे मैंने जान लिया है, तेरी सहस्र-सहस्र रश्मियों और उद्दीप्त कान्ति का अर्थ मैंने समझ लिया है। जिससे तू प्रकाशमान है, उसे मैं देख रहा हूँ। तेरे सत्य को मैं देख रहा हूँ। जो तुझ में है, वह मुझ में भी है और जो मुझमें है वह तुझ में है।"

भक्ति या प्रेम

दो एक धर्मों को छोड सभी धर्मों में एक व्यक्तिगत परमेश्वर का निरूपण है। बुद्ध और जैन धर्मों के सिवाय प्राय. संसार के सभो धर्मों ने एक परमेश्वर को माना है और उसीके साथ भक्ति व उपासना का भी विचार उत्पन्न हुआ है। बुद्ध और जैन, इन दोनों धर्मों मे यद्यपि एक व्यक्तिगत ईश्वर की उपासना नहीं, पर वे अपने धर्म-प्रवर्त्तकों को ठीक उसी भाँति मानते और पूजते हैं, जिस प्रकार अन्य धर्म एक व्यक्तिगत ईश्वर को। उसकी प्रार्थना और उपासना का विचार, जिससे हम प्रेम कर सकते हैं और जो हमारे प्रेम का प्रतिदान दे सकता है, सार्वभौमिक है। यही प्रेम और उपासना का विचार भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न मात्रा और रूप में प्रकट होता है। इस उपासना की पहली सीढ़ी मर्त्तिपूजा है, जबकि मनुष्य भौतिक वस्तुओं को चाहता है, जबकि उसके लिए विचार-मात्र की कल्पना करना असम्भव होता है और जब वह उन्हें सबसे नीचो सतह पर खींचकर कोई न कोई भौतिक रूप दे ही देता है। उपासना के निराले ढंग और उसके साथ मूर्तियों (सज्ञाओं) का भी जन्म होती है। ससार के इतिहास में हम यही बात देखते हैं कि

मनुष्य निर्गुण को इन्हीं संज्ञाओं और मूर्तियों-द्वारा ग्रहण करना चाहता है। धर्म के बाहरी स्वरूप, घण्टे, गान, वाद्य, उपासना के निराले ढंग, पुस्तकें और मूर्तियाँ—सब उसीके लिए हैं। कोई भी वस्तु जो कि मनुष्य की इन्द्रियों को सत्य प्रतीत होती है तथा जिससे वह सगुण में निर्गुण की कल्पना कर सकता है, तुरन्त पकड ली जाती है और मनुष्य उसकी उपासना करने लगता है।

सभी धर्मों में समय-समय पर सुधारक हुए हैं जो सभी संज्ञाओं और रूढ़ियों के विरुद्ध खड़े हुए हैं, पर उनके सारे प्रयत्न निष्फल हुए हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि जब तक मनुष्य जैसा कि आज है, वैसा रहेगा, तब तक मनुष्य-जाति का अधिकाश भाग एक ऐसे साकार पदार्थ की चाहना करेगा, जिसके चारों ओर वह अपने विचारों को एकत्रित कर सके और जो उसके विचारों का केन्द्र हो। मुसलमानों, ईसाइयों और प्रोटस्टेण्टों ने इन्हीं रूढ़ियों के नष्ट करने के लिए भीष्म प्रयत्न किये हैं, फिर भी हम देखते हैं कि उनमें भी रूढ़ियाँ आ ही गई हैं। उपासना की भौतिक रीतियों का हम बहिष्कार कर नहीं सकते। बहुत दिनों के संघर्ष के अनन्तर लोग एक संज्ञा के लिए दूसरी संज्ञा ढूँढ़ लेते हैं। मुसलमान जो सोचता है काफ़िरों की साकार उपासना, मूर्ति-पूजा आदि पाप है, जब काबे में जाता है, तो इसी बात को भूल जाता है। प्रत्येक धार्मिक मुसलमान को प्रार्थना करते समय अपने आपको काबे में खड़ा हुआ सोचना

होता है और जब यात्रा कर वह वहाँ पहुँचता है, तो दीवाल में जड़े हुए एक काले पत्थर को चूमना होता है। लाखों, करोड़ों यात्रियों के उस पत्थर पर किए गए चुम्बन-चिन्ह प्रलय के बाद जब सब का न्याय होगा, उनकी धार्मिकता के साक्षी होंगे। इसके बाद वहाँ झिम-झिम का कुँआ है। मुसलमानों का विश्वास है कि जो कोई भी उस कुएँ से थोडा-सा भी पानी खींचता है, उसके पाप क्षमा किए जायँगे तथा प्रलय के बाद वह एक नवीन शरीर पाकर सदा सदा के लिए अमर हो कर रहेगा।

अन्य धर्मों में हम देखते हैं कि इन संज्ञाओं ने गिर्जा व मन्दिरों का रूप धारण किया है। ईसाइयों के लिए गिर्जा अन्य स्थानों से पवित्र है। गिर्जा एक संज्ञा है। अथवा उनकी धर्म-पुस्तक बाइबिल को ही लीजिए। धर्म-पुस्तक उनके लिए अन्य सभी संज्ञाओं से अधिक पवित्र है। जैसे प्रोटेस्टेण्टों के लिए क्रास है, वैसे ही रोमन कैथलिकों के लिए उन महात्माओं की मूर्तियाँ हैं, जो अपने धर्म पर बलि हुए हैं। सज्ञाओं के विरुद्ध उपदेश देना व्यर्थ है और उपदेश दिया ही क्यों जावे ? इसका कोई भी कारण नहीं कि मनुष्य साकार सज्ञाओं की उपासना न करे। जिस बात की वे सज्ञा हैं, उसीके लिए तो उनकी उपासना की जाती है। यह ससार ही एक सज्ञा है, जिसके पीछे छिपे हुए और उससे परे सत्य को पाने की हम चेष्टा करते हैं। मनुष्य का यह नीचे दर्जे का मस्तिस्क है और इमीलिए हम इन संज्ञाओं से अपना पीछा नहीं छुडा सकते। पर इसके साथ ही यह भी सच है कि हम

भौतिक सञ्ज्ञा से परे निर्गुण सत्य के पाने की चेष्टा कर रहे हैं। लक्ष्य निर्गुण है न कि सगुण। रूढ़ियाँ, मूर्त्तियाँ, घण्टे, आरती, पुस्तकें, गिर्जे, मन्दिर व सभी पवित्र सञ्ज्ञाएँ सुन्दर हैं, क्योंकि आत्मिकता के बढ़ते हुए पौधे की वे सहायता करती हैं, पर इससे अधिक नहीं। सौ में निन्यानवे बार यही देखा जाता है कि आत्मिकता का पौधा बढ़ता ही नहीं। एक गिर्जे में पैदा होना अच्छा है, पर उसी में मर जाना बहुत ही खराब है। किन्हीं निमित्त धार्मिक रूढ़ियों के भीतर उत्पन्न होना अच्छा है, क्योंकि वे आत्मिकता के पौधे को बढ़ने में सहायता देती हैं, पर यदि मनुष्य उन्हीं की सीमाओं के भीतर ही मर जाता है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि उसने कोई आत्मिक उन्नति नहीं की।

इसलिए यदि कोई कहता है कि संज्ञाएँ रूढ़ियाँ तथा उपासना की भिन्न-भिन्न रीतियाँ सदा ही रहनी चाहिए, तो वह झूठ कहता है; पर यदि वह कहता है कि वे आत्मा की, जब कि वह प्रथम और अधम अवस्था में होती है, उन्नति में सहायता देती है, तो सच कहता है। इसीके साथ यह भी समझना चाहिए कि इस आत्मिक उन्नति से मस्तिष्क की उन्नति का कोई सम्बन्ध नहीं। मस्तिष्क को लेकर चाहे कोई देव ही क्यों न हो, पर आत्मज्ञान के लिए वह एक बच्चा अथवा उससे भी तुच्छ हो सकता है। इसकी जाँच तो अभी हो सकती है। आप सभी ने एक सर्व-व्यापी परमात्मा की उपासना करना सीखा है, पर उसकी तनिक कल्पना तो कीजिए। आपमें से कितने ऐसे होंगे, जो उस सर्व-

व्यापकता की कल्पना कर सकते हैं ? बहुत ज़ोर लगाने पर, यदि देखा है, तो समुद्र की अथवा आकाश की, अथवा बड़े भारी हरे भरे मैदान की, अथवा एक रेगिस्तान की, यदि उसे देखा है, तो कल्पना कर सकते हैं, पर यह सब तो भौतिक पदार्थ हैं। जब तक आप निर्गुण का निर्गुण के ही समान तथा आदर्श की आदर्श के ही समान ही कल्पना नहीं कर सकते, तब तक आपको इन्हीं संज्ञाओ, मूर्तियों व रूढियों का आश्रय लेना पडेगा, चाहे मस्तिष्क मे जो चाहे प्रत्यक्ष बाहर हो। आप सभी मूर्ति-पूजक उत्पन्न हुए हैं और मूर्ति-पूजा अच्छी है, क्योंकि वह मनुष्य-प्रकृति में ही है। उसे कौन छोड सकता है ? केवल सपूर्ण मनुष्य जो कि परमात्मामय हो गया है। अन्य सभी मूर्ति-पूजक हैं। जब तक आप इस ससार को उसके नाना रूप और प्रतिरूपों के साथ देखते हैं, तब तक आप सभी मूर्ति-पूजक हैं। क्या आपके मस्तिष्क में रूप उत्पन्न होते हैं। आपके मस्तिष्क मे थोडी सभी सनसनी भर ही होती है। इस ब्रह्माण्ड की जो कि एक-विशाल सत्ता है, आप उसके रूप, रङ्ग और आकार-प्रकार के साथ क्यों कल्पना करते हैं। यह एक बडी ही विशाल मूर्ति है, जिसकी आप उपासना करते हैं। जो कोई अपने शरीर को कहता है कि यह मैं हूँ, पक्का मूर्ति-पूजक है। आप सभी आत्मा हैं, जिसके न रूप है, न आकार-प्रकार है, जो कि अनन्त है तथा जिसे भौतिकता छू नहीं गई। इसलिए जो कोई अपने आपको यह शरीर या भौतिक मानता है तथा बिना सगुण प्रकृति के निर्गुण की, जैसा कि यह है, उसकी

कल्पना नहीं कर सकता, मूर्ति-पूजक है। फिर भी कैसे लोग एक दूसरे को मूर्ति-पूजक कहकर लडने लगते हैं अर्थात् प्रत्येक कहता है कि मेरी मूर्ति सच्ची है, तेरी झूठी।

अतएव इन बच्चों के से सारहीन विचारों को हमें छोड देना चाहिए। उन लोगों की बकबक-झकझक से परे हो जाना चाहिए जिनके लिए धर्म केवल जोशीले शब्दों का समूह है, जिनके लिए धर्म एक विशेष प्रकार के सिद्धान्त भर हैं, जिनके लिए धर्म कोरा मानसिक आस्तिकता वा नास्तिकता है, जिनके लिये धर्म उन शब्दों मे विश्वास करना है, जिन्हें उनके गुरु ने उनके कान में कह दिया है, जिनके लिये धर्म वही है, जिसमें उनके बाप-दादों ने विश्वास किया था तथा जिनके लिये धर्म एक विशेष प्रकार के अन्ध-विश्वास और विचार हैं, जिनमें वे इसलिये विश्वास करते हैं कि वे जातीय हैं। मनुष्य-जाति को हमें एक विशाल प्राणी के समान समझना चाहिए, जो धीरे-धीरे सत्य-ज्ञान की ओर अग्रसर हो रहा है। यह सुन्दर कमल उस अमर सत्य परमात्मा की किरणों का स्पर्श कर विकसित हो रहा है। और इस सत्य ज्ञान की ओर बढने के लिये सदैव हमें पहिले इन्हीं रूढ़ियों तथा भौतिक प्रकृति का आश्रय लेना पड़ेगा। इनसे हम बच नहीं सकते।

उपासना की भिन्न-भिन्न प्रथाओं के भीतर एक विचार सर्वतोमुखी है—नाम की उपासना। आप लोगों मे से जिन्होंने पुराने ईसाई धर्म व अन्य प्राचीन धर्मों का अध्ययन किया है,

उन्होंने इस बात पर अवश्य ध्यान दिया होगा कि उन सभी में इस 'नाम' की उपासना का विचित्र विचार स्थित है। नाम बहुत ही पवित्र कहा गया है। 'परमात्मा के नाम में" आप लोगों ने पढ़ा होगा कि हीब्रू लोगों में ईश्वर का नाम इतना पवित्र माना जाता था कि साधारण मनुष्यों के लिये उसका उच्चारण करना मना था। वह बहुत ही पवित्र था, पवित्र से भी कहीं अधिक पवित्र था। सभी नामों मे वह पवित्रतम था तथा हीब्रू लोग समझते थे कि यह नाम ही परमात्मा है। यह भी सत्य ही था, क्योंकि यह ब्रह्माण्ड नाम और आकार के सिवा है ही क्या? क्या आप शब्दों के बिना विचार कर सकते हैं? शब्द और विचार अलग नहीं हो सकते। यदि हो सकते हों, तो तनिक प्रयत्न करके देखिये। जब कभी भी आप विचार करते हैं, तो शब्दों द्वारा। शब्द अन्तर्भाग है, विचार बाहरी। उन्हें एक साथ ही रहना चाहिये। वे जुदा नहीं हो सकते। एक के साथ दूसरा आता है, शब्द के साथ विचार, विचार के साथ शब्द। इसी प्रकार यह विश्व एक बाह्य संज्ञा है, जिसके पीछे छिपा हुआ दृढ सत्य परमेश्वर है। प्रत्येक पदार्थ का आकार और नाम होता है। जैसे तुम अपने किसी मित्र का स्मरण करते हो, तो उसके शरीर का स्मरण हो आता है और शरीर की याद आते ही उसके नाम की भी याद आजाती है। मनुष्य की विचार-प्रकृति ही ऐसी है। तात्पर्य यह कि मनुष्य का मस्तिष्क ऐसा है कि बिना आकार के नाम का व बिना नाम के आकार का स्मरण

नहीं हो सकता। दोनों ही अलग नहीं किये जा सकते। एक शरीर है, तो दूसरा आत्मा। इसीलिये संसार में नामों की इतनी महिमा हुई है और वे पूजे गये हैं। जाने अथवा बेजाने मनुष्य ने नाम के महत्व को जान अवश्य लिया है।

हम यह भी देखते हैं कि बहुत से धर्मों में किन्हीं पवित्र पुरुषों की उपासना की जाती है। लोग कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि को पूजते हैं। कहीं-कहीं महात्माओं की पूजा की जाती है। सैकडों ही ससार में पूजे गए हैं। और क्यों न पूजे जाँय? प्रकाश की धारा सर्वत्र बहती है। उल्लू उसे अँधेरे में देखता है जिससे मालूम होता है कि वह अँधेरे में भी है। मनुष्य उसे वहाँ नहीं देख सकता। मनुष्य के लिए वह प्रकाश की धारा केवल दीपक में या सूर्य-चन्द्र मे है। परमात्मा सर्व-व्यापी है, वह सभी पदार्थों में प्रकट होता है, पर मनुष्य को वह मनुष्य में ही दिखाई देता है। जब उसकी ज्योति, उसकी सत्ता, उसकी आत्मा, मनुष्य के स्वर्गीय मुख पर झलकती है, तभी वह उसे पहचान पाता है। इस भाँति मनुष्य में परमात्मा को जानकर मनुष्य ने उसकी उपासना की है और जब तक वह मनुष्य है तब तक वह इसी प्रकार करता रहेगा। इसके विरुद्ध वह चाहे जितना रोये, चिल्लाये और हाथ-पैर पटके, पर जब भी वह परमात्मा की कल्पना करेगा, अपने मनुष्य होने के कारण उसे परमात्मा की मनुष्य के समान ही कल्पना करनी पड़ेगी। अत सभी धर्मों की ईश्वरोपासना में तीन बातें मुख्य हैं—

सञ्ज्ञायें या मूर्तियाँ, नाम, महात्मा। सभी में इनकी उपासना की जाती है, पर एक दूसरे से लडने के लिए वे कैसे तैयार हो जाते हैं। एक कहता है—"मेरा नाम, मेरी मूर्तियाँ, मेरे महात्मा सच्चे हैं, तुम्हारे कपोल-कल्पित और झूठ हैं।" ईसाई पादरी आज-कल कुछ अधिक दयालु हो गए हैं, इसलिए कहते हैं कि अन्य धर्म भावी-धर्म के सूचना-चिह्न भर थे। पूरा धर्म तो उनका ईसाई धर्म है। परमात्मा मानों पहिले अपना ज़ोर आज़मा रहा था, अपनी शक्तियों की परीक्षा कर रहा था, जिनसे अन्य धर्म बने। सारी शक्ति तो उसने ईसाई धर्म बनाने में लगाई। फिर भी ख़ैर है। पचास वर्ष पहिले तो वे यह भी न कहते। उन्हीं का धर्म सब कुछ था और सब मिट्टी थे, पर यह विचार किसी धर्म, जाति वा जन-समुदाय विशेष मे ही परिमित नहीं, लोग यही सोचते हैं कि करना वही चाहिये, जो हम खुद कर रहे हैं। यहीं पर भिन्न-भिन्न धर्मों के अध्ययन से हमे सहायता मिलती है। इससे हमें यह विदित हो जाता है कि जिन विचारों को हम अपना-अपना कहकर पुकार रहे थे, वे शताब्दियों पहिले दूसरे धर्मों में विद्यमान थे और कभी-कभी तो कहीं अधिक सुन्दर रूप में।

उपासना के यह बाहरी स्वरूप हैं। मनुष्य को इनका सामना करना पडता है, पर यदि वह सचा है और सत्य की उसे वास्तविक चाह है, तो वह इनसे परे हो जाता है। तब इनका कोई मूल्य नहीं रहता। उपासना की रीतियाँ तो बच्चों के अ, आ, इ, ई, सीखने की पाटी भर हैं। मन्दिर और गिर्जे, पुस्तकें

और मूर्तियाँ, बच्चों के खेलने की वस्तुएँ हैं। यदि मनुष्य को धर्म की चाहना है, तो उसे पहिले इन सीढ़ियों पर चढना होगा। इसके अनन्तर वह और भी ऊँचे जा सकेगा। परमात्मा के लिये उस चाह, उस प्यास से ही सच्ची भक्ति, सच्चे प्रेम का जन्म होता है। प्रश्न यह है कि चाह किसे है? धर्म, सिद्धान्त, अन्ध विश्वास वा मानसिक तर्क-वितर्क कुछ नहीं है। धर्म का अर्थ कुछ हो जाना है, धर्म अनुभूति है। हम हर एक को आत्मा, परमात्मा और संसार के रहस्यों के बारे में बातचीत करते सुनते हैं, पर यदि एक-एक करके उनसे पूछो कि क्या तुमने ईश्वर का अनुभव किया है? अपनी आत्मा को देखा है? तो कितने ऐसे होंगे, जो कहेंगे—हाँ, हमने देखा है, हमने अनुभव किया है। फिर भी वे सब आपस में लड़े मरे जाते हैं। मुझे याद आता है कि भारत-वर्ष में एक बार भिन्न-भिन्न धर्म-उपधर्मों के प्रतिनिधि एकत्रित हुए और परस्पर वाद-विवाद करने लगे। एक ने कहा—शिव ही सच्चा ईश्वर है। दूसरे ने कहा—सच्चा ईश्वर तो विष्णु है इत्यादि। उनके वाद-विवाद का कोई अन्त न था कि उधर से एक महात्मा निकले। लोगों ने विवाद में भाग लेने के लिए उन्हें भी बुला लिया। वह वहाँ गए और जो शिव को सबसे बड़ा देवता बता रहा था, उससे पहिला प्रश्न यही किया—"क्या तुमने शिव को देखा है? उससे जान पहँचान की है? यदि नहीं, तो कैसे कहते हो कि शिव ही सबसे बड़ा देवता है?" दूसरे से भी उन्होंने वैसा ही प्रश्न किया—"क्या तुमने विष्णु को देखा है?" सब

से इसी भाँति प्रश्न पूछने पर पता चला कि एक को भी परमेश्वर के बारे में अकिञ्चिद् ज्ञान नहीं है और उनके लड़ने-झगडने का यही तो असली कारण था। यदि उन्हें सच्ची बात का पता होता, तो वे लडते ही क्यो ? घडा जब भरा जाता है, तभी उसमें शब्द होता है और जब भर जाता है, तब तो शान्त और गम्भीर हो जाता है। तब तो, उसने सत्य को जान लिया है। अत धर्म-उपधर्मो के लडाई-झगड़े से तो यही सिद्ध होता है कि वे धर्म के बारे में कुछ नहीं जानते। धर्म उनके लिए पुस्तकों मे लिखे हुए जोशाले शब्द भर हैं। जिसे देखो वही, जिससे पाया उसी स, बिना कहे-सुने उधार लेकर एक बडी-से बडी पुस्तक लिखन क लिये तैयार होजाता है और फिर संसार में जहाँ कि सहस्रों लड़ाई झगड़े प्रथम से ही वर्तमान हैं, वह अपने इस गोले को भी फेंक देता है।

ससार के अधिकाश मनुष्य नास्तिक हैं। पश्चिम के नये भौतिकवादी नास्तिकों को देखकर मुझे हर्ष होता है, क्योंकि वे सच्चे तो होते हैं। वे इन पाखण्डी धार्मिक नास्तिकों से तो अच्छे होत हैं, जो धर्म के बारे में भीषण वितण्डावाद करते हैं, बडी-बडी लडाइयाँ लडते हैं, पर उसकी कभी सच्ची चाह नहीं करते, न उसे अनुभव करने की चेष्टा करते हैं, न उसे समझने का प्रयत्न ही करते हैं। ईसा के उन शब्दों का स्मरण करो—"माँगो, तुम पाओगे, ढूँढो, तुम्हें मिलेगा, ज़ंजीर खटखटाओ और दरवाज़ा खुलेगा।" वे शब्द अक्षरश सत्य थे, कोरी गप्पें नहीं।

और मूर्तियाँ, बच्चों के खेलने की वस्तुएँ हैं। यदि मनुष्य को धर्म की चाहना है, तो उसे पहिले इन सीढ़ियों पर चढ़ना होगा। इसके अनन्तर वह और भी ऊँचे जा सकेगा। परमात्मा के लिये उस चाह, उस प्यास से ही सच्ची भक्ति, सच्चे प्रेम का जन्म होता है। प्रश्न यह है कि चाह किसे है? धर्म, सिद्धान्त, अन्ध-विश्वास वा मानसिक तर्क-वितर्क कुछ नहीं है। धर्म का अर्थ कुछ हो जाना है, धर्म अनुभूति है। हम हर एक को आत्मा, परमात्मा और संसार के रहस्यों के बारे में बातचीत करते सुनते हैं, पर यदि एक-एक करके उनसे पूछो कि क्या तुमने ईश्वर का अनुभव किया है? अपनी आत्मा को देखा है? तो कितने ऐसे होंगे, जो कहेंगे—हाँ, हमने देखा है, हमने अनुभव किया है। फिर भी वे सब आपस में लडे मरे जाते हैं। मुझे याद आता है कि भारत वर्ष में एक बार भिन्न-भिन्न धर्म-उपधर्मों के प्रतिनिधि एकत्रित हुए और परस्पर वाद-विवाद करने लगे। एक ने कहा—शिव ही सच्चा ईश्वर है। दूसरे ने कहा—सच्चा ईश्वर तो विष्णु है इत्यादि। उनके वाद-विवाद का कोई अन्त न था कि उधर से एक महात्मा निकले। लोगों ने विवाद में भाग लेने के लिए उन्हें भी बुला लिया। वह वहाँ गए और जो शिव को सबसे बडा देवता मता रहा था, उससे पहिला प्रश्न यही किया—"क्या तुमने शिव को देखा है? उससे जान पहँचान की है? यदि नहीं, तो कैसे कहते हो कि शिव ही सबसे बडा देवता है?" दूसरे से भी उन्होंने वैसा ही प्रश्न किया—"क्या तुमने विष्णु को देखा है?" सब

से इसी भाँति प्रश्न पूछने पर पता चला कि एक को भी परमेश्वर के बारे में अकिञ्चिद् ज्ञान नहीं है और उनके लडने-झगडने का यही तो असली कारण था। यदि उन्हें सची बात का पता होता, तो वे लडते ही क्यों? घडा जब भरा जाता है, तभी उसमें शब्द होता है और जब भर जाता है, तब तो शान्त और गम्भीर हो जाता है। तब तो, उसने सत्य को जान लिया है। अत धर्म-उपधर्मों के लडाई-झगड़े से तो यही सिद्ध होता है कि वे धर्म के बारे में कुछ नहीं जानते। धर्म उनके लिए पुस्तकों मे लिख हुए जोशाले शब्द भर हैं। जिसे देखो वही, जिससे पाया उसी स, बिना कहे-सुने उधार लेकर एक बड़ी-से बडो पुस्तक लिखन क लिये तैयार होजाता है और फिर ससार में जहाँ कि सहस्रों लडाई झगडे प्रथम से ही वर्तमान हैं, वह अपने इस गोले को भी फेंक देता है।

ससार क अधिकाश मनुष्य नास्तिक हैं। पश्चिम के नये भौतिकवादी नास्तिकों को देखकर मुझे हर्ष होता है, क्योंकि वे सचे तो होते हैं। वे इन पाखण्डी धार्मिक नास्तिकों से तो अच्छे होते हैं, जो धर्म के बारे में भीषण वितण्डावाद करते हैं, बडी-बडी लडाइयाँ लड़ते हैं, पर उसकी कभी सची चाह नहीं करते, न उसे अनुभव करने की चेष्टा करते हैं, न उसे समझने का प्रयत्न ही करते हैं। ईसा के उन शब्दों का स्मरण करो—"माँगो, तुम पाओगे, ढूँढो, तुम्हे मिलेगा, जंजीर खटखटाओ और दरवाज़ा खुलेगा।" वे शब्द अक्षरश सत्य थे, कोरी गप्पें नहीं।

उसी भाँति चाह है ? यदि है, तो आप उसे एक क्षण में पा जायँगे। आप अपनी पुस्तकों को, मस्तिष्क को और मूर्तियों को लिये हुए चाहे जितना सर पटकिये, पर जब तक आपके हृदय में वह प्यास, वह इच्छा, नहीं है, तब तक आप परमेश्वर को नहीं पा सकते। आप तब तक निरे नास्तिक हैं, अन्तर केवल इतना है कि वह सच्चा है और आप नहीं हैं।

एक बड़े महात्मा कहा करते थे—मानों एक कोठरी में एक चोर है और दीवाल के उस पार दूसरी कोठरी में बहुत सा धन रक्खा हुआ है, तो उस चोर की क्या दशा होगी ? उसे नींद, भूख, प्यास, कुछ न लगेगी। उसका हृदय उसी धन पर धरा रहेगा। वह यही सोचेगा कि किस प्रकार इस दीवाल में सेंध कर उस पार जाऊँ और वह धन प्राप्त करूँ। यदि मनुष्यों को विश्वास होता कि सुख, सौन्दर्य और शान्ति उनके चारों ओर भरा पड़ा है, तो क्या वे अपने साधारण कामों में लगे रहते और परमेश्वर को पाने की चेष्टा न करते !" जैसे ही किसी को यह विश्वास हो जाता है कि परमेश्वर है, तो वह उसे पाने के लिए आकुल हो उठता है और लोग चाहे जो करें पर जैसे ही किसी पुरुष को विश्वास हो जाता है कि इस पार्थिव जीवन से बढ़कर कोई ऊँचा जीवन है, इन्द्रियों का जीवन पारमित है तथा यह भौतिक शरीर उस अमर, अनन्त आत्मा के सौन्दर्य के आगे तुच्छ है, वैसे ही वह उस सौन्दय को स्वयं प्राप्त करने की लालसा से पागल हो उठता है और यही पागलपन, यही पिपासा, यही

अभिलाषा धार्मिक जागृति है। जब मनुष्य इस प्रकार से जागता है, तभी धार्मिक होता है, पर इसके लिए बहुत समय चाहिए। उपासना की नाना रीतियां—उत्सव, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, पुस्तकें, घण्टे, आरती, पुजारी आदि सभी उस विशाल जागृति की तैयारियाँ हैं। वे आत्मा के ऊपर चढे हुए कालुष्य को दूर कर देती हैं। आत्मा जब पवित्र हो जाती है तो वह स्वभावत पवित्रता की खान परमात्मा से मिलना चाहती है। जैसा कि शताब्दियों की मिट्टी धूलि से भरा हुआ लोहा अपने पास पडे हुए चुंबक पत्थर से आकर्षित नहीं होता, पर जैसे ही किसी प्रकार उसका मल दूर हो जाता है, तो फिर उसीसे मिल जाता है, उसी प्रकार यह हमारी आत्मा सहस्रों वर्षों की अपवित्रता, बुराई और पाप कर्मों में लिपटी हुई, लक्ष लक्ष जन्म-जन्मान्तरों के पश्चात् इन्हीं रीतियों और रूढ़ियों से, परोपकार करने से, दूसरों का प्यार करने से पवित्र हो जाती है और तब उसकी स्वाभाविक आकर्षण-शक्ति उसमें लौट आती है, फलत वह जाग उठती है और परमात्मा से मिलने के लिए आकुल होने लगती है। धर्म का यही आरम्भ है।

फिर भी यह रीतियाँ और संज्ञायें केवल आरम्भिक हैं, सत्य-प्रेम नहीं। प्रेम का बखान हम सर्वत्र सुनते हैं, सभी कहते हैं, परमेश्वर से प्रीति करो, पर मनुष्य जानते नहीं हैं, प्रेम करना कैसा होता है। यदि जानते, तो इतनी जल्दी प्रेम के बारे में बातें न बनाते। प्रत्येक पुरुष कहता है—मैं प्यार करता हूँ, पर

थोडी ही देर में क्या सिद्ध होता है कि उसके भीतर कुछ भी प्यार नहीं। प्रत्येक स्त्री कहती है—मैं प्रेम करती हूँ। पर पल भर में ही मालूम होता है कि इसमें कुछ भी प्यार नहीं। प्रेम की बातों से संसार भरा है, पर प्रेम करना बडा कठिन है। प्रेम कहाँ है? तुम कैसे जानते हो कि प्रेम है? प्रेम की पहली पहचान यह है कि प्रेम में सौदा नहीं होता। जब कभी किसी को स्वार्थ साधन की इच्छा से किसी पर प्रेम जताते देखो, तो समझ लो कि वह प्रेम नहीं है। वह बनियों का प्रेम है। जब 'इस हाथ दे उस हाथ ले' का सवाल आ गया, तो प्रेम कहाँ रहा? इसलिए जब कोई परमेश्वर से प्रार्थना करता है—'मुझे यह दे, वह दे' तो वह सच्ची भक्ति नहीं करता। मैं तुम्हारी थोडी सी प्रार्थना करता हूँ, तुम मुझे बदले में अमुक वस्तु दे दो, यह तो दूकानदारी हुई। प्रेम कहाँ रहा?

एक बादशाह था, जो कि आखेट के लिए वन में गया और वहाँ उसको एक महात्मा से भेंट हुई। थोड़े से ही वार्तालाप से वह इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उनसे अपनी एक भेंट स्वीकार करने की प्रार्थना की। महात्मा ने कहा—"नहीं, मुझे अपनी दशा से पूर्ण सन्तोष है। इन वृक्षों से खाने के लिए मुझे फल मिलते हैं तथा इन निर्मल निर्झरों से पीने के लिए पानी। इन गुफाओं में मैं सोता हूँ। तुम बादशाह हो, तो भी मुझे तुम्हारी भेंटों की क्या पर्वाह?" बादशाह ने कहा—आप कुछ भेंट स्वीकार करें, जिससे मैं अनुगृहीत और कृतार्थ होऊँ तथा आप मेरे साथ राजधानी में चलें।" अन्त में महात्मा बादशाह के साथ नगर में

चलने के लिए सन्नद्ध हो गए। तत्पश्चात् धन-सम्पति और नाना वैभवों से भरे हुए राज-मन्दिर मे वह लाए गए। धन-वैभव के इस विशाल आगार में उस वनचारी मुनि का स्वागत किया गया। बादशाह उनसे क्षण भर ठहरने के लिए कह एक कोने में जाकर प्रार्थना करने लगा—"हे ईश्वर, मुझे और भी धन-सन्तान और राज्य दे।" इसी समय महात्मा उठकर चल पड़े। बादशाह ने उन्हें जाते देखा और स्वयं पीछे जाकर बोला—"ठहरिये महाराज, आप तो मेरी भेंट बिना स्वीकार किये ही चल दिए।" महात्मा ने लौटकर उत्तर दिया—"भिखारी, मैं भिखारियों की भीख नहीं लेता हूँ। तुम मुझे क्या दे सकते हो! स्वय ही तुम दूसरे से माँग रहे थे।" प्रेम की भाषा यह तो नहीं है। यदि परमेश्वर से तुम लेन-देन करते हो, तो प्रेम और दूकान-दारी में अन्तर ही क्या हुआ! प्रेम की पहली परीक्षा यह है कि प्रेम सौदा नहीं करता। प्रेम सदा देता है, कभी लेता नहीं। ईश्वर का सच्चा भक्त कहता है—"यदि ईश्वर चाहे, तो उसे मैं अपना फटा कुर्ता भी दे सकता हूँ, पर मुझे उससे कुछ नहीं लेना है। ससार में मुझे किसी वस्तु की इच्छा नहीं है। मैं उससे प्रेम के लिए प्रेम करता हूँ न कि किसी स्वार्थ-लाभ की इच्छा से। परमेश्वर सर्वशक्तिमान है कि नहीं इसकी मुझे क्या चिन्ता, क्योंकि न तो मुझे स्वयं शक्ति चाहिए, न उसकी शक्ति की परीक्षा ही करनी है। मुझे इतना ही काफ़ी है कि मेरा ईश्वर प्रेम-मय है। मुझे अन्य सवाल-जवाबों से क्या करना है।"

प्रेम की दूसरी परीक्षा यह है कि प्रेम भय नहीं जानता। तुम प्रेम को कैसे डरा सकते हो? बकरी और बाघ में कभी प्रेम देखा है, अथवा बिल्ली और चूहे में व मालिक और गुलाम में? गुलाम कभी-कभी प्रेम-भाव प्रदर्शित करते हैं, पर वह क्या सच्चा प्रेम होता है? वह केवल धोखेबाज़ी है। जब तक मनुष्य ईश्वर की इस प्रकार कल्पना करेगा कि वह ऊपर बादलों में एक हाथ में सज़ा और दूसरे में इनाम लिये हुए बैठा है, तब तक उससे प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम के साथ भय अथवा अन्य किसी भयोत्पादक वस्तु का विचार नहीं होता। एक युवती माता का ध्यान कीजिये जो कि गली में कुत्ते के भूँकते ही पास के घर में घुस जाती है, पर दूसरे दिन वह बच्चा लिये हुए है और उस पर शेर झपटता है, अब उसका स्थान कहाँ होगा? बच्चे की रक्षा करते हुए शेर के मुँह में। प्रेम ने भय पर विजय पाई। इसी प्रकार परमात्मा का भी प्रेम होता है। ईश्वर दण्ड देता है कि पारितोषिक देता है—इसकी क्या चिन्ता? प्रेमी इस बात का विचार नहीं करता। जज जब कचहरी से आता है, तब उसकी स्त्री उसे सज़ा या इनाम देनेवाले जज के रूप में नहीं देखती, वरन् उसे अपना स्वामी, अपना प्रियतम समझती है। बच्चे उसे किस रूप में देखते हैं? सज़ा देनेवाले जज के, नहीं, वरन् प्यार करनेवाले पिता के रूप में। इसी प्रकार ईश्वर के भक्त उसे सज़ा व इनाम देनेवाला नहीं समझते। जिन्होंने प्रेम के स्वाद को कभी चक्खा नहीं है, वे ही भय से ग्रस्त हो जाते हैं।

भय को हृदय से दूर कर दो। सज़ा और इनाम देनेवाले ईश्वर के गर्हित विचारों को दूर करो। असभ्य और जङ्गली लोगों के लिये ही वे उपयोगी हो सकते हैं, पर जो आत्म-ज्ञानी हैं, जो धर्म के रहस्य को जानते हैं, तथा जिनके हृदय में अन्तर्दृष्टि उत्पन्न हो चुकी है, उनके लिये ऐसे विचार बिल्कुल बच्चों के से और मूर्खता से भरे हुए हैं। ऐसे पुरुष तो भय को हृदय से बिल्कुल निकाल देते हैं।

तीसरी परीक्षा और भी ऊँची है। प्रेम सर्वोच्च आदर्श है। जब मनुष्य पहली दो परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाता है—सब दूकानदारी और भय छोड़ देता है—तब उसे इस बात का अनुभव होता है कि प्रेम का ही आदर्श सब से ऊँचा है। कितनी ही बार देखा जाता है कि एक बहुत ही सुन्दर स्त्री किसी अत्यन्त कुरूप पुरुष से प्रेम करती है। और कितनी ही बार यह भी देखा जाता है कि एक बहुत ही सुन्दर पुरुष किसी अत्यन्त कुरूप स्त्री से प्रेम करता है। वहाँ उनके लिये आकर्षण क्या है? स्त्री और पुरुष की कुरूपता को पास के अन्य लोग ही देखते हैं, प्रेमी नहीं। अपने लिये वे संसार के सभी जनों से अधिक सुन्दर हैं। ऐसा क्योंकर होता है? जो स्त्री कुरूप पुरुष से प्रेम करती थी उसने अपने सौन्दर्य के आदर्श को मानों उस पर बिठा दिया और जिससे वह प्रेम करती थी, वह कुरूप पुरुष नहीं उसके ही आदर्श की प्रतिच्छाया थी। पुरुष एक इशारा भर था, जिसे उसने अपने आदर्श के आवरण से ढँककर अपनी पूजा की वस्तु बना लिया। जहाँ भी हम प्रेम करते हैं, वहाँ यह दशा होती है।

और सर्वत्र रहनेवाला है। जड और चेतन में, किसी विशेष वस्तु और समस्त विश्व में परमात्मा का प्रेम स्पष्ट है। इसी प्रेम के आवेग के कारण ईसा मनुष्य-जाति के लिए अपनी जीवन आहुति करने के लिए तैयार हो जाता है, बुद्ध एक पशु के लिए, माता बच्चे के लिए तथा पति अपनी स्त्री के लिए मरने को तैयार हो जाती है। यह उसी प्रेम का जोश है, जो मनुष्य स्वदेश के लिए आत्म-बलिदान कर देते हैं और यद्यपि सुनने म विचित्र मालूम होता है, उसी प्रेम के जोश के कारण चोर चोरी करने क लिए और हत्यारा हत्या करने के लिए जाता है, क्योंकि यहाँ पर भी शक्ति वही एक है, केवल भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुई है। संसार में कर्म करने के लिए प्रेरित करनेवाली यही एक मात्र शक्ति है। चोर में भी प्रेम था केवल कुमार्ग में चला गया था। इसलिए सभी पाप तथा पुण्य कार्य इसी शक्ति से प्रेरित होकर किए जाते हैं। मान लो, तुम में से कोई जेब में से एक कागज का टुकडा निकाल कर न्यूयॉर्क के गरीबों के लिए एक सहस्र डालरों का चेक लिख देता है और मैं भी जेब से कागज निकालकर उस पर तुम्हारे जाली हस्ताक्षर बनाने की चेष्टा करता हूँ, तो हम दोनों की प्रेरक शक्ति तो एक ही है, उसके विभिन्न रूपों के उत्तरदायी हम दोनों हैं। दोष उस प्रेरक शक्ति का नहीं है। निर्विकार, पर सब में सदा प्रकाशमान इस संसार की प्रेरक-शक्ति, जिसके बिना एक पल में ही यह संसार कोटि कोटि टुकडे होकर बिखर जायगा, प्रेम है और इसी प्रेम का नाम ईश्वर है।

"हे प्यारे, स्त्री-पति से उसके पति होने के कारण प्यार नहीं करती वरन् उसके भीतर स्वात्मा को देखकर उससे प्रेम करती है, इसी प्रकार कोई पति, पत्नी से उसके पत्नी होने के कारण प्रेम नहीं करता, वरन् उसके भीतर स्वात्मा को देखकर ही प्रेम करता है। किसी न स्वात्मा को छोडकर अन्य से प्रेम नहीं किया।" यह स्वार्थपरता भी, जिसकी इतनी निन्दा की गई है, उसी प्रेम का एक रूप है। अभिनय के बाहर खड़े हो जाओ, उसमें सम्मिलित न होओ, फिर इस विचित्र रंगभूमि को, इस अपूर्व नाटक के दृश्यों को देखो। इस मधुर सगीत को सुनो। एक प्रेम के ही यह सब विविध रूप हैं। इस स्वार्थपरता में भी आत्मा के अनेक भाग हो जायँगे और उन भागों क फिर और भी भाग हो जायँगे। एक आत्मा, एक पुरुष, विवाह करन पर दो, सन्तान होने पर अनेक तथा बढते-बढते गाँव, नगर हो जायगा और फिर भी यहाँ तक बढ़ेगा कि सारा संसार, सारा ब्रह्माण्ड ही उसे स्वात्म-मय दिखाई दने लगेगा। अन्त में उसी आत्मा में आकर सभी पुरुष, स्त्री, बच्चे, पशु-पक्षी सारा ससार ही आकर केन्द्रीभूत हो जायगा। आत्मा बढ़ते-बढ़ते विश्व व्यापी अनन्त प्रेम में परिणत हो जायगी। इसी प्रेम का नाम ईश्वर है।

इस प्रकार रीति-रिवाज़ो, संज्ञाओं और मूर्तियों से नाता तोड देने पर हमें श्रेष्ठ भक्ति और सच्चा प्रेम मिलता है। जो कोई भी इसी सीमा पर पहुँच जाता है, उसके लिये सम्प्रदायों और

उपधर्मों का कोई मूल्य नहीं रहता। सारे सम्प्रदाय और उपधर्म उसी में होते हैं। फिर वह किस विशेष संप्रदाय या धर्म का आश्रय ले? ऐसा पुरुष किसी गिर्जे अथवा मन्दिर में प्रवेश नहीं करता, क्योंकि समस्त गिर्जे व मन्दिर उसीमें हैं। किन्हीं परिमित रीति-रिवाज़ों के बन्धन में वह नहीं पड सकता। उसके प्रवेश करने योग्य गिर्जा कहाँ मिलेगा? निःसीम प्रेम की, जिसमें वह मिल गया है, सीमा कहाँ है? जिन धर्मों ने इस प्रेम के आदर्श को माना है, उनमें उसे शब्दों में व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। यद्यपि हम इस प्रेम का अर्थ समझते हैं और यह जानते हैं कि संसार के सभी प्रेम, वासनायें व इच्छायें इसी अनन्त-प्रेम के नाना रूप हैं, फिर भी देश-देशान्तरों के महात्माओं और ऋषियों ने इसी आदर्श को शब्दों में व्यक्त करने के लिए भाषा की समस्त शब्द-शक्तियों की परीक्षा कर डाली है, यहाँ तक कि अधम से अधम शब्दों का भी रूपान्तर होने से उनका एक नवीन ही अर्थ निकल आया है।

"प्रियतम, तेरे अधरों का एक मधुर-चुम्बन जिसने पा लिया है, उसकी तुझे पाने की पिपासा बढती ही जाती है। सभी दुखों का अन्त हो जाता है और वह भूत, भविष्य और वर्तमान, सभी की सुधि भूल केवल तेरे ध्यान में मग्न हो जाता है।" यह यहूदी राज-ऋषि (सुलेमान) का गीत था और यही गीत भारत के महर्षियों का भी है। जब सब यामनाओं का अन्त हो जाता है, तब प्रेमी को ऐसा ही उन्माद हो जाता है। मोक्ष की, मुक्ति की,

सम्पूर्णता प्राप्त करने की भी किसे चाह रहती है। प्रेमी कहता है, स्वतन्त्रता की मुझे क्या चिन्ता ?

मुझे धन, सौन्दर्य, प्रतिभा और आरोग्यता भी नहीं चाहिए। संसार की घोर-से-घोर बुराइयों के बीच में तू मुझे जन्म दे, मैं कुछ न कहूँगा, पर मुझे तू प्यार करने दे और वह भी केवल प्यार के लिए। इन गीतों में (सुलेमान के गीतों में) प्रेमी का यही उन्माद भरा हुआ है। सबसे ऊँचा, भावुकता से भरा हुआ, बहुत दृढ़ और अत्यन्त आकर्षण-युक्त स्त्री-पुरुष का प्रेम होता है, इसीलिए उस प्रेम की भाषा का प्रयोग इन गीतों में भी किया गया है। स्त्री-पुरुष के प्रेम का उन्माद ही आत्मिक प्रेमी के उन्माद की कुछ क्षीण प्रतिध्वनि है। आत्मिक प्रेमी वे होते हैं, जो परमात्मा के प्रेम में रँग कर पागल हो जाते हैं। वह मीठी मदिरा, जिसे प्रत्येक धर्म के महात्माओं व ऋषियों ने बनाया है जिसमें ईश्वर के अनन्य भक्तों ने अपना हृदय-रक्त घोल दिया है, जिसमें उन सब निःस्वार्थ प्रेमियों की आशायें बुल्लों के समान उठ रही हैं, जिन्होंने फलाशा त्याग सत्य-प्रेम पाने की ही आशा से प्रेम किया था, उसी मीठी मदिरा का प्याला ईश्वर के प्रेमी पीना चाहते हैं। उन्हें प्रेम छोड़ अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं। प्रेम का फल प्रेम है, पर वह कैसा सुन्दर फल है ! प्रेम ही एक वस्तु है, जो हमारे सारे दुःखों को दूर कर सकती है तथा प्रेम ही वह मदिरा है, जिसे पीने से इस संसार के क्लेश नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य में अलौकिक पागलपन आ जाता है। वह भूल जाता है कि मैं मर्त्य मनुष्य हूँ।

अन्त में हम देखते हैं कि ससार के सभी धर्मों का लक्ष्य केवल एक है—आत्मा और परमात्मा का पूर्ण मिलन। आरम्भ में सदा हमें द्वन्द का भेद-ज्ञान रहता है, परमात्मा और जीव हमें अलग-अलग मालूम पडते हैं। जब मनुष्य के हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है, तब वह परमेश्वर की ओर बढने लगता है और परमेश्वर भी मानों उससे मिलने के लिये आगे बढ़ता आता है। मनुष्य-जीवन के सभी नाते निबाहता है, जैसे—पिता, माता, मित्र और प्रेमी, क्रम से वह इन सबके कार्य करता है। अन्त में वह उपास्य वस्तु में मिलकर एक हो जाता है। मैं-तुम का भेद मिट जाता है। अपनी पूजा करने से मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ और तुम्हारी पूजा करने से अपनी। मनुष्य ने जिस कार्य का आरम्भ किया था, उसका यहाँ अन्त होगया। जहाँ पर श्री हुई थी, वहीं पर इति भी हुई। प्रारम्भ में प्रेम अपने लिए ही था इसलिए स्वार्थी था। अन्त में सत्य-ज्योति के दर्शन होने पर आत्मा परमात्मा में मिल गई। वही ईश्वर जो पहले कहीं पर बैठा हुआ एक व्यक्ति प्रतीत होता था, अब सहसा मानों अनन्त प्रेम में परिवर्तित हो गया। मनुष्य की भी काया-पलट होगई। वह परमात्मा के समीप पहुँच रहा था और अपनी सांसारिक इच्छाओं और वासनाओं को छोड रहा था। इच्छाओं के साथ स्वार्थ भी नष्ट होगया और चरम सीमा पर पहुँचकर उपासना, उपासक और उपास्य तीनों एक होगये।

—

वेदान्त

[लाहौर में १२ नवम्बर सन् १८९७ ई० को दिया हुआ व्याख्यान]

हमारे रहने के दो ससार हैं—एक आन्तरिक दूसरा वाह्य। प्राचीनकाल से उन्नति प्राय दोनों ही ससारों में समानरूप से हुई है। सत्य की खोज पहले वाह्य ससार में आरम्भ हुई। गूढ़-से-गूढ़ प्रश्नों का उत्तर मनुष्य ने वाहरी प्रकृति से ही पाना चाहा। उसने अपनी अनन्त सौन्दर्य और चिदानन्द की तृष्णा को वहिर्प्रकृति से ही बुझाना चाहा तथा अपनी आत्मा और अपनी भावनाओं को भौतिक ससार की भाषा में ही व्यक्त करना चाहा और उसे अपनी खोज के सुन्दर फल भी मिले। ईश्वर और उसके अगाध सौन्दर्य की अनुपम कविता उत्पन्न हुई। वाह्य प्रकृति ने अत्यन्त कवित्व-मय विचारों को जन्म दिया, पर वाद को मनुष्य ने एक इससे भी अधिक सुन्दर, कवित्व-मय तथा कहीं अधिक विस्तृत ससार को खोज निकाला। वेदों के कर्म-काण्ड भाग में धर्म के अद्भुत विचारों का वर्णन किया गया है, एक सर्व-शासक स्रष्टा, पालक और नाश करनेवाले परमात्मा की महिमा का वखान किया गया है तथा इस ब्रह्माण्ड का आत्मा को हिला देने वाली भाषा में चित्र खींचा गया है। आप लोगों में से

बहुतों को ऋग्वेद-संहिता के उस अनुपम श्लोक का स्मरण होगा, जिसमें प्रलय का वर्णन किया गया है तथा जो शायद प्रलय के सभी वर्णनों से उत्कृष्ट है। यह सब होते हुए भी यह केवल वाह्य सौन्दर्य का चित्रण है, अत हमें उसमें कुछ स्थूलता व कुछ भौतिकता अवश्य दिखाई देती है। यह अनन्त का सान्त की भाषा में वर्णन है। यह अनन्त भी शरीर का है, न कि आत्मा का, स्थूल प्रकृति का न कि सूक्ष्म अन्तर्ज्योति का। अत दूसरे भाग ज्ञान-काण्ड में एक दूसरे ही मार्ग का अनुसरण किया गया है। पहले सत्य की खोज वाह्य-प्रकृति में की गई थी। जीवन की गहन-से-गहन समस्याओं का उत्तर भौतिक प्रकृति से पाने की चेष्टा की गई थी।"

"यस्यायिते हिमवान्तो महत्त्वम्।"

"जिसके गौरव का हिमालय बखान कर रहे हैं।" यह बहुत ही सुन्दर विचार है फिर भी भारतवर्ष के लिये काफ़ी सुन्दर न था। भारतीय मस्तिष्क ने अपने ही भीतर दृष्टि डाली। खोज वाह्य से आन्तरिक में, भौतिक से आत्मिक में आरम्भ हुई। "अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इत्यादि की पुकार आरंभ हुई। जब मनुष्य मर जाता है, तो उसका क्या होता है?"

"कोई कहते हैं कि वह रहता है, कोई कहते हैं कि नहीं रहता। ह मृत्यु, बोल, सत्य क्या है?" यहाँ पर हम देखते हैं कि मार्ग बिल्कुल ही भिन्न हो गया है। वाह्य-प्रकृति से जो मिल सकता था, भारतीय मस्तिष्क ने उसे ले लिया; पर इससे उसे सन्तोष

न हुआ। उसने अपने भीतर, अपनी आत्मा में ही और भी खोज करनी चाही और उसे उत्तर मिला।

उपनिषद्, वेदान्त, अरण्यक और रहस्य, वेदों के इसी भाग का नाम है। यहाँ पर धर्म ने भौतिकता से बिलकुल ही नाता तोड दिया है। यहाँ पर आत्मज्ञान का ससार की भाषा में नहीं, वरन आत्मा का आत्मा की ही भाषा में, अनन्त का अनन्त की ही भाषा में वर्णन किया गया है। अब इस कविता में तनिक भी स्थूलता नहीं, भौतिकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उपनिषदों के प्रतिभाशाली महर्षियों ने कल्पनातीत निर्भयता के साथ, बिना किसी हिचक के मनुष्य-जाति में सुन्दर से सुन्दर सत्यों की दृढ घोषणा की है। हे मेरे देश-वासियो, उन्हीं सत्यों को मैं तुम्हारे सम्मुख रखना चाहता हूँ, पर वेदों का ज्ञान-काण्ड एक विशाल सागर है। उसके थोडे से भी भाग को समझने के लिये कई जीवनों की आवश्यकता है। रामानुज ने उपनिषदों के बारे में सत्य ही कहा है कि वेदान्त वेदों का स्कन्ध और उन्नत शीश भाग है। उपनिषद् ही हमारे देश की बाइबिल हैं। हिन्दुओं के हृदय मे वेदान्त के कर्म-काण्ड भाग के लिये असीम सम्मान है, पर पीढियों से सभी व्यावहारिक कार्यों के लिये श्रुति अर्थात् उपनिषदों और केवल उपनिषदों से ही काम लिया गया है। हमारे सभी बड़े दार्शनिकों ने, चाहे वह व्यास हों, चाहे पातञ्जलि, चाहे गौतम, चाहे सभी दर्शनों के पितामह कपिल ही क्यों न हों, जिन्हें कभी किसी बात के लिये प्रमाण

देने की आवश्यकता पडी है, तो उन्होंने उपनिषदों का ही आश्रय लिया है। उपनिषदों में ही उन्हें सब प्रमाण मिले हैं, क्योंकि उपनिषदों में ही हमारे भारतीय ऋषियों ने अमिट और अनमोल सत्यों का प्रतिपादन किया है।

उनमें कुछ सत्य ऐसे हैं, जो देश-काल के अनुसार किन्हीं विशेष दशाओं में ही सत्य हैं तथा अन्य सत्य ऐसे हैं, जो अपनी सत्यता के लिए मनुष्य-प्रकृति पर ही निर्भर हैं और तब तक अमर सत्य रहेंगे, जब तक कि मनुष्य है। ये वे सत्य हैं, जो सर्वदेशीय और सर्व-कालीन हैं। भारतवर्ष मे खान-पान, रहन-सहन, पूजा-उपासना आदि के अनन्त सामाजिक परिवर्तनों क होने पर भी हमारी श्रुतियों के अलौकिक सत्य, वेदान्त क ये अमर विचार आज भी सदा की भाँति अपने महान् कवित्व क साथ अजेय और अजर-अमर स्थिर हैं। फिर भी उपनिषदों में जिन विचारों का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है, मूल रूप म उनका वर्णन कर्म-काण्ड में पहिले ही किया गया है। ब्रह्माण्ड का विचार, जिसमें सभी वेदान्तियों को विश्वास है तथा व विचार जो सभी दर्शनों की समान रूप से नींव हैं, पहिले से ही वहाँ विद्यमान हैं। इसलिये वेदों क गूढ भागों में जान के पहले ही मैं इस कर्म-काण्ड भाग के विषय में दो शब्द कह देना चाहता हूँ। पहिले मैं वेदान्त शब्द का अर्थ ही साफ़-साफ़ बताता हूँ। अभाग्यवश आज-कल बहुत से लोग समझते हैं कि वेदान्त का अर्थ केवल अद्वैत-वाद से है, पर आप लोगों को ध्यान रखना चाहिए

कि अध्ययन के लिये हमारे यहाँ तीन प्रस्थान हैं। सबसे पहिले उपनिषद् हैं, जो कि ईश्वर की साक्षात् प्रेरणा से लिखे हुए समझे जाते हैं, फिर हमारे दर्शनों में व्यास के सूत्र हैं, जो कि सभी प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों की समष्टि होने के कारण बहुत प्रख्यात हैं। वे एक दूसरे के विरुद्ध नहीं, वरन् एक ही विकास पाते हुए सिद्धान्त के नाना रूप हैं। इसी विकास का अन्त व्यास के सूत्रों में हुआ है। उपनिषदों के और सूत्रों के, जिनमें वेदान्त के सुन्दर सत्यों का स्पष्ट और क्रमानुसार संग्रह है, बीच में वेदान्त की अलौकिक व्याख्या श्री गीता का स्थान है। चाहे द्वैतवादी हो, चाहे अद्वैतवादी हो, चाहे वैष्णव हो, चाहे शैव हो, भारतवर्ष के सभी सम्प्रदायों ने अपनी सत्यता सिद्ध करने के लिये इन्हीं तीन उपनिषद्, गीता और व्यास-सूत्रों में से ही प्रमाण दिए हैं। शङ्कराचार्य, रामानुज, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य—जिस किसी ने भी अपना नया धर्म चलाना चाहा है, उसी ने इन्हीं तीन विचार-व्यवस्थाओं पर अपनी एक नई व्याख्या लिख डाली है। अतएव उपनिषदों से उत्पन्न किसी विशेष विचार-व्यवस्था को ही वेदान्त का नाम देना अनुचित होगा। वेदान्त में यह सभी व्यवस्थाएँ आ जाती हैं। एक रामानुज-सम्प्रदायी अपने-आपको उतना ही वेदान्ती कह सकता है, जितना कि एक अद्वैत-वादी। यही नहीं मैं तो इससे भी एक क़दम आगे बढ़कर यह कहूँगा कि 'हिन्दू' से हमारा अर्थ वेदान्ती से ही होता है। वेदान्ती कहने से भी हिन्दू का बोध होता है। आप लोगों को

ध्रुव-तारा दिखाना होता है, तो पास का खूब चमकता हुआ तारा उसे दिखाया जाता है और फिर क्रमश ध्रुव-तारा। यही क्रम हमारा भी होगा और मुझे अपने विचार को सत्य सिद्ध करने के लिए आप लोगों के सामने केवल उपनिषदों को रखना होगा। प्राय प्रत्येक अध्याय का आरम्भ द्वैत-वादी उपासना से होता है। इसके बाद ईश्वर सृष्टि का सृजन करनेवाला, उसका पोषक तथा जिसमें वह अन्त में लय हो जाता है, ऐसा बताया जाता है। बाह्य और अन्तर्प्रकृति का स्वामी विश्व का वह उपास्य देवता बताया जाता है, फिर भी मानों उसका अस्तित्व प्रकृति से कहीं बाहर हो। इससे एक पग आगे बढने पर हम उसी गुरु को यह बताते पाते हैं कि ईश्वर प्रकृति से परे नहीं, वरन् उसी में अन्तर्व्याप्त है। अन्त में यह दोनों ही विचार छोड दिये जाते हैं और जो कुछ भी सत्य है, वही ईश्वर बताया जाता है। कोई अन्तर नहीं रहता। "तत्त्वमसि श्वेतकेतो!" अन्त में यह बताया जाता है कि मनुष्य की आत्मा और वह सर्व-व्यापी एक ही है।" "श्वेतकेतु, वह तू ही है।" यहाँ पर कोई समझौता नहीं किया गया है। दूसरे के मिथ्या विचारों से कोई सहानुभूति नहीं दिखाई गई। सत्य, दृढ़ सत्य को निर्द्वन्द भाषा में घोषणा की गई है और उस दृढ़ सत्य की आज भी उसी निर्द्वन्द भाषा में घोषणा करने में हमें भयभीत न होना चाहिए। ईश्वर की कृपा से मैं समझता हूँ कि उस सत्य के निर्भयता-पूर्वक प्रचार करने का साहस मुझ में है।

अच्छा, अब जहाँ से आरम्भ किया था, समझने की पहिले दो बातें हैं—एक तो सभी वेदान्त-वादियों की समान विचार-प्रणाली, दूसरी संसार और सृष्टि आदि के विषय में उनके पृथक्-पृथक् विचार। आधुनिक विज्ञान के नव-नव आविष्कार और नई-नई खोजें आकाश से गिरनेवाली बिजलियों के समान आपको चकित कर देती हैं। जिन बातों को आपने स्वप्न में भी न सोचा था, वे ही आँखों के सामने आती हैं, पर जिसे 'फ़ोर्स' वा शक्ति कहा जाता है, मनुष्य ने उसे बहुत दिनों पहिले ही ढूँढ निकाला था। यह तो अभी कल ही जाना गया है कि विभिन्न शक्तियों में भी एकता है। मनुष्य ने हाल ही में पता लगाया है कि जिन्हें वह 'हीट' (गर्मी), मैग्नेटिज्म (आकर्षण), एलेक्ट्रि-सिटी (विद्युत्) आदि नामों से पुकारता है, वे सब एकही 'यूनिट फोर्स' (एक शक्ति) के नाना रूप हैं, आप उसे चाहे जो नाम दें। यह विचार संहिता में हो है। संहिता की ही भाँति प्राचीन यह शक्ति वा 'फोर्स' का विचार है। सभी शक्तियाँ, उन्हें आकर्षण, प्रत्याकर्षण, विद्युत्, गर्मी आदि चाहे जिन नामों से पुकारो, वे सब कुछ नहीं हैं, एक पग भी आगे नहीं। या तो वे अन्त करण से उत्पन्न विचारों के रूप में प्रकट होती हैं अथवा मनुष्य की अन्तरिन्द्रियों के रूप में जिनकी प्रजनन-शक्ति एक 'प्राण, है। फिर प्राण क्या है? प्राण स्पन्दन है। प्रलय क अनन्तर जब यह समस्त ब्रह्माण्ड अपने आदि रूप में हो जायगा, तब इस अनन्तशक्ति का क्या होगा? क्या उसका अन्त हो

जायगा ? ऐसा, तो हो नहीं सकता। यदि उसका अन्त हो जावे, तो दूसरी शक्ति-धारा का कारण क्या होगा, क्योंकि शक्ति तरंगों के समान ऊपर-नीचे उठती-गिरती रहती है ? ब्रह्माण्ड के इस क्रम का 'सृष्टि' शब्द से बोध होता है। ध्यान रखिये सृष्टि का अर्थ बनाने से नहीं है। (अँग्रेज़ी में भाषण देने से इस समय बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है, फिर भी मुझे किसी प्रकार संस्कृत शब्दों का रूपान्तर करना ही होगा।) सृष्टि का अर्थ है—उत्थान पतन। प्रत्येक पदार्थ विकसित होते हुए अपनी चरम दशा पर पहुँचकर फिर अपने आदि रूप को प्राप्त होता है, जहाँ पर कुछ देर के लिये स्थिर हो वह पुन उत्थान के लिये तैयार होता है। इसी क्रम का नाम सृष्टि है। फिर इन शक्तियों का, प्राणों का क्या होता है ? वे आदि प्राण में लय हो जात हैं और वह प्राण प्राय' स्थिर हो जाता है—बिल्कुल ही स्थिर तो नहीं पर प्राय' स्थिर हो जाता है और सूक्त में इसीका वर्णन किया गया है। बिना स्पन्दन के उसमें स्पन्दन हुआ, अनादियत् ! उपनिषदों में बहुत से पाठ हैं, जिनका अर्थ लगाना बहुत कठिन है, खासकर उनके विशेष शब्दों के प्रयोग में। उदाहरण के लिए वायु शब्द को लीजिए। कभी इसका अर्थ होता है, हवा और कभी होता है गति। बहुधा लोग एक के स्थान में दूसरे का अर्थ लगा लेते हैं। इस बात का हमें ध्यान रखना होगा। "वह उस रूप में स्थित था और जिसे तुम भौतिक प्रकृति कहते हो, उसका क्या होता है ? सभी प्रकृति शक्तियों से व्याप्त है, जो कि हवा में लय हो जाती

है। उसीमें से वे पुन निकलती हैं और सबसे पहिले 'आकाश' निकलता है। आप उसे 'ईथर' आदि चाहे जो नाम दें, सिद्धान्त यह है कि प्रकृति का आदि रूप यही 'आकाश' है। जब प्राण की क्रिया आकाश पर होती है, तब उसमें स्पन्दन होता है और जब दूसरी सृष्टि होने को होती है, तब यही स्पन्दन तीव्रतर हो जाता है और फिर आकाश शत-शत तरंगों में विभक्त हो जाता है, जिन्हें हम सूर्य, चन्द्र आदि नामों से पुकारते हैं।

"यदिदम् किञ्च जगत् सर्वम् प्राण एजाति नि सृतम्।"

"प्राणों के निस्पन्दन से ही सृष्टि का जन्म हुआ है।" 'एजाति' शब्द पर आपको ध्यान देना चाहिए, क्योंकि वह 'एज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—स्पन्दन करना। नि सृतम्—निकली है, यदिदम् किञ्च—जो कुछ भी यह ब्रह्माण्ड है।

यह सृष्टि-क्रम का एक भाग है। इसमें और भी बहुत सी बारीकियाँ हैं। जैसे इस क्रिया का सपूर्ण वर्णन—किस प्रकार पहिले आकाश उत्पन्न होता है, फिर उसमें से अन्य पदार्थ किस प्रकार आकाश मे स्पन्दन होता है और उसमें से वायु उत्पन्न होती है, पर मुख्य विचार यहाँ पर यह है कि स्थूल की सूक्ष्म से उत्पत्ति होती है। स्थूल प्रकृति वाह्य है और इसकी सबसे बाद उत्पत्ति हुई है, इसके पहिले सूक्ष्म प्रकृति थी। एक के ही दो रूप हो जाते हैं, जिनमें कोई समान ऐक्य दिखाई नहीं देता, पर उनमें प्राण की एकता है और आकाश की भी। क्या और भी किसी की एकता है? क्या वे एक में मिल सकते हैं? हमारी

साहस यहीं पर चुप रहती है। उसे अभी अपना मार्ग नहीं मिला और मिलेगा, तो यही उपनिषदोंवाला जिस प्रकार कि उसे हमारे प्राचीन 'प्राण' और 'आकाश' मिल चुके हैं। दूसरी एकता उन निर्गुण सर्व-व्यापी की है, जिसका नाम 'महत्' है तथा जिसे पुराणों में चतुर्मुख ब्रह्मा कहा गया है। यहाँ पर उन दोनों का मिलन होता है। जो तुम्हारा 'मस्तिष्क' है, वह इसी महत् का एक क्षुद्रतम भाग है और सभी मस्तिष्कों के जोड़ को समष्टि कहते हैं, पर अभी खोज पूरी नहीं हुई। यहाँ पर, हम लोग छोटे परमाणुओं के समान हैं, जिनकी समष्टि ही यह ब्रह्माण्ड है पर जो कुछ व्यष्टि में हो रहा है, हम बिना किसी भय के अनुमान कर सकते हैं कि बाहर भी वैसा ही होता होगा। यदि अपने मस्तिष्क की क्रियाओं के निराकरण करने की शक्ति हम में होती, तो शायद हम जान पाते कि उनमें भी वैसा ही हो रहा है, पर प्रश्न यह है कि यह मस्तिष्क है क्या? वर्तमान समय में पाश्चात्य देशों में जब पदार्थ-विज्ञान आशातीत उन्नति करता हुआ पुराने धर्मों के किले पर किले जीतता चला जाता है, वहाँ के लोगों को स्थिर रहने का स्थान नहीं मिलता, क्योंकि पदार्थ-विज्ञान ने प्रति पग पर मस्तिष्क और दिमाग को एक बतलाया है, जिससे उन्हें बड़ी निराशा हुई है, पर हम भारतवासी तो यह रहस्य सदा से जानते थे। हिन्दू बालक को सबसे पहिले यही सीखना होता था कि मस्तिष्क भौतिक प्रकृति का ही एक अधिक सूक्ष्म रूप है। बाह्य शरीर तो स्थूल है, उसके भीतर सूक्ष्म शरीर है। यह भी

भौतिक है, पर अधिक सूक्ष्म है, पर 'आत्मा' फिर भी नहीं है। (इस शब्द का मैं आप लोगों के लिए अंग्रेज़ी में रूपान्तर न करूँगा, क्योंकि इसका विचार यूरोप में है ही नहीं। इसका रूपान्तर हो ही नहीं सकता। जर्मन दार्शनिकों ने उसका रूपान्तर 'सेल्फ़' शब्द से किया है, पर जब तक वह सर्व-मान्य न हो जावे, उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। अत उसे 'सेल्फ़' आदि चाहे जिन नामों से पुकारिये, है वह यही हमारी 'आत्मा') स्थूल शरीर के पीछे यह आत्मा ही वास्तविक मनुष्य है। आत्मा ही स्थूल मस्तिष्क से, अन्त करण से, (जो कि उसका विशेष नाम है) काम कराती है। और मस्तिष्क अन्तरिन्द्रियों के द्वारा हमारी बहिरिन्द्रियों से काम करता है। यह मस्तिष्क क्या है? पाश्चात्य दार्शनिकों ने तो अभी कल ही जान पाया है कि आँखें ही देखने की वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं, वरन् इनके पीछे वे अन्तरिन्द्रियाँ हैं, जिनके नष्ट होने पर हमारे यदि इन्द्र के समान सहस्र आँखें भी हों फिर भी हम देख न सकेंगे। यहां तो, तुम्हारा सारा दार्शनिक विचार ही यह सिद्धान्त मानकर आरम्भ होता है कि आँखों की दृष्टि सच्ची दृष्टि नहीं है। सच्ची दृष्टि तो मस्तिष्क की अन्तरिन्द्रियों की है। उन्हें आप जो चाहें कहें, पर बात असली यह है कि हमारे नाक, कान, आँखें आदि हमारी वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं। सभी इन्द्रियों और मानस, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार का मिलाकर नाम मस्तिष्क है। अत यदि वर्तमान वैज्ञानिक तुमसे आकर कहता है कि मनुष्य का दिमाग

ही मस्तिष्क है और इतनी इन्द्रियों से बना है, तो तुम उससे कह दो कि हमारे यहाँ के विद्वान् यह हमेशा से ही जानते थे, हमारे धर्म का तो यह क, ख, ग, घ ही है।

अच्छा, तो अब समझना यह है कि मानस, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि का क्या अर्थ है। पहिले चित्त—यही मस्तिष्क है। महत् का यही एक भाग है। मस्तिष्क और उसकी सभी दशाओं का बोध चित्त से होता है। मान लीजिये एक झील है, जो कि संध्या समय बिल्कुल ही शान्त है, उसमें एक छोटी सी भी लहर नहीं उठती। समझिये यही चित्त है। अब यदि उसमें कोई छोटा सा पत्थर फेंकता है, तो क्या होता है? पहिले पानी में पत्थर लगने की क्रिया होती है, फिर पानी में ही पत्थर के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है, जो कि एक लहर का रूप ले लेती है। पहिले तो पानी में थोडा सा स्पन्दन होता है, फिर शीघ्र ही प्रतिक्रिया होती है, जो कि लहर बन जाती है। हमारा चित्त इसी झील के समान है और बाह्य पदार्थ उसमें फेंके हुए पत्थरों के समान हैं। जैसे ही उसका इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों से संयोग होता है, बाह्य पदार्थों को अन्दर ले जाने के लिये वहाँ इन्द्रियाँ जरूर होनी चाहिए। तब वहाँ स्पन्दन होता है, जिसका नाम मानस, अनिश्चित् है। इसके पश्चात् प्रतिक्रिया या निश्चय करनेवाली शक्ति बुद्धि होती है और [illegible] साथ [illegible] और बहिर्पदार्थ का ज्ञान उत्प[illegible] । न है [illegible] हाथ पर एक मक्खी बैठी है इन्द्रियाँ [illegible] उसे है

थोडी सनसनी पहुँचती है और उसमें थोडा स्पन्दन होता है। यह अनिश्चित् मानस है। इसके अनन्तर ही प्रतिक्रिया होती है और इसका ज्ञान होता है कि मेरे हाथ पर एक मसा बैठा है, जिसे मुझे उडाना होगा। इसी प्रकार चित्त-रूपी झील में पत्थर फेंके जाते हैं, अन्तर केवल इतना है कि झील में पत्थर बाहर से ही फेंके जाते हैं, चित्त में भीतर से भी फेंके जा सकते हैं। इसी का नाम अन्त करण है। साथ ही इसके आपको एक बात और समझ लेनी चाहिए, जो आपको अद्वैतवाद समझने मे सहायता देगी। आपमें से बहुतों ने मोती देखे होंगे और बहुतों को मालूम भी होगा कि मोती किस प्रकार बनते हैं। सीप के मुँह में कोई बालू का कण चला जाता है, जिससे उसके उदर में पीडा उत्पन्न होती है। सीप के शरीर में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप वह बालू पर अपना रस गिरा देती है। वही इकट्ठा और कठोर होकर मोती बन जाता है। यह ब्रह्माण्ड भी उसी मोती के समान है। उसके बनानेवाले हमी हैं। बाह्य ससार से हमारे चित्त में केवल थपेड लगती है, जिससे उसमें प्रतिक्रिया होती है और जब बुद्धि कार्य करती है, तब हम उस बाह्य ससार को जान पाते हैं। इस प्रकार संसार का जो हमारे मस्तिष्क में प्रतिबिम्ब स्थिर होता है, उसे ही हम ससार समझते हैं। उसके आकार-प्रकार को हमारे मस्तिष्क ने ही निश्चित किया हैं। इसलिये आजकल के वैज्ञानिक दिनों में बाह्य ससार को, यथार्थता में कट्टर विश्वास करनेवालों को ने

इसमें शङ्का न होगी कि यदि संसार 'क' है, तो जो हम जानते हैं वह 'क' धन मस्तिष्क है और मस्तिष्क-भाग इतना विशद है कि उसने समस्त 'क' को ढँक लिया है। पर 'क' अज्ञात् और अज्ञेय है। अज्ञात् अज्ञेय बाह्य संसार के विषय में जो कुछ हम जानते हैं, वह हमारे मस्तिष्क का ही गढ़ा हुआ है। इसी प्रकार आन्तरिक संसार में हमारी 'आत्मा' के विषय में भी। आत्मा को जानने के लिए उसे मस्तिष्क द्वारा ही जानना होगा और जो कुछ थोड़ा भी हम आत्मा के विषय में जानते हैं, वह आत्मा धन मस्तिष्क है, अर्थात् आत्मा जैसा कि उसे मस्तिष्क ने गढ़ा और कल्पित किया है। उस विषय को हम लोग फिर लेंगे, पर अभी इतना याद रखना चाहिये।

दूसरी बात समझने की यह है। प्रश्न उठा कि यह शरीर भौतिक प्रकृति की सतत बहती हुई धारा है। प्रतिक्षण हम उसमें कुछ-न-कुछ जोड़ते जाते हैं और प्रतिक्षण ही उसमें से कुछ-न-कुछ निकलता जाता है, जिस प्रकार की एक बहती हुई विशाल नदी में सैकड़ों मन पानी पल-पल में अपना स्थान बदलता रहता है। इस समस्त भ्रम की कल्पना कर हम उसे 'नदी' का नाम देते हैं। पर नदी है क्या? प्रतिक्षण तो पानी बदलता रहता है, [illegible] बदलते रहते हैं, किनारे के वृक्ष, फल, फूल, पत्ते सभी बदलते रहते हैं। फिर नदी कहाँ है? नदी इसी परिवर्तन मात्र का नाम है, इसी प्रकार मस्तिष्क भी। यह धोखों का सामूहिक विज्ञान मात्र है, जोकि समझने में बड़ा कठिन है, पर जिसका निराकरण

अत्यन्त तर्क और न्याय के साथ किया ग या है। भारतवर्ष में ही वेदान्त क कुछ भागों के विरोध में इसका जन्म हुआ था। इसका भी उत्तर देना था और हम देखेंगे किस प्रकार इसका उत्तर केवल अद्वैत-वाद ही दे सका था। हम देखेंगे किस प्रकार अद्वैत-वाद के विषय में लोगों के विचित्र और भयान्वित विचारों के होते हुए भी अद्वैत-वाद ही समार का मुक्ति-मार्ग है, क्योंकि न्याय और तर्क के साथ ससार की समस्याओं का उत्तर उसीमें है। द्वैत-वाद आदि उपासना के लिए बहुत अच्छे हैं, मानव-हृदय को सन्तोष दते हैं, और शायद आत्म-ज्ञान की उन्नति में भी थोडी-बहुत सहायता देते हैं, पर यदि मनुष्य धर्म को न्याय और तर्क के साथ ही मानना चाहता है, तो उसके लिए ससार में अद्वैत-वाद ही एक धर्म है। अच्छा तो, मस्तिष्क एक नदी के समान है, जो एक सिरे पर निरन्तर भरा करती है और दूसरे सिरे पर खाली होती रहती है। वह एकता कहाँ है, जिसे हम आत्मा कहते हैं? विचार यह था कि शरीर और मस्तिष्क में सतत परिवर्तन होने पर भी ससार के विषय में हमारे विचार परिवर्तन-शील हैं। कई दिशाओं से आती हुई प्रकाश की किरणों, यदि किसी पर्दे या दीवाल या अन्य किसी वस्तु पर, जोकि परिवर्तन-शील न हों, गिरें, तभी वे एकता और सम्पूर्णता प्राप्त कर सकती हैं। इसी प्रकार वह स्थान कौनसा है, जहाँ पर मानव इन्द्रियों के केन्द्रीभूत होने से उसके सभी विचार एकता और सम्पूर्णता को प्राप्त होंगे? यह स्थान मस्तिष्क तो हो नहीं सकता, क्योंकि मस्तिष्क में भी

इसमें शङ्का न होगी कि यदि संसार 'क' है, तो जो हम जानते हैं वह 'क' धन मस्तिष्क है और मस्तिष्क-भाग इतना विराट है कि उसने समस्त 'क' को ढँक लिया है। पर 'क' अज्ञात् और अज्ञेय है। अज्ञात् अज्ञेय बाह्य संसार के विषय में जो कुछ हम जानते हैं, वह हमारे मस्तिष्क का ही गढ़ा हुआ है। इसी प्रकार आन्तरिक संसार में हमारी 'आत्मा' के विषय में भी। आत्मा को जानने के लिए उसे मस्तिष्क द्वारा ही जानना होगा और जो कुछ थोडा भी हम आत्मा के विषय में जानते हैं, वह आत्मा धन मस्तिष्क है, अर्थात् आत्मा जैसा कि उसे मस्तिष्क ने गढा और कल्पित किया है। इस विषय को हम लोग फिर लेंगे, पर अभी इतना याद रखना चाहिये।

दूसरी बात समझने की यह है। प्रश्न उठा कि यह शरीर भौतिक प्रकृति की सतत बहती हुई धारा है। प्रतिक्षण हम उसमें कुछ-न-कुछ जोडते जाते हैं और प्रतिक्षण ही उसमें से कुछ-न-कुछ निकलता जाता है, जिस प्रकार की एक बहती हुई विशाल नदी में सैकडों मन पानी पल-पल में अपना स्थान बदलता रहता है। इस समस्त अंग की कल्पना कर हम उसे 'नदी' का नाम देते हैं। पर नदी है क्या? प्रतिक्षण तो पानी बदलता रहता है, तट बदलते रहते हैं, किनारे के वृक्ष, फल, फूल, पत्ते सभी बदलते रहते हैं। फिर नदी कहाँ है? नदी इसी परिवर्तन क्रम का नाम है, इसी प्रकार मस्तिष्क भी। यह थोड़ों का क्षणिक विज्ञान-मात्र है, जोकि समझने में बड़ा कठिन है, पर जिसका अस्तित्व

अत्यन्त तर्क और न्याय के साथ किया गया है। भारतवर्ष में ही वेदान्त के कुछ भागों के विरोध में इसका जन्म हुआ था। इसका भी उत्तर देना था और हम देखेंगे किस प्रकार इसका उत्तर केवल अद्वैत-वाद ही दे सका था। हम देखेंगे किस प्रकार अद्वैत-वाद के विषय में लोगों के विचित्र और भयान्वित विचारों के होते हुए भी अद्वैत-वाद ही संसार का मुक्ति-मार्ग है, क्योंकि न्याय और तर्क के साथ ससार की समस्याओं का उत्तर उसीमें है। द्वैत-वाद आदि उपासना के लिए बहुत अच्छे हैं, मानव-हृदय को सन्तोष देते हैं, और शायद आत्म-ज्ञान की उन्नति में भी थोडा-बहुत सहायता देते हैं, पर यदि मनुष्य धर्म को न्याय और तर्क के साथ ही मानना चाहता है, तो उसके लिए ससार में अद्वैत-वाद ही एक धर्म है। अच्छा तो, मस्तिष्क एक नदी के समान है, जो एक सिरे पर निरन्तर भरा करती है और दूसरे सिरे पर खाली होती रहती है। वह एकता कहाँ है, जिसे हम आत्मा कहते हैं? विचार यह था कि शरीर और मस्तिष्क में सतत परिवर्तन होने पर भी ससार के विषय मे हमारे विचार परिवर्तन-शील हैं। कई दिशाओं से आती हुई प्रकाश की किरणें, यदि किसी पर्दे या दीवाल या अन्य किसी वस्तु पर, जोकि परिवर्तन शील न हो, गिरें, तभी वे एकता और सम्पूर्णता प्राप्त कर सकती हैं। इसी प्रकार वह स्थान कौनसा है, जहाँ पर मानव इन्द्रियों के केन्द्रीभूत होने से उसके सभी विचार एकता और सम्पूर्णता को प्राप्त होंगे? यह स्थान मस्तिष्क तो हो नहीं सकता, क्योंकि मस्तिष्क में भी

परिवर्तन होता है। इसलिये कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये, जो कि न तो शरीर हो, न आत्मा, तथा जिसमें कभी परिवर्तन न होता हो और जिस पर हमारे सभी विचार और भाव एकत्रित होकर एकता और सम्पूर्णता प्राप्त कर सकें। यह वस्तु मनुष्य की आत्मा है। यह देखते हुए कि सभी भौतिक प्रकृति, चाहे उसे तुम सूक्ष्म कहो, चाहे मस्तिष्क कहो, परिवर्तनशील है तथा स्थूल प्रकृति और यह बाह्य संसार उसके समक्ष क्षणिक है, वह अपरिवर्तनशील आत्मा किसी भौतिक पदार्थ की बनी हुई नहीं हो सकती। वह आत्मिक अर्थात् भौतिक नहीं है, वरन् अविनाशी और स्थिर है।

इस बाह्य संसार को किसने बनाया ? भौतिक प्रकृति को किसने जन्म दिया ? आदि प्रश्नों को, जो कि सृष्टि के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं, छोड़कर अब एक दूसरा प्रश्न है। सत्य को यहाँ मनुष्य की अन्तर्प्रकृति से जानना है और यह प्रश्न भी उसी भाँति उठता है, जिस प्रकार कि आत्मा के विषय में प्रश्न उठा था। यह मान लेने पर कि प्रत्येक पुरुष में एक अविनाशी और स्थिर आत्मा है, उन आत्माओं में विचार, भाव व सहानुभूति की एकता होनी चाहिये। मेरी आत्मा किस यन्त्र के द्वारा किस प्रकार तुम्हारी आत्मा को प्रभावित कर सकती है ? मेरे हृदय में तुम्हारी आत्मा के विषय में कोई भी भाव व विचार कैसे उत्पन्न होता है ? वह क्या है, जिसका सम्बन्ध हम दोनों की आत्माओं से है ? इसलिये एक ऐसी आत्मा मानने की

वैज्ञानिक आवश्यकता है, जिसका सम्बन्ध सभी आत्माओं व प्रकृति से हो, एक ही आत्मा जो कि असख्य आत्माओं में व्याप्त हो, उनमें पारस्परिक सहानुभूति व प्रेम उत्पन्न करती हो और एक से दूसरे के लिए कार्य कराती हो। यह सभी आत्माओं में व्याप्त विश्व की उपास्य देवता, परमात्मा है। साथ ही परिणाम यह भी निकलता है कि आत्मा के स्थूल प्रकृति से बड़े न होने के कारण वह स्थूल प्रकृति के नियमों से बाध्य भी न होगी। हमारे प्राकृतिक नियम उस पर लागू न होंगे। इसलिये वह अविनाशी और स्थिर है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैन दहति पावक ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽयं सनातन ॥

"आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। आत्मा अदाह्य, अभेद्य और अशोष्य तथा स्थिर, अचल, सनातन व सर्वव्यापक है।" तब यह आत्मा क्या करती है ? गीता के और वेदान्त क भी अनुसार आत्मा विभु है तथा कपिल के अनुसार सर्व-व्यापी भी। निस्सन्देह भारतवर्ष में ऐसे मत हैं, जिनक अनुसार यह आत्मा 'अणु' है, पर उनका तात्पर्य यह कि प्रकट होने में ही वह 'अणु' है, उसकी वास्तविक प्रकृति तो 'विभु' है।

इसके साथ ही एक दूसरा विचार आता है, जो कि दर्शन में पहले कुछ अद्भुत प्रतीत होता है, पर है भारतवर्ष के लिये बिलकुल ही स्वाभाविक। हमारे सभी धर्मों और सम्प्रदायों में वह विद्यमान है। इसलिये मैं आप लोगों से उस पर विशेष ध्यान देने और उसे याद रखने के लिये प्रार्थना करता हूँ। विचार यह है। पश्चिम के जिस भौतिक विकास-वाद व सिद्धान्त का जर्मन और अंग्रेज विद्वानों ने प्रचार किया है, उसके विषय में आप लोगों ने सुना होगा। उनका कथन है कि विभिन्न पशुओं के शरीर वास्तव में एक हैं, एक ही नियमित क्रम के वे भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक क्षुद्रतम कीट से लेकर एक महान-से-महान मनुष्य तक सभी एक हैं। एक दूसरे के रूप में बदलता जाता है और इस प्रकार ऊँचे चढ़ते-चढ़ते अंत में वह सम्पूर्णता प्राप्त कर लेता है। हमारे यहाँ भी यह विचार था। योगी पातञ्जलि कहते हैं—"जात्यंतर परिणाम।" एक जाति का दूसरी जाति में परिवर्तन (परिणाम) होता है। हमारे और पाश्चात्यों के विचार में फिर अन्तर कहाँ रहा? "प्रकृत्यापूरात्।" प्रकृति के पूरे होने से। पाश्चात्य विद्वान कहते हैं कि जीवन-संग्राम में होड़ा होड़ी से तथा नर-मादा के सम्बन्ध विचार आदि से एक शरीर अपना रूप बदलता है, पर यहाँ पर एक और भी सुन्दर विचार है, समस्या का एक और भी सुचारु निराकरण है—"प्रकृत्यापूरात्।" इसका अर्थ क्या है? हम यह मानते हैं कि एक क्षुद्रतम कीट में विकास-क्रम धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ बुद्ध बनता है, पर साथ ही हमें यह

भी विश्वास है कि किसी मशीन से तुम यथेच्छ काम तब तक नहीं ले सकते, जब तक कि उसे तुम दूसरे सिरे पर न रक्खो। शक्ति का परिमाण एक ही रहेगा, रूप उसका चाहे जो हो। यदि शक्ति का कोई परिमाण तुम एक सिरे पर रखना चाहते हो, तो दूसरे सिरे पर भी तुम्हें शक्ति का वही परिमाण रखना होगा, रूप उसका चाहे जो हो। इसलिये यदि परिवर्तन-क्रम का एक सिरा बुद्ध है, तो दूसरा सिरा वह क्षुद्र-जीव अवश्य होगा। यदि बुद्ध उसी जीव का सम्पूर्ण विकास पाया हुआ रूप है, तो वह जीव भी बुद्ध का अविकसित रूप रहा होगा। यदि यह ब्रह्माण्ड अनन्त शक्ति का प्रकटीकरण है, तो प्रलय की दशा में इसी शक्ति का वह अविकसित रूप रहा होगा। अन्यथा हो नहीं सकता। इसका परिणाम यह निकलता है कि प्रत्येक आत्मा अनन्त है। उस छोटे-से-छोटे कृमि से लेकर, जोकि तुम्हारे पैरों के नीचे रेंगता है, बड़े-से-बड़े महात्मा तक—सभी में यह अनन्त शक्ति, यह अनन्त पवित्रता और सब कुछ अनन्त है। भिन्नता केवल प्रकटित रूप में है। कृमि उस शक्ति-की एक बहुत ही थोड़ी मात्रा को प्रकट करता है, तुम उससे अधिक, एक महात्मा तुम से भी अधिक। अन्तर बस इतना ही है। फिर भी है, तो। पातञ्जलि कहते हैं—"तत क्षेत्रिकावत्।" "जिस प्रकार किसान खेत सींचता है।" अपने खेत को सींचने के लिए उसे एक जलाशय से पानी लाना है, जिसमें मान लीजिये एक बाँध बँधा है, जिसके कारण पानी खेत में सम्पूर्ण वेग से नहीं आ सकता। जब उसे

पानी की आवश्यकता होगी, तब उसे केवल उस बाँध को हटा दना होगा और पानी खेत में आकर भर जायगा। शक्ति बाहर से नहीं लाई गई, जलाशय में वह पहिले से ही थी। इसी प्रकार हम में से प्रत्येक के पीछे ऐसी ही अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता, चिदानन्द, अमर जीवन का विशाल सिन्धु भरा हुआ है, केवल इन शरीररूपी बाँधों के कारण हम अपनी सम्पूर्णता का अनुभव नहीं कर सकते। जैसे ही हमारे शरीरों की स्थूलता छूटती जाती है और वे सूक्ष्म होते जाते हैं, तमोगुण रजोगुण हो जाता है और रजोगुण सतोगुण हो जाता है, वैसे ही यह शक्ति, यह पवित्रता और भी अधिक प्रकट होती है। इसीलिए हमारे यहाँ खान-पान के विषय में इतना विचार किया गया है। यह हो सकता है कि वास्तविक विचारों का लोप हो गया हो जैसे कि बाल-विवाह के विषय में, जो यद्यपि विषय के बाहर है पर मैं उदाहरण के लिए लेता हूँ। यदि फिर कभी समय मिला, तो इन बातों क बारे में भी मैं आपसे कुछ कहूँगा। बाल-विवाह के पीछे जो सद्विचार छिपे हुए हैं, आप सच्ची सभ्यता उन्हीं से प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। समाज में यदि स्त्री-पुरुषों को अपनी पति-पत्नी चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता द दी जाय, उन्हें अपनी व्यक्तिगत वासनाओं की तृप्ति करने के लिए मैदान साफ़ मिले, तो सन्तान अवश्य ही दुष्टात्मा और निर्दय उत्पन्न होगी। देखो न प्रत्येक देश में मनुष्य ऐसे ही दुष्ट सन्तान को जन्म दे रहा है और उसीके साथ समाज की रक्षा के लिये

पुलिस-दल की संख्या को भी बढ़ा रहा है। बुराई का नाश पुलिस बढ़ाने से न होगा, वरन् उसकी जड़ ही उखाड़ देनी चाहिए। जब तक तुम समाज में रहते हो, तब तक तुम्हारे विवाह से मैं और समाज का प्रत्येक जन बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता। इसीलिए समाज को अवश्य अधिकार है कि वह तुम्हें आज्ञा दे कि तुम किसके साथ विवाह करो और किसके साथ न करो। ऐसे ही विचार बाल-विवाह के पीछे थे। इसीलिए लड़के-लड़की की जन्म-पत्री आदि मिलाई जाती थी। मनु के अनुसार तो जो बच्चा कामेच्छा क तृप्त करने से उत्पन्न होता है, वह आर्य नहीं होता। सच्चा आर्य तो वह होता है, जिसका गर्भ में आना व मृत्यु वेदों के ही अनुसार होती है। इस प्रकार की आर्य सन्तान प्रत्येक देश में न्यूनातिन्यून संख्या में उत्पन्न की जाती है और इसीलिए हम संसार में इतनी बुराई देखते हैं, जिसे कलियुग कहा जाता है, पर हम लोग यह सब विचार खो चुके हैं। यही नहीं कि इन विचारों का हम भली-भाँति पालन नहीं कर सकते, उनमें से बहुतों का तो खींच खाँचकर हमने तमाशा बना डाला है। निस्संदेह हमारे माता-पिता आज वह नहीं हैं, जो कि पहिले थे। न समाज ही पहिले की भाँति सुशिक्षित और सभ्य है, न हमें एक दूसरे से वैसा प्रेम ही है फिर भी हमारा सिद्धान्त सच्चा है। यदि उसके अनुसार किया गया कार्य दोषपूर्ण है, एक बार यदि काम करने में हम से भूल हुई है, तो सिद्धान्त को क्यों छोड़ते हो? एक बार फिर कार्य आरम्भ करो। इसी प्रकार खान पान के भी विषय

में समझो। सिद्धान्त के अनुसार किया गया कार्य बहुत ही दोषपूर्ण और त्रुटियों से भरा हुआ है फिर भी इससे सिद्धान्त सत्य और अमर है। अपने कार्य को सुधार-सहित एक बार फिर आरंभ करो।

भारतवर्ष में 'आत्मा' के इस महान् विचार को सभी धर्म मानते हैं। अंतर केवल इतना है कि द्वैतवादी कहते हैं कि आत्मा पाप-कर्म करने से संकुचित हो जाती है, उसकी शक्तियों और वास्तविक प्रकृति में सङ्कोच होजाता है, अच्छे कर्म करने से वह फिर अपनी आदि-दशा को प्राप्त होती है। अद्वैत-वादी कहते हैं कि आत्मा कभी घटती-बढ़ती नहीं, ऊपर से ही वैसा प्रतीत होता है। सारा अन्तर बस इतना ही है, पर सभी धर्मों का यह विश्वास है कि आत्मा की शक्तियाँ उसीके पास रहती हैं, आकाश से आकर उसमें कुछ टपक नहीं पड़ता। वेद परमात्मा-जनित नहीं, आत्म-जनित हैं। वे कहीं बाहर से नहीं आये, वरन् प्रत्येक आत्मा में रहनेवाले वे अमर धर्म हैं। एक देवता की आत्मा में और एक चींटी की आत्मा में वेद समान-रूप से हैं। चींटी को केवल विकास पाकर कोई महात्मा व ऋषि ही बनना है कि वेद, वे अमर धर्म, अपने आप प्रकट हो जायँगे। ज्ञान का यह एक महान् सिद्धान्त है कि हमारी शक्ति सदा हमारी ही थी, हमारा मोक्ष हमारे ही भीतर था। चाहे कहो कि आत्मा संकुचित हो जाती है, चाहे कहो कि उस पर माया का पर्दा पड़ जाता है, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। मुख्य बात एक ही है और आपको उसमें विश्वास करना चाहिये, विश्वास करना

चाहिये कि जो कुछ एक बुद्ध के लिये सभव है वही एक छोटे-से-छोटे पुरुष के लिये भी सभव है। यही 'आत्मा' का सिद्धान्त है।

पर अब एक विकट युद्ध का आरम्भ होता है। सामने बौद्ध खडे हैं, जोकि हमारी ही भाँति शरीर को भौतिक प्रकृति की सतत बहती हुई धारा बताते हैं तथा मस्तिष्क का भी हमारी ही भाँति निराकरण करते हैं। 'आत्मा' के विषय में वे कहते हैं कि इसे मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं। एक सगुण पदार्थ की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है। हम कहते हैं केवल गुणों को ही मानो। जहाँ एक कारण मानने से काम चल सकता है, वहाँ दो को मानना न्याय-विरुद्ध है। इसी प्रकार युद्ध होता रहा और आत्मा के विषय में जितने सिद्धान्त थे, सभी पर बौद्धों ने विजय पाई। जो आत्मा के सिद्धान्त को माननेवाले थे कि हममे तुममें सभी में आत्मा है, जो कि शरीर और मस्तिष्क दोनों से भिन्न है, अब उनमें खलबली पड गई। अभी तक हम देख चुके हैं कि द्वैतवाद ठीक उतरता चला आया है, क्योंकि एक शरीर है, उसके बाद सूक्ष्म मस्तिष्क, उसके बाद आत्मा और इन सब आत्माओं मे व्याप्त एक परमात्मा है कठिनाई अब यहाँ पडती है कि आत्मा और परमात्मा दोनों ऐसे माने हुए पदार्थ हैं, जिनके शरीर और मस्तिष्क गुणों के समान हैं। किसी ने इस पदार्थ को देखा तो है नहीं, न उसकी कल्पना ही की जा सकी है, फिर उसके बारे में सोच-विचार करने का क्या फल होगा? 'क्षणिक' होकर यह क्यों न कहा जाय कि जो कुछ है,

वह हमारे मस्तिष्क में इस परिवर्तन-क्रम का प्रतिबिम्ब भर है। परिवर्तन की एक दशा का दूसरी से कोई सम्बन्ध नहीं। सागर की लहरों के समान वे एक दूसरी का अनुसरण करती हैं, पर कभी एकता व सम्पूर्णता नहीं प्राप्त करतीं। मनुष्य इसी प्रकार की तरङ्गों का अनुक्रमण है, एक चली जाती है, तो दूसरी उसका अनुसरण करती है और जब इस क्रम का अन्त हो जाता है, उस दशा का ही नाम निर्वाण है। द्वैतवाद का यहाँ कोई तर्क नहीं चलता, न द्वैतवादी ईश्वर ही यहाँ अपनी जगह पर खड़ा रह सकता है। द्वैतवादी ईश्वर सर्व-व्यापी होने के साथ ही बिना हाथों के बनाता है और बिना पैरों के चलता है। जैसे कुंभकार घट बनाता है, उसी भाँति वह ब्रह्माण्ड को बनाता है। बौद्ध कहता है कि यदि ईश्वर ऐसा ही है, तो वह उसकी उपासना करने के बजाय उससे युद्ध करेगा। संसार दारुण दुःखों से भरा हुआ है और यदि यह कार्य ईश्वर का किया हुआ है, तो वह अवश्य उसके विरुद्ध उठ खड़ा होगा। इसके साथ ही, जैसा कि आप सभी को विदित होगा, ऐसे ईश्वर भी कल्पना तर्क और न्याय के विरुद्ध है, ऐसा ईश्वर असंभव है। क्षणिकों की भाँति हमें इस सृष्टि के दोषों की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं, पर द्वैत वादियों के व्यक्तिगत ईश्वर का ढेर हो गया। तुम्हारा तो कहना है कि हमें केवल सत्य चाहिए। 'सत्यमेव जयते नानृतम्।"

सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य द्वारा ही तुम देवयानम् को पा सकते हो। सभी पहिले एक झण्डे के नीचे

चले थे, पर केवल कमज़ोर मनुष्यों को हराने के लिए। द्वैतवादी ईश्वर के लिए हुए और अपने को बडा ज्ञानी समझते हुए तुम एक गरीब मूर्ति-पूजा करने वाले से झगडने लगे। तुमने सोचा कि हमीं को सत्य ज्ञान मिला है, इस अज्ञानी का नाश कर देना चाहिए, पर यदि वह लौट पडा और तुम्हारे ही ईश्वर, तुम्हारे उस काल्पनिक आदर्श को उसने छिन्न-भिन्न कर डाला, तो फिर तुम कहाँ रहे? या तो तुम कहने लगे कि हमें 'फेथ' है, विश्वास है या सदा के कमज़ोर मनुष्यों की भाँति अपने विरोधियों से पुकारने लगे—"तुम लोग नास्तिक हो!" जब हारने लगे, तब नास्तिकता की गुहार मचाने लगे। यदि तुम तर्क और न्याय पर रहते हो, तो दृढतापूर्वक उन्हीं पर स्थिर रहो और यदि विश्वास पर रहते हो, तो अपनी भाँति दूसरे को भी अपने विश्वास पर स्थिर रहने दो। तुम ईश्वर की सत्ता कैसे सिद्ध कर सकते हो? उसकी सत्ता खण्डन करना इससे कहीं अधिक सरल है? उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं, उसका खण्डन करने के लिए अवश्य प्रमाण है। अपना ईश्वर, उसकी सगुणता एक ही पदार्थ की बनी हुई भिन्न-भिन्न असंख्य आत्माएँ—इन सबके सिद्ध करने के लिए तुम्हारे पास क्या प्रमाण हैं? आप दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं? शरीर से तो नहीं, क्योंकि आप आज बौद्धों से भी भलीभाँति जानते हैं कि शायद जो प्रकृति-भाग अभी सूर्य में रहा होगा, वही छाया में आपके शरीर में मिल जायगा और थोडी देर में वही जाकर पौधों में मिल जायगा। फिर

महाशयजी, आपका व्यक्तित्व कहाँ रहता है? यही दशा मस्तिष्क की भी है। रात में तुम्हारा एक विचार है, सवेरे दूसरा। जैसा तुम बचपन में सोचते थे, वैसा अब नहीं सोचते और जैसा कोई वृद्ध-पुरुष अब सोचता है, वैसा उसने अपनी युवावस्था में न सोचा था। फिर तुम्हारा व्यक्तित्व कहाँ है? यह न कहो कि तुम्हारा व्यक्तित्व तुम्हारी ज्ञान-शक्ति, तुम्हारे अहङ्कार में है, क्योंकि यह बहुत ही सकुचित है। मैं अभी तुम से बात-चीत कर रहा हूँ और मेरी इन्द्रियाँ सब अपना काम भी किये जाती हैं, पर मुझे इसका ज्ञान नहीं है। यदि ज्ञान ही जीवन का चिह्न है, तब तो इन्द्रियाँ हैं ही नहीं, क्योंकि मुझे उनके कार्य का ज्ञान नहीं होता। फिर आपका व्यक्तिगत ईश्वर कहाँ रहता है? उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए आपके पास कोई प्रमाण नहीं। बौद्ध फिर खड़े होंगे और कहेंगे कि ऐसा ईश्वर तर्क और न्याय के ही विरुद्ध नहीं है, उसकी उपासना करना पाप है। मनुष्य कायर होकर दूसरे के सामने सहायता के लिए गिडगिडाता है। कोई भी उसकी इस प्रकार की सहायता नहीं कर सकता। यह देखो ससार है, मनुष्य ने उसे बनाया है। फिर एक कल्पित ईश्वर की उपासना क्यों करते हो, जिसे न किसी ने देखा-सुना है, न जिससे किसी ने सहायता पाई है। फिर जान-बूझकर कायर क्यों बनते हो? कुत्ते के समान इस कल्पित व्यक्ति के सामने जाकर तुम नाक रगडते हो और कहते हो—"हम बड़े ही कमज़ोर हैं, बड़े ही अपवित्र हैं। संसार में पतितों के सिरताज हमीं हैं।" अपनी

सन्तान के सन्मुख रखने को सबसे सुन्दर तुम्हें यही कायरता का आदर्श मिला है ? इस प्रकार तुम एक मिथ्या कल्पना में ही विश्वास नहीं करते, वरन् अपनी सन्तान में घोर बुराई को जन्म दे महत् पाप के भागी होते हो। याद रक्खो, यह ससार इच्छा-शक्ति पर निर्भर है। जैसा तुम अपने मन में सोचते हो, उसीमें तुम विश्वास करते हो। बुद्ध के यह प्राय पहिले ही शब्द थे—"जैसा तुम सोचते हो, वैसे तुम हो, जैसा तुम सोचोगे, वैसे तुम होगे।" यदि यह सच है तो यह मत सीखो कि हम कुछ नहीं हैं और जब तक आकाश में बैठा हुआ ईश्वर हमारी सहायता न करेगा, तब तक हम कुछ नहीं कर सकते। इसका परिणाम यही होगा कि तुम दिन पर दिन और भी कमज़ोर होते जाओगे। तुम ईश्वर से कहोगे—"हे ईश्वर! हम बहुत अपवित्र हैं, तू हमें पवित्र कर!" फल यह होगा कि तुम और भी अपवित्र होगे, और भी पापों में लिप्त होगे। बौद्ध कहते हैं कि जितनी बुराइयाँ तुम किसी समाज में देखते हो, उनमें से ९० फ़ीसदी इसी व्यक्तिगत ईश्वर की उपासना के कारण होती है। इस सुन्दर, इस अनुपम जीवन की सार्थकता कुत्ता बनकर दूसरे के सामने दुम हिलाने में ही है! कैसी जघन्यता है! बौद्ध वैष्णव से कहता है—यदि तुम्हारे जीवन का उद्देश्य और ध्येय वैकुण्ठ जाना और वहाँ अनन्त काल तक हाथ बाँधे ईश्वर के सामने खडा रहना ही है, तो इससे तो आत्महत्या करके मर जाना ही अधिक श्रेयकर होगा। बौद्ध

यह भी कह सकता है कि इसीसे बचने के लिये उसने निर्वाण बनाया है। मैं आप लोगों के सामने बौद्ध के स्थान में दूसरे पक्ष के विचार रख रहा हूँ, जिससे आपको दोनों पक्षों के विचारों का पूर्ण ज्ञान होजावे। आज-कल कहा जाता है कि अद्वैतवाद कायर विचारों को जन्म देता है। दोनों पक्षों का दृढतापूर्वक सामना कर सत्य का निश्चय करना चाहिये। हम देख चुके हैं कि इस सृष्टि को बनानेवाला व्यक्तिगत ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता। आज कोई बच्चा भी क्या ऐसे ईश्वर में विश्वास करेगा? एक कुम्हार घडा बनाता है, इसलिये परमेश्वर भी यह संसार बनाता है—यदि ऐसा है, तब तो कुम्हार भी परमेश्वर है और यदि कोई कहे कि ईश्वर बिना सिर पैर और हाथों के रचना करता है, तो उसे तुम बेशक पागलखाने ले जा सकते हो। आधुनिक विज्ञान का दूसरा चैलेञ्ज यह है—"अपने व्यक्तिगत ईश्वर से, जिसके सामने तुमने जन्म भर हाँ हाँ की है, क्या कभी कोई सहायता पाई है?" वैज्ञानिक यह सिद्ध कर देंगे कि रोने-गिडगिडाने में तुमने व्यर्थ ही अपनी शक्ति खर्च की। जो कुछ सहायता मिली भी, उसे तुम बिना रोये-गिड़गिडाये अपने प्रयत्नों से स्वयं ही उपार्जन कर सकते थे। इस व्यक्तिगत ईश्वर के विचार के साथ ही अत्याचार और धर्म-गुरुओं का भी जन्म होता है। जहाँ भी यह विचार रहा है, वहाँ धर्म-गुरु और अत्याचार भी अवश्य रहे हैं। बौद्ध कहते हैं, जब तक तुम अपने मिथ्या सिद्धान्त का ही समूल नाश न कर

दोगे, तब तक इस अत्याचार का अन्त नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य सोचेंगे कि उन्हें अपने से एक अधिक शक्तिशाली व्यक्ति से याचना करनी पड़ेगी, तब तक धर्मगुरु भी रहेंगे, गरीब आदमियों और ईश्वर के बीच में वे दलाली करने के लिए सदा तैयार रहेंगे और इसलिये अपने लिये विशेष अधिकार भी माँगेंगे। ब्राह्मण पुजारी के मस्तक में डंडा मारकर उसे चाहे कोई गिरा दे, पर याद रक्खो, वह स्वय ही उसके स्थान में धर्मगुरु बन जायगा और पहिलेवाले में तो थोड़ी दया भी थी, यह बिल्कुल ही निर्दय अत्याचारी होगा। यदि किसी भिखारी को थोड़ा सा धन मिल जाता है, तो वह सारे ससार को कुछ नहीं गिनता। इसलिये जब तक व्यक्तिगत-ईश्वर की उपासना रहेगी तब तक यह धर्म-गुरुओं का सम्प्रदाय भी रहेगा और तब तक समाज में सद्विचार नहीं आ सकते। धर्म-गुरु और अत्याचार हमेशा कन्धे से कन्धा मिलाकर चलेंगे, फिर इनका आविष्कार किसने किया? पुराने ज़माने में कुछ सबल पुरुषों ने शेष निर्बल पुरुषों को अपने वश में कर लिया और उनसे कहा—"तुम हमारा कहना न मानोगे, तो हम तुम्हें पीट पाटकर ठीक कर देंगे।" सक्षेप में इसी प्रकार इनकी उत्पत्ति हुई। "महद्भयम् वज्रमुद्यतम्।"

एक वज्र धारण करने वाला शक्तिशाली पुरुष, जो अपनी आज्ञा न माननेवालों का नाश कर देता है, ऐसे ईश्वर का विचार ही इस सब की जड़ है। इसके बाद बौद्ध कहता है कि यहाँ तक

तो तुम न्याय पर हो जब कहते हो कि हमारी वर्तमान दशा हमारे पूर्व-कर्म का फल है। तुम सभी विश्वास करते हो कि आत्मा अनादि और अनन्त है, आत्माएँ असंख्य हैं, हमें पूर्व-कर्म का इस जन्म में फल मिलता है। यह सब तो ठीक है, क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता, भूत-कर्म का फल वर्तमान में मिलता है और वर्तमान-कर्म का भविष्य में। हिन्दू कहता है कि कर्म जड है न कि चैतन्य इसलिए इस कर्म का फल देने के लिए किसी चैतन्य की आवश्यकता है, पर क्या पौधे को बढाने के लिए भी चैतन्य की जरूरत होती है? यदि मैं बीज बोकर उसे पानी से सींचूँ, तब तो उसके बढने में किसी चैतन्य की आवश्यकता नहीं पडती। वृक्ष अपने ही आप बढता है। तुम कह सकते हो, उसमें कुछ चैतन्य पहले से ही था, पर आत्मा भी तो चैतन्य है और चैतन्य का क्या करना है? यदि आत्मा चैतन्य है, तो बौद्धों के विरुद्ध आत्मा में विश्वास करने वाले जैनों के कथनानुसार, ईश्वर में विश्वास करने की क्या आवश्यकता है? द्वैत-वादी जी, अब आप का न्याय और तर्क कहाँ है? और जब तुम कहते हो कि अद्वैत-वाद से पाप बढा है, तब द्वैत-वादियों के कारनामों पर भी तो दृष्टि-पात करो, हिन्दुस्तान की कचहरियों की कितनी इन लोगों से आमदनी हुई है। यदि देश में बीस हज़ार अद्वैत-वादी गुण्डे हैं, तो द्वैतवादी गुण्डे भी बीस हज़ार से कम नहीं हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो, द्वैतवादी गुण्डे ही ज्यादा होंगे, क्योंकि अद्वैतवाद को समझने के लिए अधिक अच्छा

दिमाग़ चाहिए, जिसे भय और लोभ सहसा दबा न सकेगा। अब किसका सहारा लोगे ? बौद्ध के पञ्जों से कोई छुटकारा नहीं। तुम वेदों का प्रमाण दो, उनमें उसे विश्वास नहीं। वह कहेगा—"हमारे त्रिपिटक कहते हैं, नहीं और उनका भी न आदि है न अन्त। स्वय बुद्ध ने भी उन्हें नहीं बनाया, क्योंकि वह केवल उनका पाठ करते थे। त्रिपिटक सर्वकालीन हैं। तुम्हारे वेद झूठे हैं, हमारे सच्चे। तुम्हारे वेदों को ब्राह्मणों ने स्वार्थ साधन के लिए गढा है, इसलिए हटाओ उन्हें दूर।" अब बताओ किधर से भाग कर बचोगे ?

अच्छा तो, यह देखो निकलने का रास्ता। बौद्धों का पहला झगडा यही लो कि पदार्थ और गुण भिन्न-भिन्न हैं, अद्वैतवादी कहता है, नहीं हैं। पदार्थ और गुण भिन्न नहीं हैं। तुम्हें पुराना उदाहरण याद होगा कि किस प्रकार भ्रमवश रस्सी साँप समझी जाती है और जब साँप दिख जाता है, तब रस्सी कहीं नहीं रहती। पदार्थ और गुण का भेद विचारक के मस्तिष्क में ही होता है, वास्तव में नहीं। यदि तुम साधारण मनुष्य हो, तो तुम पदार्थ देखते हो और यदि बड़े योगी हो तो केवल गुण, पर दोनों ही एक साथ तुम नहीं देख सकते। इसलिए बौद्ध जी, आपका पदार्थ और गुण का झगडा मानसिक भूल-भुलैयाँ भर था, वास्तविक नहीं, पर यदि पदार्थ निर्गुण है, तो वह केवल एक ही हो सकता है। यदि आत्मा पर से गुणों को हटा दो, तो दो आत्माएँ न रहेंगी, क्योंकि आत्माओं की भिन्नता गुणों के ही कारण होती

है। गुणों के ही द्वारा तो तुम एक आत्मा को दूसरी आत्मा से भिन्न करके मानते हो, गुण तो वास्तव में हमारे मस्तिष्क में ही होते हैं, आत्मा में नहीं। जब गुण न रहेंगे, तब दो आत्माएँ भी न होंगी। अतएव आत्मा एक ही है, तुम्हारे परमात्मा की कोई आवश्यकता नहीं। यह आत्मा ही सब कुछ है। यही परमात्मा है, यही जीवात्मा भी। और सांख्य आदि द्वैतवाद जो आत्मा को विभु बताते हैं, सो दो अनन्त कैसे हो सकते हैं? यह आत्मा ही अनन्त और सर्व-व्यापी है, अन्य सब इसी के नाना रूप हैं। यहाँ पर तो बौद्ध भी रुक गए, पर अद्वैतवाद यहीं नहीं रुकता। अन्य कमज़ोर वादों की भाँति अद्वैतवाद दूसरों की आलोचना करके ही चुप नहीं हो जाता। उसके अपने सिद्धान्त भी हैं। अद्वैतवादी जब कोई उसके बहुत निकट आ जाता है, तो उसे थोड़ा पछाड़ भर देता है और फिर अपने स्थान पर आ जाता है। एक अद्वैतवादी ही ऐसा है, जो कि आलोचना करके चुप नहीं रहता, अपनी पुस्तकें ही नहीं दिखाता, वरन् अपने सिद्धान्तों को भी बताता है। अच्छा तो तुम कहते हो यह ब्रह्माण्ड घूमता है। व्यष्टि में प्रत्येक वस्तु घूमती है। तुम घूम रहे हो, यह मेज़ घूम रही है, यह "संसार" घूम रहा है। सतत घूमने से उनका नाम "जगत्" है। इसलिए इस जगत् में कोई एक व्यक्तित्व हो नहीं सकता। व्यक्तित्व उसका होता है, जिसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन-शील व्यक्तित्व कैसा? यह दोनों शब्द तो विरोधी हैं। इस जगत

में, हमारे इस छोटे से ससार मे, कोई भी व्यक्तित्व नहीं। विचार और भाव, मस्तिष्क और शरीर, पशु-पक्षी सभी हर समय परिवर्तन की दशा मे रहते हैं। पर यदि तुम समस्त ब्रह्माण्ड को लो, तो क्या यह भी घूम सकता है, क्या इसमें भी परिवर्तन हो सकता है? कदापि नहीं। गति का ज्ञान तभी होता है, जब पास भी वस्तु की गति या तो कम हो या हो ही नहीं। इसलिये सारा ब्रह्माण्ड स्थिर और अपरिवर्तनशील है। इसलिए तुम एक व्यक्ति तभी होगे जबकि सारे ब्रह्माण्ड में मिल जाओगे जबकि "मैं ही ब्रह्माण्ड हूँगा"। इसीलिये वेदान्ती कहता है कि जब तक द्वद-भाव रहेगा तब तक भय का अन्त न होगा। जब दूसरे का भेद-ज्ञान नष्ट हो जाता है और एक ही एक रह जाता है तभी मृत्यु का नाश होता है। मृत्यु, ससार कुछ नहीं रहता। इसलिये अद्वैतवादी कहता है—"जब तक तुम अपने आपको संसार से भिन्न समझते हो, तब तक तुम्हारा कोई व्यक्तित्व नहीं। तुम तभी अपना व्यक्तित्व-लाभ करोगे, जब ब्रह्माण्ड में मिलकर एक हो जाओगे।" सम्पूर्ण में मिलकर ही तुम अमरता प्राप्त करोगे। जब तुम ब्रह्माण्ड हो जाओगे, तभी तुम निर्भय और अविनाशी भी होगे। जिसे तुम ईश्वर कहते हो, वह यह ब्रह्माण्ड ही है, वह सम्पूर्ण है, वही तुम भी हो। इस एक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को साधारण स्थिति के हमारे से मस्तिष्क वाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि नाना रूपों में देखते हैं। जिन्होंने हमसे और अच्छे कर्म किए हैं, मरने पर वे इसे स्वर्ग, इन्द्र आदि के रूप में देखते हैं, जो इनसे भी ऊँचे होते हैं वे इसे

ब्रह्म-लोक करके देखते हैं, पर जो सम्पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं, वे न मृत्युलोक देखते हैं, न स्वर्ग-लोक, न ब्रह्म-लोक। तब तो इस ब्रह्माण्ड का ही लोप हो जाता है और केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है।

क्या हम इस ब्रह्म को जान सकते हैं? संहिता में अनन्त-चित्रण का वर्णन मैं आपसे कर चुका हूँ। यहाँ पर दूसरे अनन्त का वर्णन है। पहिला अनन्त भौतिक प्रकृति का था, यह अनन्त आत्मा का है। पहिले सीधी भाषा में उसका वर्णन कर दिया गया था, पर इस बार जब उस तरह काम न चला, तो नेति-नेति का आश्रय लेना पड़ा। यह ब्रह्माण्ड हम देखते हैं, इसे ब्रह्म मानते हुए भी क्या हम उसे मान सकते हैं? नहीं, नहीं, आप इस एक बात को भली-भाँति समझ रक्खें। बार-बार आपके हृदय में यह प्रश्न उठेगा कि यदि यह ब्रह्म है, तो हम उसे कैसे जान सकते हैं? "विज्ञातारम् केन विजानीयात्।" "जानने वाले को किस प्रकार जाना जा सकता है?" आँखें सब कुछ देखती हैं, पर क्या वे अपने आपको भी देख सकती हैं? नहीं, यदि वे देख ली जायँ, तो उनका महत्व ही कम हो जाय। हे आर्य सन्तानो, तुम इस बात को याद रक्खो, क्योंकि इसमें एक बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। तुम्हें आकर्षण करनेवाले सभी पाश्चात्य विचारों की नींव यही है कि इन्द्रियों का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। हमारे यहाँ में कहा गया है कि इन्द्रियों का ज्ञान ज्ञेय वस्तु से भी तुच्छ होता है क्योंकि वह सदा परिमित होता है। जब तुम किसी वस्तु

को जानना चाहते हो, तो तुम्हारे मस्तिष्क के कारण वह तुरन्त परिमित होजाती है। हमारे ऋषियों का कहना है कि सीप और मोती के उदाहरण का ध्यान करो और देखो किस प्रकार ज्ञान परिमित है। एक वस्तु को तुम जान पाते हो, पर पूर्णतया नहीं। सभी ज्ञान के विषय में यह सत्य है। तब क्या अनन्त को तुम जान सकते हो? हमारी आत्माओं तथा समस्त विश्व में स्थित उस निर्गुण साक्षी को जो कि सभी ज्ञान का तत्व है, क्या तुम जान सकते हो? उस निःसीम को तुम किन सीमाओं से बाँध सकते हो? सभी वस्तुएँ, यह सारा ब्रह्माण्ड इस प्रकार की की गई निष्फल चेष्टाएँ हैं। यह अनन्त आत्मा ही मानों छोटे-से- छोटे कीट से लेकर बड़े-से-बड़े देवता तक समस्त प्राणी-रूपी दर्पणों में अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहती है और फिर भी उन्हें कम पाती है, यहाँ तक कि मानव शरीर में उसे इस बात का ज्ञान होता है कि यह सब ससीम और सान्त हैं। सान्त में अनन्त का प्रदर्शन नहीं हो सकता। इसके बाद पीछे लौटना आरम्भ होता है। इसी का नाम वैराग्य है, पर इन्द्रियों को छोड फिर इंद्रियों के पास न चलो। सभी सुख और सभी धर्म का मूल-मन्त्र यह वैराग्य ही है, क्योंकि याद रक्खो, इस सृष्टि का आरभ ही तपस्या से हुआ है। जैसे ही तुम्हें अधिकाधिक वैराग्य होता जायगा, वैसे ही सभी रूपों का लोप होता जायगा और अन्त में जो तुम हो वही रह जाओगे। इसी का नाम मोक्ष है।

इस विचार को हमें भली-भाँति समझ लेना चाहिये।

"विज्ञातारम् केन विजानीयात्।" जाननेवाले को किस प्रकार जाना जाय? क्योंकि यदि वह जान लिया जायगा, तो जानने वाला न रहेगा। दर्पण में तुम जिन आँखो को देखते हो वे, तुम्हारी वास्तविक आँखें नहीं, वरन् उनका प्रतिबिम्ब भर हैं। इसलिये यह सर्व-व्यापी और अनन्त आत्मा जो कि तुम हो, यदि केवल साक्षी है, तो क्या फ़ायदा हुआ? हमारी भाँति ससार मे रहकर वह उसका सुख-भोग नहीं कर सकती। लोगों को समझ में नहीं आता कि साक्षी सुख का अनुभव कैसे कर सकता है। "हिन्दुओ! तुम इस मिथ्या सिद्धान्त को मानकर बिल्कुल निकम्मे हो गए हो।" अच्छा तो, पहले सुख का मज़ा अनुभव तो साक्षी ही कर सकता है। यदि कहीं कुश्ती हो, तो किसे अधिक आनद आवेगा, देखनेवालों को या लडनेवालों को? जीवन में जितना ही अधिक तुम किसी वस्तु को साक्षी होकर देखोगे, उतना ही अधिक तुम उसका आनन्द ले सकोगे। इसी का नाम आनन्द है, इसलिए अनन्त आनन्द तुम तभी पा सकोगे, जब साक्षी रूप में इस सभी ब्रह्माण्ड को देखोगे, तभी तुम मुक्त होगे। साक्षी ही बिना किसी स्वर्ग-नरक क विचार के, बिना कीर्ति-अपकीर्ति की इच्छा से कार्य्य कर सकता है। साक्षी को ही वास्तविक आनन्द मिलता है, अन्य को नहीं।

"अद्वैतवाद के व्यावहारिक रूप को समझने के पहिले हमें 'माया' के सिद्धान्त को समझ लेना चाहिये। अद्वैतवाद की इन बातों को समझने और समझाने के लिए महीने और वर्ष

चाहिए। अत यदि यहाँ मैं उनका सूक्ष्म में ही वर्णन करूँ तो, आप लोग मुझे क्षमा करेंगे। माया के सिद्धात को समझने में सदैव कठिनता पडी है। संक्षेप में मैं आपको बताता हूँ कि माया का वास्तव में कोई सिद्धात नहीं है। माया देश, काल और निमित्त के तीन विचारों का समुचय है, देश, काल और निमित्त को भी आगे घटाकर केवल नामरूप रह जाता है। मान लीजिए कि सागर में एक लहर आई है। लहर सागर से केवल नाम और रूप में ही भिन्न है और यह नाम रूप लहर से भिन्न नहीं किए जा सकते। अब लहर चाहे पानी में मिल जावे, पर पानी उतना ही रहेगा। यद्यपि अब लहर का नाम रूप नहीं रहा। इसी प्रकार यह माया ही हममें, तुममें, पशुओं और पक्षियों में, मनुष्यों और देवताओं में अन्तर डालती है। इस माया के ही कारण आत्मा अनन्त नाम रूप वाले पदार्थों में विभक्त दिखाई देती है। यदि नाम और रूप का विचार तुम छोड दो, तो तुम जो सदा थे, वही रह जाओगे। यही माया है। फिर देखो, यह कोई कल्पित सिद्धान्त नहीं, वरन् एक दृढ सत्य है। यथार्थवादी कहता है कि यह संसार है। अज्ञानियों, क्षुद्र यथार्थवादियों, यवों आदि का इससे यह अर्थ होता है कि इस मेज़ का एक अपना अस्तित्व है जिसका ससार की किसी वस्तु से सम्बन्ध नहीं तथा यदि यह सारा संसार नष्ट हो जावे, तो फिर भी यह रहेगी। थोड़े से ही ज्ञान से पता चल जाता है कि यह भूल है। इस भौतिक ससार में प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व के लिये दूसरी पर

निर्भर है। हमारे ज्ञान की तीन सीढ़ियाँ हैं। पहिली तो यह कि प्रत्येक वस्तु दूसरी से भिन्न है। वस्तुओं की पारस्परिक निर्भरता को समझना दूसरी सीढ़ी है। एक ही के यह सब नाना रूप हैं--इस सत्य का ज्ञान अन्तिम सीढ़ी है। अज्ञानी की ईश्वर-विषयक पहली कल्पना यह होती है कि वह कहीं संसार से अलग स्थित है अर्थात् ईश्वर की यह कल्पना बहुत ही मानुषिक है। वह वही करता है, जो मनुष्य करता है, केवल अधिक परिमाण में। हम देख ही चुके हैं कि ऐसा ईश्वर कितनी जल्दी न्याय और तर्क के विरुद्ध तथा परिमित शक्तिवाला सिद्ध किया जा सकता है। दूसरा विचार एक सर्व-व्यापी शक्ति का है। चण्डी में ऐसे ही ईश्वर की कल्पना की गई है, पर ध्यान दीजिये, यह ईश्वर ऐसा नहीं है, जो केवल शुभ-गुणों की ही खान हो। अच्छे गुणों के लिये ईश्वर और दुर्गुणों के लिये शैतान, तुम दो को नहीं मान सकते। मानो एक को ही और जो परिणाम हो उसका सामना करो।

"हे देवि, तू प्राणीवान में शांति और पवित्रता बनकर रहती है। हम तुझे नमस्कार करते हैं।" इसके साथ इसका जो परिणाम निकले, हमें उसका भी सामना करना होगा। "हे गार्गी, तू चिदानद है। संसार में जहाँ कहीं भी सुख है, वह तेरा ही एक भाग है।" इसका उपयोग आप जो चाहें, करें। इसी प्रकार में आप एक गरीब आदमी को सौ रुपये दे सकते हैं और दूसरा आपके जाली हस्ताक्षर कर सकता है, पर प्रकाश दोनों के

लिये एक ही होगा। यह दूसरी सीढी है। तीसरी सीढी इस बात का ज्ञान होना है कि ईश्वर, न प्रकृति के बाहर है न भीतर, प्रत्युत ईश्वर, प्रकृति, आत्मा और ब्रह्माण्ड सब पर्यायवाची शब्द हैं। आप दो वस्तुओं को एक साथ नहीं देख सकते। आपकी सासारि भाषा ने आपको धोखे में डाल दिया है। आप समझते हैं कि हमारे एक शरीर है, एक आत्मा तथा दोनों मिलकर हम हैं। ऐसा कैसे हो सकता है? एकबार अपने ही मन में विचार करके देखिये। यदि आप लोगो में कोई योगी है, तो वह समझता है कि मैं चैतन्य हूँ। उसके लिये शरीर नहीं है। यदि कोई साधारण पुरुष है, तो वह समझता है कि यह शरीर में हूँ, पर आत्मा और शरीर के विचारों के प्रचलित होने से आप समझते हैं कि हम यह दोनों ही हैं। नहीं, बारी बारी से। जब शरीर देखते हो, तब आत्मा की बात न करो। तुम केवल कार्य ही देखते हो, कारण नहीं देख सकते और जिस क्षण तुम कारण देख लोगे, उस क्षण कार्य रहेगा ही नहीं। यह ससार कहाँ है, उसे कौन उठा ले गया?

"वह ब्रह्म, जोकि रूपहीन और अनन्त है तथा जो अनुपम और निर्गुण है, ऐसा ब्रह्म हे ज्ञानी, समाधिस्थ होने पर तेरे हृदय में प्रकाशित होगा।"

"जहाँ पर प्रकृति के सभी परिवर्तनों का अन्त हो जाता है, विचारों से जो परे है, वेदों ने जिसका गान किया है, तथा जो हमारे जीवन का सार है, ऐसा ही ब्रह्म समाधि में तेरे हृदय में प्रकाशित होगा।"

"जन्म और मृत्यु से परे, वह अनन्त, उपमा-रहित, महा प्रलय के जल में डूबे हुए ब्रह्माण्ड के समान, जबकि ऊपर जल, नीचे जल चारों ओर जल ही जल हो तथा जिस अनन्त जल-राशि मे एक छोटी सी भी लहर व हिलोर न उठती हो, जो अत्यन्त शात और गम्भीर हो, जहाँ पर सारी इच्छाएँ और आशाएँ मिट गई हों और ज्ञानियो-अज्ञानियों के वाद-विवादों का जहाँ अंत हो गया हो, ऐसा ब्रह्म समाधि में तेरे हृदय में प्रकाशित होगा।" मनुष्य जब इस दशा को प्राप्त होता है तब संसार का लोप हो जाता है।

हम यह देख चुके हैं कि इस सत्य, इस ब्रह्म को जानना असभव है, अज्ञानवादियों (ऐग्नौस्टिक्स) की भाँति नहीं, जो कहते हैं ईश्वर जाना ही नहीं जा सकता, वरन् इसलिए कि उनको जानना अधर्म होगा, क्योंकि हम स्वय ही ब्रह्म हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि यह मेज़ ब्रह्म नहीं है और फिर भी है। नाम और रूप को हटा दो और जो कुछ यथार्थ में रहेगा वही ब्रह्म है। प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता वही है।

"तू स्त्री में है, तू पुरुष में है, जवानी के घमण्ड में चलते हुए युवक मे और लाठी के सहारे खड़े हुए वृद्ध पुरुष में भी तू है। तू ही सब में है और मैं तू हूँ।" यही अद्वैतवाद है। दो शब्द और। हम देखते हैं कि ससार का रहस्य यहीं समझाया गया है। वहाँ पर खड़े होकर हम सभी तर्क और विज्ञान आदि का सामना कर सकते हैं। यहाँ पर कोरा विश्वास का आश्रय नहीं लेना पडता, वरन् अद्वैतवाद तर्क और न्याय की दृढ़ नींव पर स्थिर है। साथ ही

वेदांती अपने से पूर्व वादों को गाली नहीं देता, वरन् उन्हें प्रेम की दृष्टि से देखता है, क्योंकि वह जानता है कि वे भी सत्य हैं, केवल वे समझे गलत गए थे और लिखे गलत गये थे। वे सब एक ही थे, माया के आवरण के कारण उनका रूप चाहे विकृत ही क्यों न होगया हो, फिर भी वे सत्य ही थे। जिस ईश्वर को अज्ञानी ने प्रकृति के बाहर देखा था, जिसे किञ्चिद् ज्ञानी ने विश्व में व्याप्त देखा था तथा पूर्ण ज्ञानी ने जिसे अपनी आत्मा करके जाना था—वे सब ईश्वर और यह ब्रह्माण्ड एक ही थे। एक ही वस्तु अनेक स्थानों से देखी गई थी। माया के कारण उसके अनेक रूप दिखाई दिये थे। सारा अन्तर और भेद माया के ही कारण था। यही नहीं, सत्य ज्ञान को पाने के लिये यह भिन्न-भिन्न सीढियाँ हैं। विज्ञान और साधारण ज्ञान में क्या अन्तर है? सडक पर जाओ और किसी गँवार से वहाँ पर घटी हुई किसी विचित्र घटना का रहस्य पूछो। सोलह में पन्द्रह आने तो वह यही कहेगा कि यह भूतों का काम है। अज्ञानी कारण को सदैव कार्य के बाहर ही ढूँढता है और इसीलिये वह सदैव घटना से, जिनका कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसे भूत-प्रेतों को ढूँढ निकालता है। यदि कहीं पत्थर गिरा है, तो वह कहेगा कि यह शैतान या भूत का काम है, पर वैज्ञानिक कहेगा कि वह प्रकृति के नियम या पृथ्वी की आकर्षणशक्ति के कारण गिरा है।

विज्ञान और धर्म का प्रतिदिन का झगडा क्या है? धर्मों में संसार के कारण संसार के बाहर बताये गये हैं। एक

देवता सूर्य में है, एक चन्द्रमा में। प्रत्येक परिवर्तन किसी बाहरी शक्ति के कारण होती है। कारण कार्य में ही नहीं ढूँढ़ा जाता। विज्ञान का कहना है कि प्रत्येक वस्तु का कारण उसी में रहता है। जैसे-जैसे विज्ञान ने बढ़ती की है, उसने संसार क रहस्यों की कुञ्जी भूत-प्रेतों के हाथ से छीन ली है और इसलिये अद्वैतवाद अत्यन्त वैज्ञानिक धर्म है। यह सृष्टि किसी बाहरी शक्ति, किसी बाहरी ईश्वर की बनाई हुई नहीं है। यह स्वय जन्म लेनेवाली, स्थित रहनेवाली तथा स्वय नाश को प्राप्त होनेवाली है। यह एक अनन्त जीवन है, ब्रह्म है। "तत्त्वमसि।" "हे श्वेतकेतु, वह तू ही है।" इस प्रकार तुम देखत हो कि अद्वैतवाद ही एक वैज्ञानिक धर्म हो सकता है। अर्द्ध-शिक्षित भारतवर्ष में प्रति-दिन मैं जो विज्ञान, न्याय और तर्क आदि के विषय में लम्बी चौड़ी बातें सुनाता हूँ, उनके होते हुए भी मैं आशा करता हूँ कि तुम सब अद्वैतवादी होने का साहस कर सकोगे और बुद्ध के शब्दों में, "ससार के हित के लिये, ससार के सुख के लिये" उसका प्रचार करोगे। यदि ऐसा करने का साहस तुम में नहीं है, तो मैं तुम्हें कायर कहकर पुकारूँगा। यदि तुम में कायरता है, भय है, तो दूसरों को भी उतनी ही स्वतंत्रता दो। किसी ग़रीब उपासक की मूर्ति जाकर न तोड़ो। उसे शैतान न कहो। जिसका तुम्हारे विचारों से सामञ्जस्य नहीं, उसे जाकर उपदेश न देने लगो। पहिले यह जान लो कि तुम स्वयं कायर हो। यदि तुम्हें समाज से, अपने अन्ध विश्वासों से

भय है, तो सोचो कि अन्य अज्ञानियों को उनसे कितना अधिक भय होगा। अद्वैतवादी कहता है कि दूसरों पर भी दया दिखाओ। क्या ही अच्छा होता कि कल ही सारा संसार अद्वैतवादी हो जाता, अद्वैतवाद को सिद्धान्तरूप से ही न मानता वरन् उसे कार्य-रूप में भी लाता, पर यदि वैसा नहीं हो सकता, तो सभी धर्मों से हाथ मिलाकर, धीरे-धीरे जैसे वे जा सकें, उन्हें सत्य की ओर ले चलो। याद रक्खो, भारतवर्ष में प्रत्येक धार्मिक प्रगति उन्नति की ही ओर हुई है, बुरे से अच्छे की ओर नहीं, वरन् अच्छे से और भी अच्छे की ओर।

अद्वैतवाद की व्यावहारिकता के विषय में दो शब्द और कहने हैं। हमारे बच्चे आजकल न जाने किससे सीखकर बड़ी जल्दी-जल्दी कहा करते हैं कि अद्वैतवाद लोगों को पापी बना देगा, क्योंकि यदि हम सब एक हैं, और ईश्वर है तो हमें कोई धर्माधर्म का विचार करने की आवश्यकता नहीं। पहिली बात, तो यह है कि यह तर्क पशुओं का है, जो कि बिना कोड़े के मान नहीं सकते। यदि तुम ऐसे ही पशु हो, तो कोड़े से ही माननेवाले मनुष्य बनने से तुम्हारे लिए मर जाना ही अच्छा है। यदि कोडा खींच लिया जावे, तो तुम सब राक्षस हो जाओगे! यदि ऐसा ही है, तो तुम सब लोगों को मार डालना चाहिये, अन्य उपाय नहीं, क्योंकि बिना कोड़े और डंडे के तुम लोग रहोगे नहीं और इसलिये तुम लोगों को कभी मोक्ष लाभ न होगा। दूसरी बात यह है कि अद्वैतवाद

ही धर्म के रहस्य को बताता है। प्रत्येक धर्म कहता है कि धर्म का सार यही है कि दूसरों की भलाइ करो। और क्यों ? स्वार्थ को छोड दो। क्यों ? किसी देवता ने ऐसा कहा है। कहने दो, मैं उसे नहीं मानता। हमारी धर्म-पुस्तक मे लिखा है, लिखा रहने दो। मैं उसे भी नहीं मानता। और ससार का धर्म क्या है, सब लोग अपना-अपना स्वार्थ-साधन करो, गरीब को अपनी मौत आप मरने दो। कम से कम ससार के अधिकाश जनों का यही धर्म है। मैं क्या धर्म करूँ ? इसका कारण तुम तब तक नहीं बता सकते, जब तक कि तुम्हें सत्य-ज्ञान न होगा।

'वह जो कि अपने को प्रत्येक प्राणी में और प्रत्येक प्राणी को अपने मे देखता है और इस प्रकार सब प्राणियों में एक ही इश्वर को स्थित जानता है, वही ज्ञानी आत्मा की आत्मा से हत्या नहीं कर सकता।" अद्वैतवाद तुम्हें बताता है कि दूसरे की हानि कर तुम अपनी ही हानि करते हो, क्योंकि वह तुमसे भिन्न नहीं है। तुम जानो, चाहे न जानो, पर सभी हाथों से तुम काम करते हो, सभी पैरों से तुम चलते हो। राज-मन्दिर में विलास करनेवाले सम्राट् तुम्हीं हो और सड़क पर पड़े हुए भूख से त्राहि-त्राहि करने वाले भिखारी भी तुम्हीं हो। तुम ज्ञानी में हो और अज्ञानी मे भी हो, तुम सबल में भी हो और निर्बल मे भी हो। ऐसा जानकर हृदय में सहानुभूति को जन्म दो। इसीलिये मुझे दूसरों को दुख न पहुँचाना चाहिये। और इसीलिये ही मुझे इसकी चिन्ता नहीं कि मुझे खाने को मिलता है कि नहीं,

क्योंकि लाखो मुख तो खाते होंगे और वे सब मेरे ही तो हैं। इसलिये मेरा चाहे जो हो, मुझे चिन्ता नहीं, क्योंकि यह सारा ससार मेरा है। उसके सारे आनन्द का उपभोग मैं कर रहा हूँ। मुझे, इस ब्रह्माण्ड मे कौन मार सकता है? यही अद्वैतवाद का व्यावहारिक धर्म है। दूसरे धर्म भी यही बात सिखाते हैं, पर उसका कारण नहीं बता सकत। अच्छा इतना तो कारणों के लिये हुआ।

इस सबसे लाभ क्या हुआ? पहिले इसको सुनना चाहिये। "श्रोतव्य मन्तव्या निदिध्यासितव्य।" ससार के ऊपर जो तुमने माया का आवरण डाल रक्खा है, उसे दूर कर दो। मनुष्य-जाति मे निर्बल शब्दों और विचारों का प्रचार न करो। यह जान रक्खो कि सभी पापों और बुराइयो की जड निर्बलता ही है। निर्बलता के ही कारण मनुष्य बुरे और जघन्य काम करता है, निर्बलता के ही कारण वह वे कार्य करता है, जो उसे करने न चाहियें, निर्बलता के ही कारण वह अपनी वास्तविकता को भूल और का और बन जाता है। मनुष्यों को जानना चाहिए कि वे क्या हैं, जो कुछ वे हैं, उसका उन्हें अहर्निशि ध्यान करना चाहिए। सोऽहम्। इस शक्ति के विचार को उन्हें माँ क दूध के साथ पी जाना चाहिये। मैं वही हूँ, मैं वही हूँ। मनुष्य इसीका सतत् चिन्तन करें और ऐसा सोचनेवाले हृदय वे कार्य सम्पन्न करेंगे, जिन्हें देखकर विश्व चकित रह जावेगा। कोई-कोई कहते हैं कि अद्वैतवाद कार्य-रूप मे नहीं लाया जा सकता

अर्थात् भौतिक उन्नति क लिये उसका कोई महत्त्व नहीं। किसी हद तक यह ठीक हो सकता है क्योंकि वेदों का कहना है कि—

"ओमित्येकाक्षरम् ब्रह्म ओमित्येकाक्षरम् परम् ।"

"ओम् ही महान् रहस्य है, ओम् ही विशाल सम्पत्ति है, जो ओम् के रहस्य को जानता है, वह मनवाछित फल पाता है।" इसीलिए, पहले इस ओम् के रहस्य को तो जानो कि तुम ही ओम् हो।'तत्त्वमसि' के तत्त्व को तो समझो। ऐसा करने पर ही जो तुम चाहोगे, तुम्हें मिलेगा। यदि तुम धन-वैभव चाहते हो, तो विश्वास करो कि वह तुम्हें मिलेगा। मैं चाहे एक छोटा सा बुल्ला होऊँ और तुम चाहे एक तुङ्ग तरग हो, पर याद रक्खो कि हमारी-तुम्हारी दोनों की ही शक्ति का आगार एक वही अनन्त-सागर परमात्मा है। उसी में से मैं एक छोटा सा बुल्ल और तुम एक तुङ्ग-तरङ्ग दोनों ही जितनी शक्ति चाहें ले सकते हैं। इसलिए अपने आप में विश्वास करना सीखो। अद्वैत-वाद का यही रहस्य है कि पहले अपने आप में विश्वास करना सीखो फिर किसी अन्य वस्तु मे। संसार के इतिहास में तुम देखोगे कि उन जातियों ने ही उन्नति की है, जिन्होंने अपने आप में विश्वास किया है। प्रत्येक जाति के इतिहास में तुम देखोगे कि वे ही पुरुष महान् हुए हैं, जिन्होंने अपने आप में विश्वास किया है। यहीं भारतवर्ष म एक साधारण स्थिति का अँग्रेज़ क्लर्क आया था, जिसने धनाभाव से दो बार अपने सिर में गोली मारकर आत्म-हत्या करने की चेष्टा की थी, पर जब दोनों ही बार वह अस-

फल रहा, तब उसे विश्वास हुआ कि मैं संसार में महान् कार्य सम्पन्न करने के लिए ही उत्पन्न हुआ हूँ। यही व्यक्ति आगे चल-कर भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डालनेवाला प्रख्यात लार्ड क्लाइव हुआ। यदि उसने पादरियों का विश्वास कर यही कहा होता—"हे ईश्वर, मैं बहुत कमज़ोर हूँ, मैं बडा पापी हूँ।" तो वह कहाँ होता ? एक पागलखाने में। इन निर्बल विचारों को सिखा-सिखाकर तुम्हारे धर्म-गुरुओं ने तुम्हें पागल बना दिया है। मैंने ससार भर में घूम कर देखा है कि इन पाप-शिक्षाओं ने मनुष्य-जाति को नष्ट कर डाला है। हमारे बच्चे ऐसे ही विचारों के साथ बढकर मनुष्य बनते हैं, आश्चर्य ही क्या कि वे आधे सिडी होते हैं।

अद्वैतवाद का यह व्यावहारिक रूप है। अपने आप में विश्वास करो और यदि तुम धन-सम्पत्ति चाहते हो, तो उसे पाने के लिए प्रयत्न करो, वह तुम्हे अवश्य मिलेगी। यदि तुम प्रतिभा-शाली और मनस्वी होना चाहते हो, तो उसके लिए भी चेष्टा करो, तुम वैसे ही होगे। यदि तुम स्वतंत्रता चाहते हो, तो प्रयत्न करो, तुम देवता बनोगे। 'निर्वाण' चिदानन्द का आश्रय लो।" भूल यहीं पर होती थी। अद्वैतवाद का आत्मिक क्षेत्र में ही प्रयोग किया गया था, पर अब समय आ गया है, जबकि तुम्हें उसे भौतिक क्षेत्र में भी लाना है। अब वह रहस्य न रहेगा, ऋषियों के साथ वनों में, कन्दराओं में व हिमालय पर्वत में वह छिपा न रहेगा। ससार का प्रत्येक प्राणी उसे कार्यरूप में लावेगा। राजा के मन्दिर में, सन्यासी की गुफ़ा में, ग़रीब की झोपडी में—

प्रत्येक जगह उसका प्रयोग किया जा सकता है। एक भिक्षुक भी उसका प्रयोग कर सकता है, क्योंकि हमारी गीता में लिखा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

इसलिए चाहे तुम ब्राह्मण हो, चाहे शूद्र हो, चाहे अन्य कुछ, तुम तनिक भी भय न करो, क्योंकि श्रीकृष्णजी ने कहा है कि यह धर्म इतना विशाल है कि थोड़ा सा करने पर भी बहुत सा फल देता है। इसलिए हे आर्य सन्तानों, आलस्य को त्याग दो। जागो और उठ खड़े हो और जब तक लक्ष्य-सिद्धि न हो आगे बढ़ते ही चलो। अद्वैतवाद को कार्य-रूप में लाने का यही समय है। आओ, इसे आकाश से पृथ्वी पर उतारें, यही हमारा वर्तमान कर्तव्य है। देखो, तुम्हारे जन्म दाता महर्षि तुमसे पुकार कर कह रहे हैं कि "बच्चो अब रुक जाओ। अपनी शिक्षा और उपदेशों को नीचे उतरने दो और समाज की नसों मे भर जाने दो। उन्हें प्रत्येक प्राणी के जीवन का भाग तथा समाज का सार्वजनिक धन बनने दो। मनुष्यों की धमनियों में रक्त के साथ उन्हें बहने दो।" सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा, पर पश्चिम के लोग वेदान्त को तुमसे अधिक कार्य-रूप में लाये हैं। न्यूयार्क के समुद्र-तट पर खड़ा होकर मैं देखता था कि किस प्रकार विविध देशों से पद-दलित और आशाहीन परदेशी वहाँ पर आते हैं। उनके पहनने के कपड़े फटे हुए हैं, एक छोटी सी मैली गठरी ही उनकी सारी सम्पत्ति है, किसी मनुष्य की आँखों से आँखें मिला कर वे देख नहीं सकते। यदि वे किसी पुलिसवाले

को देखते हैं, तो भय से हटकर रास्ते के दूसरी ओर हो जाते हैं और छ महीने में ही वे अच्छी पोशाक पहिने, सबकी दृष्टि से दृष्टि मिलाये, अकडते हुए चलते दिखाई देते। और इस अद्भुत काया-पलट का कारण क्या था? मान लो यह पुरुष आर्मीनिया या अन्यत्र कहीं से आया है, जहाँ पर उसकी तनिक भी चिन्ता न कर सब उसे ठोकरें मारते थे, जहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति उससे यही कहता कि तू गुलाम पैदा हुआ है और आजीवन गुलाम ही रहेगा, जहाँ वह यदि तनिक भी हिलने की चेष्टा करता, तो उस पर सहस्रों पदाघात होते। वहाँ प्रत्येक वस्तु उससे यही कहती—"गुलाम, तू गुलाम है, वहीं रह। आशाहीन तू पैदा हुआ था, आशाहीन ही रहेगा।" वायु-मण्डल भी गूँज-गूँज कर प्रतिध्वनि करता—"तेरे लिए कोई आशा नहीं, तू गुलाम है।" वहाँ पर सबल ने उसे पीस डाला था और जब वह न्यूयार्क की विस्तृत सडकों में आया, तो उसने अच्छी पोशाक पहिन हुए एक सभ्य पुरुष को अपने से हाथ मिलाते पाया। अच्छे और बुरे कपडों ने कोई अन्तर न डाला। आगे चलकर उसे एक भोजनालय मिला जहाँ पर एक मेज़ पर बैठे हुए कई सभ्य पुरुष भोजन कर रहे थे, उसी मेज पर बैठकर भोजन करने के लिए उससे भी कहा गया। वह चारों ओर आया गया और उसे एक नवीन जीवन का अनुभव हुआ। यहाँ कम-से कम वह भी मनुष्यों में एक मनुष्य था। शायद वह वाशिंगटन भी गया और वहाँ संयुक्त-राज्य के सभापति से हाथ

मिलाया। वहाँ पर उसने फटे कपड़े पहिने, सुदूरस्थ गाँवों से किसानों को भी आते हुए देखा, जो कि सभापति से हाथ मिलाते थे। अब माया का पर्दा हट गया। गुलामी और निर्बलता के कारण वह भूल गया था कि मैं ब्रह्म हूँ। एक बार फिर जागकर उसने देखा कि संसार के अन्य मनुष्यों की भाँति वह भी एक मनुष्य है। हमारे ही इस देश में, वेदान्त के इस पुण्य जन्म-स्थान में ही, शताब्दियों से हमारा जन-समुदाय इस अधोगति को पहुँचा हुआ है। उनके साथ बैठना भी पाप है! 'आशा-हीन तुम पैदा हुए थे, आशाहीन ही रहो,—परिणाम यह होता है कि वे दिन-पर-दिन गिरते ही जाते हैं, गिरते ही जाते हैं, यहाँ तक कि मनुष्य की जो पतित-से-पतित अवस्था हो सकती है, वे आज उस तक पहुँच गए हैं। संसार में ऐसा कौनसा देश है, जहाँ मनुष्य को पशुओं के साथ सोना पड़ता है? और इसके लिए अज्ञानियों की भाँति दूसरों को दोष न दो। जहाँ कार्य है, वहीं कारण भी है। दोषी हमीं हैं। दृढ़तापूर्वक खड़े होकर दोषों को अपने ही सिर पर लो। दूसरों के ऊपर कीचड़ न फेंकते फिरो। उन तमाम दोषों के, जिनके कारण तुम दुख पाते हो, एक मात्र उत्तरदायी तुम्हीं हो।

लाहौर के नवयुवको, इस बात को भली-भाँति समझ लो। सारे पैतृक और जातीय पापों का भार तुम्हारे ही कन्धों पर है। तुम चाहे जितनी सभा-सोसाइटियाँ और कान्फ्रेंसें कर डालो, तुम्हारा तब तक भला न होगा जब तक कि तुम्हारे पास वह हृदय, वह प्रेम, वह सहानुभूति न होगी, जो कि दूसरे के दुख-

सुख को अपना समझती है। जब तक भारतवर्ष में एक बार फिर बुद्ध का हृदय नहीं आता, जब तक योगेश्वर कृष्ण के शब्द कार्य-रूप में नहीं लाये जाते, तब तक हमारे लिये कोई आशा नहीं। तुम लोग यूरोप-वासियों की नक़ल करते जाओ, पर सुनो, मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ, जो कि मेरी आँखों देखी हुई एक सच्ची घटना है। यहाँ से कुछ यूरेशियन कुछ बर्मा-निवासियों को लण्डन ले गये और वहाँ उन्हें जनता को दिखाकर पैसे वसूल किये। इसके बाद उन्होंने उन्हें यूरोप में ले जाकर मरने-जीने के के लिये छोड़ दिया। वे बिचारे कोई यूरोप की भाषा भी न जानते थे, पर आस्ट्रिया के अंग्रेज़ राज-दूत ने उन्हें लण्डन भिजवा दिया। लण्डन में भी वे किसी को न जानने के कारण असहाय थे। वहाँ पर एक अंग्रेज़ महिला को उनका पता लगा। वह उन्हें अपने घर ले गई तथा पहनने के लिये अपने कपड़े और सोने के लिये अपने बिस्तर दिये। फिर उसने उनकी दशा की ख़बर अख़बारों में भेज दी। दूसरे ही दिन सारी जाति मानों सोते से जाग पड़ी। बहुत सा पैसा इकट्ठा हो गया और वे लोग बर्मा भेज दिये गये। इस प्रकार की सहानुभूति पर ही उनकी सामाजिक व राजनैतिक संस्थाएँ और व्यवस्थाएँ स्थित हैं। उनमें कम से कम अपने देशवासियों के लिये अटल प्रेम है। उन्हें चाहे दुनिया से प्रेम न हो, सब लोग चाहे उनके दुश्मन ही हों, पर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि स्वजाति के लिये उनमें प्रगाढ़ प्रेम तथा द्वार पर आये हुए परदेशी के लिये

दया और न्याय है। यह मेरी कृतघ्नता होगी, यदि मैं तुम्हें न बताऊँगा कि किस प्रकार पश्चिम के प्रत्येक देश में मेरा बड़े ही आदर व सम्मान के साथ स्वागत किया गया था। यहाँ वह हृदय कहाँ है, जिस पर तुम राष्ट्र का प्रासाद खड़ा करोगे? हम लोग एक छोटी सी कम्पनी बनाकर कार्य शुरू नहीं करते कि झट एक दूसरे को धोखा देने लग जाते हैं और शीघ्र सारा मामला ठप हो जाता है। तुम कहते हो कि हम उनका अनुकरण करेंगे, उन्हीं की भाँति अपना भी राष्ट्र बनायेंगे, पर उनकी भी यहाँ नीवें कहाँ हैं? यहाँ पर तो बालू ही बालू है और इसलिए जो इमारत खड़ी भी करते हो, वह तुरन्त ही भहराकर बैठ जाती है। इसलिए हे लाहौर के नवयुवको, एक बार फिर उसी अद्वैत के अद्वितीय झण्डे को उठाओ। जब तक तुम सब में एक ही परमात्मा को समान रूप से प्रकट होते न देखोगे, तब तक तुम्हारे हृदय में सच्चा प्रेम उत्पन्न न होगा। उस प्रेम के झण्डे को फहरा दो।" जागो, और उठ खड़े हो और जब तक लक्ष्य सिद्धि न हो, आगे बढ़ते ही चलो।" जागो जागो, एक बार फिर जागो, क्योंकि बिना त्याग व कुछ नहीं हो सकता। यदि तुम दूसरों की सहायता करना चाहते हो, तो अपनी चिन्ता करना छोड़ दो। जैसा कि ईसाई कहते हैं, तुम एक साथ ही ईश्वर और शैतान दोनों की उपासना नहीं कर सकते। तुम्हारे जन्मदाता तपस्वी पुर्खों ने बड़े-बड़े काम करने के लिए संसार त्याग दिया था। आज भी ऐसे पुरुष दुनियाँ में हैं, जिन्होंने

मुक्ति पाने के लिए ससार को छोड दिया है, पर तुम सब मोह त्याग दो, अपनी मुक्ति की भी चिन्ता छोड दो और जाओ, दूसरों की सहायता करो। तुम लोग सदा लम्बी-चौडी हाँका करते हो, यह देखो वेदान्त का कार्य-क्रम। अपने इस छोटे से जीवन का उत्सर्ग कर दो। हमारे तुम्हारे से सहस्रों के भी भूख से प्राण गँवा देने से क्या होगा, यदि हमारी जाति जीवित रहेगी! हमारी जाति डूबी जा रही है। उन असख्य भारतवासियों की आहें, जिन्हें तुमने निर्मल जल वाली नदी के होते हुये भी पीने के लिये पोखरे का गन्दा जल दिया है, जिन्हें भोजन के ढेर लगे रहने पर भी तुमने भूखों मारा है, जिन्हें तुमने अद्वैत का उपदेश दिया है, पर जिनसे तुमने हृदय से घृणा की है, जिनके लिए तुमने लोकाचार के अनोखे सिद्धान्तों का आविष्कार किया है, जिनसे तुमने केवल सिद्धान्तरूप से कहा है कि हम सब म एक ही ईश्वर है, पर जिस सिद्धान्त को तुमने कभी कार्य-रूप में लाने की चेष्टा नहीं की—भारतवर्ष के ऐसे असख्य पतित निवासियों का अभिशाप आज तुम्हारे सिर पर है। तुमने सदा यही कहा है—"मित्रो, यह सब विचार अपने हृदय में ही रक्खो, उन्हें कार्य-रूप में कदापि न लाओ।" अरे इस काले धब्बे को मिटा दो। "जागो, और उठ खड़े हो।" यदि यह छोटा सा जीवन जाता है, तो जाने दो। संसार के प्रत्येक प्राणी को मरना है, पापी को भी, पुण्यात्मा को भी, अमीर को भी, गरीब को भी। जागो, उठो, अपने हृदय में सत्य प्रेम को जन्म दो। हम लोगों में पैदय

धोखेबाज़ी आ गई है। हमें वह चरित्र-बल और दृढ़ता चाहिए, जो मनुष्य को मृत्यु के समान जकड कर पकड ले।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्,
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथ प्रविचलन्ति पदे न धीराः।

"नीतिज्ञ चाहे निन्दा करें, चाहे स्तुति करें, लक्ष्मी आवे, चाहे जाय, मौत आज आती हो, तो आज आजावे और सौ बरस बाद आती हो, तो तब आवे, धैर्यशाली पुरुष किसी की भी चिन्ता न कर न्याय-पथ से एक पग भी विचलित नहीं होते।" जागो, उठ खड़े हो। समय बीता जा रहा है। इस प्रकार हमारी सारी शक्ति बातें करने म ही ख़र्च हो जावेगी। जब मुसलमान भारतवर्ष मे पहिले-पहल आए थे तब यहाँ साठ करोड हिन्दू थे, आज वहीं वे बीस करोड से भी कम हैं। दिन पर दिन वे घटते ही जावेंगे, यहाँ तक कि उनका नाम-निशान भी न रहेगा। उनका नाम-निशान रहे अथवा न रहे, पर उनके साथ वेदान्त के उने अनुपम विचारों का भी लोप हो जायगा, जिनके कि हिन्दू अपने सारे दोषों और अन्धविश्वासों के होते हुए भी एक मात्र प्रतिनिधि हैं। उनके साथ इस आत्म ज्ञान के अमूल्य मणि अद्वैत का भी लोप हो जायगा। इसलिए मैं कहता हूँ, जागो और उठ खड़े हो। ससार के आत्म-ज्ञान की रक्षा के लिए अपने हाथ फैला दो। और सबसे पहले अपनी

जातीयता की रक्षा करो। हमें आत्म-ज्ञान की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितना अद्वैत को कार्य-रूप में लाने की। पहले रोटी, पीछे धर्म। जब तुम्हारे देशवासी भूखों मर रहे थे, तब तुम उन्हें धर्म खिला रहे थे। भूख की अग्नि को धर्म कभी शान्त नहीं कर सकता। हमें पतित करनेवाली दो वस्तुएँ हैं—एक हमारी निर्बलता, दूसरी हमारा ईर्ष्या व घृणा, हमारे सूखे हृदय। तुम लाख सिद्धान्त मानों, लाख धर्म चलाओ, पर जब तक तुम्हारे हृदय में सच्चा प्रेम, सच्ची सहानुभूति नहीं है, तब तक इन सबसे कुछ न होगा। अपने निर्धन देश भाइयों से उसी भाँति प्रेम करना सीखो, जिस प्रकार तुम्हारे वेद तुम्हें सिखाते हैं। इस बात का हृदय में अनुभव करो कि गरीब और अमीर, पापी और पुण्यात्मा, सब एक ही अनन्त ब्रह्म के विभिन्न भाग हैं।

इसी भाँति, सज्जनो, मैं आपके सम्मुख संक्षेप में अद्वैतवाद के प्रमुख सिद्धान्तों को रख सका हूँ और मैंने आपको यह भी बताया है कि किस प्रकार आज उन्हें इस देश में ही नहीं वरन सारे संसार में कार्य-रूप में लाने का समय आगया है। आधुनिक विज्ञान के वज्र-प्रहार आज संसार के सभी द्वैत-वादी धर्मों की मिट्टी की बनी हुई नींवों को चूर्ण कर रहे हैं। भारतवर्ष में ही नहीं, यहाँ से भी अधिक यूरोप और अमेरिका में द्वैतवादी, विज्ञान से अपनी रक्षा करने के लिए, अपनी धर्म-पुस्तकों के पाठों को जहाँ तक खींचा जाता है, इधर-उधर खींचते हैं, पर धर्म-पुस्तकों के पाठ कुछ इण्डिया-रबर तो हैं नहीं, जो खिंचते ही

चले जायेंगे। हमारे अद्वैतवाद के विचारों को वहाँ ले जाना होगा और अभी भी अद्वैतवाद का विचार वहाँ पहुँच चुका है। उसे खूब बढ़ाना होगा, जिससे वह उनकी सभ्यता की रक्षा कर सके। पश्चिम में पुरानी व्यवस्थाओं का अन्त हो रहा है और सोने और शैतान की उपासना का जन्म हो रहा है। इसके इस सोने और व्यापारिक होड़ा होड़ी के धर्म से, उनके प्राचीन अन्ध-विश्वासी धर्म कहीं अच्छे थे। कितनी भी बलशाली जाति क्यों न हो, ऐसी नीवों पर वह सदा स्थिर नहीं रह सकती। "संसार का इतिहास हमें बताता है कि जिन जातियों की ऐसी नीवें थीं, वे कभी की नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी हैं। सबसे पहले हमें ऐसी लहर को भारत में आने से रोकना चाहिये। इसलिये अद्वैतवाद का खूब प्रचार करो, जिससे धर्म विज्ञान के इस धावे को सह सके। यही नहीं, तुम्हें दूसरों की भी सहायता करनी होगी। तुम्हारे विचार यूरोप और अमेरिका की रक्षा करेंगे, पर एक बार मैं तुम्हारे सम्मुख कार्य-क्रम की तुम्हें फिर याद दिलाता हूँ कि सबसे पहिले तुम्हें अपने देश के असंख्य पतित भाइयों का उद्धार करना होगा। श्रीकृष्ण के शब्दों का स्मरण करते हुए उन्हें हाथ पकड़कर उठाओ।

"इस जीवन में ही उन्होंने स्वर्ग को पा लिया है, जिनके हृदय में ब्रह्म की एकता का दृढ़ विश्वास है, क्योंकि ईश्वर पवित्र है और सब के लिए समान है। इसलिए ऐसों ही को कहा जाता है कि वे परमात्मा में निवास करते हैं।"